वैष्णव-पाञ्चरात्र आगम

कतिपय पक्ष

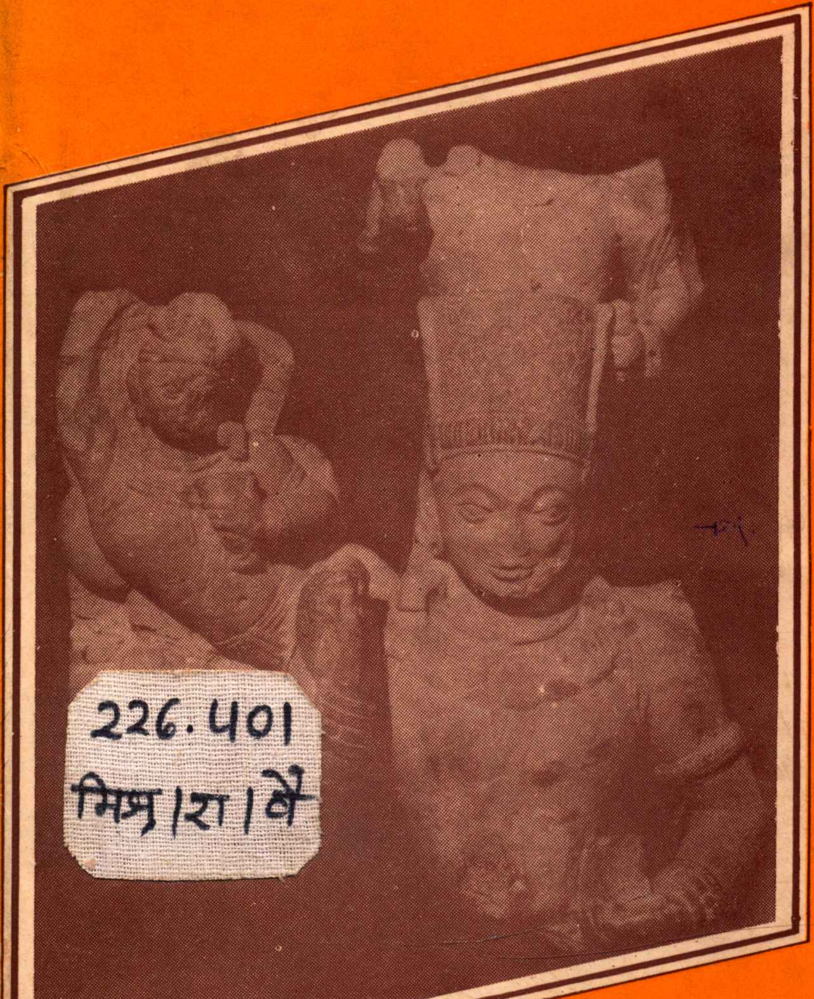

226.401
मिश्र/रा/वै

डॉ. रामप्यारे मिश्र

VAIṢṆAVA PĀÑCARĀTRA ĀGAMA

KATIPAYA PAKṢA

Dr. Ram Pyare Mishra

Pratibha Prakashan
DELHĪ

Published by :
Dr. Radhey Shyam Shukla
for PRATIBHA PRAKASHAN
Oriental Publishers & Book-sellers
29/5 Shakti Nagar,
Delhi-110007

© The Author

First Edition : 1994

ISBN : 81-85268-27-4

Price : Rs. 225.00

Printed at :

A. R. Printers, D-102, New Seelampur, Delhi-110053

वैष्णव-पाञ्चरात्र आगम

कतिपय पक्ष

डॉ० रामप्यारे मिश्र

प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली

प्रस्तुत ग्रन्थ भारतीय इतिहास अनुसन्धान परिषद्, नई दिल्ली द्वारा प्रदत्त आर्थिक अनुदान से प्रकाशित है। ग्रन्थ में उल्लिखित विचारों एवं तथ्यों के लिए पूर्ण रूप से लेखक ही उत्तरदायी है, परिषद् नहीं।

प्रथम संस्करण 1994

© लेखक

ISBN : 81-85268-27-4

मूल्य : 225.00

प्रकाशक :

प्रतिभा प्रकाशन

(प्राच्य विद्या के प्रकाशक एवं विक्रेता)

29/5 शक्तिनगर

दिल्ली-110007

मुद्रक : ए० आर० प्रिंटर्स, डी-102, न्यू सीलमपुर, दिल्ली-53

॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥

"नमस्ते पञ्चकालज्ञ पञ्चकालपरायण ।
पञ्चकालैकमनसां त्वमेव गतिरव्यया ॥"[1]

"द्वादशाक्षरतत्वज्ञश्चतुर्व्यूह विभागवित् ।
अच्छिद्रपञ्चकालज्ञः स तु भागवतः स्मृतः ॥"[2]

"चतुर्व्यूहविभागज्ञः पञ्चकालपरायणः ।
द्वादशाक्षरनिष्ठो यः स वै भागवतोत्तमः ॥"[3]

"आगमाख्यं हि सिद्धान्तं सन्मोक्षैकफलप्रदम् ।
मन्त्रसंज्ञं हि सिद्धान्तं सिद्धिमोक्षप्रदं नृणाम् ॥
तन्त्रसंज्ञं तु सिद्धान्तं चतुर्वर्गफलप्रदम् ।
तन्त्रान्तरं हि सिद्धान्तं वाञ्छितार्थफलप्रदम् ॥"[4]

"योग तन्त्रेषु सर्वेषु विष्णुतन्त्रमनुत्तम् ।
विष्णु तन्त्रेषु सर्वेषु पञ्चरात्रं विशिष्यते ॥"[5]

---

1. श्री पाञ्चरात्र रक्षा, द्वितीय अधिकार, पृ० 51
2. श्री पाञ्चरात्र रक्षा, द्वितीय अधिकार, पृ० 52
3. श्री पाञ्चरात्र रक्षा, द्वितीय अधिकार, पृ० 52
4. श्री पाञ्चरात्र रक्षा, प्रथम अधिकार, पृ० 8
5. सनत्कुमार संहिता, ब्रह्मरात्र, 10-53

पितरो वंदे !
पूज्य पिताश्री बिन्दू प्रसाद मिश्र
एवम्
पूजनीया ममतामयी माँ
को
सादर

आलोक

मुझे यह प्रसन्नता है कि डा० रामप्यारे मिश्र का शोध प्रबन्ध 'पाञ्चरात्रागम की स्रोत-सामग्री' 'वैष्णव पाञ्चरात्रागम' (कतिपय पक्ष) शीर्षक से प्रकाशित हो रहा है। इसमें वैष्णवागम की प्राचीनता, इतिहास, दर्शन और उपासना-पद्धति पर शोध-क्षेम युक्त महत्त्वपूर्ण गवेषणाएं हैं। विद्वान् शोध-कर्ता ने न केवल प्राचीन वैष्णव आगम-साहित्य 'रत्नत्रय'—जयाख्य, सात्वत एवं पौष्कर आदि संहिताओं का मनोयोगपूर्वक अध्ययन व विश्लेषण किया है अपितु वैष्णवागम पर जो आधुनिक इतिहासकारों की विवेचना है, उनकी भी समीक्षा की है। इस प्रकार से यह ग्रंथ एक महत्त्वपूर्ण गवेषणात्मक कृति के रूप में प्रकाशित हो रहा है। इसमें विभिन्न पक्षों से, विभिन्न शोध-पद्धतियों से विचार किया गया है और इस प्रसंग में कतिपय नवीन मौलिक उपस्थापनाएं भी प्रस्तुत की गई हैं।

यह सच है कि वैष्णवागमों का यह संपन्न रूप गुप्त एवं गुप्तोत्तर काल से प्राप्त होता है किन्तु प्राचीन साहित्य के आलोडन से वैष्णव आगम की परम्परा वैदिक काल तक जाती है। शतपथ ब्राह्मण के साक्ष्य से पाञ्चरात्र क्रतु के अस्तित्व का बोध होने लगता है किन्तु लेखक का यह प्रयत्न सराहनीय है कि वह शब्द के भाषावैज्ञानिक विश्लेषण से, इस परम्परा की इससे पूर्व भी बीजरूप से स्थिति स्वीकार की है। इस शोध-ग्रन्थ में यद्यपि अनेक मौलिक उपपत्तियां हैं किन्तु मैं केवल इस पाञ्चरात्र शब्द के निर्वचन के माध्यम से जो प्राचीन तंतु का संधान किया गया है, उस पर ही अपना ध्यान केन्द्रित कर रहा हूँ।

वैष्णव संहिताओं में 'पाञ्चरात्र' का अर्थ तो पञ्चविध ज्ञान या पञ्चविध उपासना की अभिव्यक्ति करना है। यथा—

रात्रं च ज्ञान-वचनं ज्ञानं पञ्चविधं स्मृतम्।
तेनेदं भगवच्छास्त्रं पञ्चरात्रमितिस्मृतम्॥

इसी प्रकार से महाभारत (शांति पर्व, 349.64) में उल्लिखित है—

सांख्यं योगं पाञ्चरात्रं वेदाः पाशुपतं तथा ।
ज्ञानान्येतानि राजर्षे विद्धि नाना मतानि वै ॥

यही बात वैष्णवागमों में भी कही गई है। यथा—

रात्रं च ज्ञानवचनं ज्ञानं पञ्चविधं स्मृतम् ।
तेनेदं भगवच्छास्त्रं पञ्चरात्रमितिस्मृतम् ॥

(ज्ञानामृत सार संहिता, I. 1 44)

अथवा

सांख्यं योगश्च वैराग्यं तपो भक्तिश्च केशवे ।
पञ्चार्थ दानतः त्राणात् विद्या सा पाञ्चरात्रिकी ॥

(शाण्डिल्य संहिता, I. 4.78)

यहाँ उपासना सम्बन्धी ज्ञान से ही तात्पर्य है । किन्तु ज्ञानार्थक रूप से 'रात्र' शब्द की व्युत्पत्ति निश्चित रूप से नहीं दी जा सकती । इस सन्दर्भ में अनेक मत प्रतिपादित किए गए। जैसे शाण्डिल्य संहिता में कहा गया—"प्रोच्यन्ते रात्रयः कान्ते आत्मानंद समर्पणात् ।" यहाँ रात्रि शब्द रम् (क्रीड़ायाम्) धातु से कमनीयता के अर्थ में निर्देशित है । ऐसे ही रजनी के अर्थ में रात्रि शब्द का निर्वचन कर 'रम्' ('आवेष्टने' या 'लोपने' भाव में) व्युत्पन्न किया गया और चूँकि रात्रि यानी निशा में यह उपासना होती थी अतः रात्रि को ज्ञान-उपासना से सम्बद्ध किया गया । कहीं-कहीं 'रा' (दाने) धातु से इसको व्युत्पन्न किया गया जैसे विश्वामित्र संहिता में कहा गया –

रा इत्यमपि प्रोक्तो, धातुरादाय वाचकः ।
विषयेन्द्रियभूतानां प्रदाताराश्च पञ्च राः ॥

ऐसे ही 'रात्रि' शब्द की व्युत्पत्ति दानार्थक 'रा' के साथ त्राणवाची 'त्र' धातु के सम्मिलित रूप से की गई है ।

ध्यातव्य है कि अनेक संहिताओं में 'रात्रायते' या 'रात्रीयन्ते' पद प्रयुक्त हैं—प्राचीनतर संहिता पौष्कर में भी । संभवतः यह पद उक्त अर्थ में ही आया है ।

स्पष्ट है कि 'रात्र' शब्द का प्रयोग परम्परा से उपासनात्मक ज्ञान के रूप में लिया जाता था किन्तु अवांतर काल में यह प्रयोग अत्यन्त सीमित रह गया और इसकी व्युत्पत्ति का ज्ञान भी विलुप्त हो गया ।

शुभाशंसा

डॉ० रामप्यारे मिश्र की पुस्तक 'वैष्णव पाञ्चरात्र आगम' पाञ्चरात्र वाङ्मय का ही नहीं पाञ्चरात्र-परम्परा का भी अत्यन्त व्यवस्थित विवरणात्मक अभिलेख है। पाञ्चरात्रों की ऐतिहासिक परम्परा बड़ी प्राचीन है। पाणिनि से ही इनके सन्दर्भ प्राप्त होने लगते हैं। घोसुण्डी अभिलेख में सबसे पहले पाञ्चरात्रों में वर्णित चतुर्व्यूह-उपासना का उल्लेख है। पुनः मथुरा से प्राप्त अभिलेख में अधिक विस्तृत रूप में उल्लेख मिलता है। पाञ्चरात्र प्रक्रिया-प्रधान शास्त्र है, परन्तु इसमें वर्णित प्रक्रियायें समग्र ज्ञान की प्राप्ति के लिए ही उद्दिष्ट हैं।

इस ग्रन्थ में आगमों के वर्गीकरण और परिचय के साथ-साथ प्रतिपाद्य वस्तु का ब्यौरा दिया गया है। अन्त में पाञ्चरात्र संहिताओं के अनुसार और पुराणों द्वारा समर्थित उत्सवों, पर्वों और व्रतों का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया गया है। परन्तु व्यवस्थित संकलन ही इसकी उपलब्धि नहीं है अपितु इसमें संकलन के साथ-साथ पाञ्चरात्र की दार्शनिक पीठिका पर मौलिक चिन्तन भी है और इसकी ऐतिहासिक विकास यात्रा का सर्वथा नूतन प्रतिपाद्य है।

एक ग्रन्थ में यह सब समेटना आसान नहीं है। भारतीय वाङ्मय के एक महत्त्वपूर्ण परिपार्श्व के बारे में ऐसी समग्र पुस्तक निश्चय ही भारतविदों और भारतजिज्ञासुओं के लिए उपादेय होगी।

7, बहादुरशाह जफर मार्ग
नई दिल्ली-110002

विद्या निवास मिश्र
प्रधान सम्पादक
नवभारत टाइम्स

Foreword

Among the Vaiṣṇava, Śaiva and Śākta Āgamas of the Bhakti School, the Vaiṣṇava Āgama—divided into the two branches of *Pañcarātra* and *Vaikhānasa*—can justly claim to possess the richest and the most varied type of literature. Of these two branches too, the Pāñcarātra tradition has been most prolific and productive and, starting with the Gupta period or a little later, has given rise to well beyond a hundred standard works dealing with the metaphysical (Jñāna), ritual (Caryā) and practical (Kriyā) aspects of this School. These works are real gems of Indian religious tradition. They show very clearly how the Bhakti element, connected especially with Viṣṇu-Vāsudeva, got superimposed in the Indian Society on the previous traditions of Vedic ritual and various currents of philosophy and how it relegated them ultimately to background, after absorbing their essential elements. The Pāñcarātra tradition has all the claims of being a perfect religion in itself which is based on the worship of one single and the highest Personal God (Vāsudeva) having a still higher impersonal form too. The Pāñcarātra, besides, has a deep and profound philosophical structure explaining the relationship between the human being, the Universe and God. It has a cult which has both public and a private aspects and it is characterised by its very humane and affectionate approach towards all living beings.

Unfortunately the quantum of the work done on Pāñcarātra stands in direct contrast to its importance for Indian Society and for the history of the development of Indian thought.

Under these circumstances it is really relieving and heartening to come across such works as that of Dr. Ram Pyare Mishra of Gorakhpur University. I have gone through

this work thoroughly and am deeply impressed by the multitude of the material collected by Dr. R.P. Mishra and the highly enlightening in-depth study of this Vast subject. The scholarship and erudition of the author is imprinted on every page of the work. He has really taken great pains to collect his material not only from different source-works but also, and primarily, from the original sources themselves. It is the best introduction to the Pāñcarātra literature, its philosophy and its ritual that I know of, including the works written in English language, and a pioneer work in Hindi.

I congratulate Dr. R.P. Mishra upon producing this excellent work and since a nice foundation has now been laid, I am sure, it will inspire further studies in the much neglected field of Pāñcarātra tradition.

(Gaya Charan Tripathi)

Princ pal
G.N. Jha Kendriya
Sanskrit Vidyapeetha
Allahabad

प्ररोचना

मेरे लिए यह अतिशय हर्ष व आत्मिक संतोष का विषय है कि मेरे प्रिय शिष्य डॉ० राम प्यारे मिश्र (रिसर्च एसोसिएट) की **'वैष्णव पाञ्चरात्र-आगम'** शीर्षक कृति प्रकाशित हो रही है। लगभग एक दशक पूर्व भारतीय धर्म-दर्शन के इतिहास से सम्बद्ध, इस स्वल्पज्ञात विषय पर, अपनी अनेकविध जिज्ञासाओं के समाधान में मैं दत्तचित्त हुआ फलतः उन्हीं दिनों शोध-कार्य की आकांक्षा से उद्वेलित श्री राम प्यारे मिश्र को मैंने विपुल पाञ्चरात्र-वाङ्मय की स्रोत-सामग्री के सङ्कलन-विवेचन का दायित्व प्रदान किया। कालान्तर में उनके द्वारा प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध की उनके विद्वान् परीक्षकों (प्रो० रामनाथ मिश्र, ग्वालियर और डॉ० गया चरण त्रिपाठी, प्रयाग द्वारा भूरि-भूरि प्रशंसा हुई। मेरे प्रेरणा-स्रोत और परम् पूज्य गुरुवर्य प्रो० विश्वम्भर शरण पाठक (गोरखपुर) ने अध्ययनानुसन्धान के इस गंभीर कार्य में हमें निरंतर सद्प्रेरित किया। सम्प्रति, भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद् (नई दिल्ली) के प्रकाशानुदान से यह कृति प्रकाश में आ रही है अस्तु शोध-कर्त्ता के आग्रह पर मैं 'कृती' व 'कृतित्त्व' पर अपनी प्ररोचनात्मक अभिव्यक्ति को ही प्रासंगिक समझता हूँ।

पञ्चरात्र (अथवा पाञ्चरात्र) की अर्चना में स्फुट् विचार महाभारत में ही मिलने लगते हैं—**पञ्चरात्रस्य कृत्स्नस्य वक्ता नारायणः स्वयम्** (महाभारत, XII. 337.6339)। पाठ-भेद सेनारायण की जगह भगवान् शब्द भी मिलता है—**वक्ता तु भगवान् स्वयम्**। शांति-पर्व के अनुसार नारायण के मुख से उद्गीत पाञ्चरात्र-धर्म नारद ने अधिगत किया और नारद ने इस धर्म को मुनिजनों तक पहुँचाया—**'नारायण मुखोद्गीतं नारदोऽश्रावयन्मुनीन्।'** श्री रामानुजाचार्य ने श्रीभाष्य में उक्त कथन (पाञ्चरात्रस्य कृत्स्नस्य...) को उद्धृत करते हुए पाञ्चरात्र-वक्ता **'नारायण'** का परिचय इस प्रकार दिया है—**वेदवेद्यश्च पर ब्रह्मभूतो नारायणः।...अतो वेदान्तवेद्य परब्रह्म भूतो नारायणः स्वयमेव पञ्चरात्रस्य वक्तेति तत्स्वरूपतदुपासनाभिधायि तत्तंत्रमिति च तस्मिन्नितरतंत्र सामान्यं न केनचिदुद्भावयितुं शक्यम्** (श्रीभाष्य, II. ii. 42)।

इसमेंसन्देहनहीं कि महाभारत का **नारायणीयोपाख्यान** (महा०, 12.334-348) पाञ्चरात्र सिद्धान्त का प्रतिपादक है।

जॉर्ज ग्रियर्सन की यह टिप्पणी ध्यानार्ह है कि मूल संस्कृत में उपनिबद्ध यह उपाख्यान इतना महत्त्वपूर्ण है कि श्री रामानुजाचार्य से लेकर आज तक के भक्तिवादी सभी आचार्य इस सिद्धान्त को दुहराते रहे हैं। यह इस बात का संकेत देता है कि महाभारत पढ़ने वाले इस उपाख्यान में निहित सिद्धान्तों से भली भाँति परिचित थे (द्र०—दि नारायणीय एण्ड दि भागवतस, दि इण्डियन एण्टीक्वेरी, वा० 37, पृ० 261-262)।

श्री रामानुजाचार्य आगम-प्रामाण्यम् के प्रणेता श्रीमद् यामुनाचार्य (918-1038 ई०) के अनुयायी थे। यामुनाचार्य ने पाञ्चरात्र के वासुदेवप्रणीतत्त्व की मीमांसा करते हुए कहा था—**वासुदेव प्रणीतत्त्वं निश्चेतुमिति मन्यसे**। उन्होंने पञ्चरात्र के भगवद् कर्तृत्व के प्रमाण का उपन्यास किया और कहा—**पञ्चरात्रस्य निर्माता केशवो भगवानिति।'''सांख्यस्य कपिलो वक्ता, पञ्चरात्रस्य केशवः।'** लगता है कि उत्तर वैदिक नारायण पुराण-परंपरा में 'केशव' अथवा 'भगवान्' है यों नारायण की जगह केशव नाम दूसरे गायत्री-मंत्र में भी उपलब्ध है—'तन्नारायणाय' के स्थान पर 'तत् केशवाय'। 'वासुदेव' नाम लोक व्यवहार में इन दोनों ही नामों की अपेक्षा अधिक लोकप्रिय हुआ।

वस्तुतः, नारायण और केशव पाञ्चरात्र-सम्बद्ध अधिष्ठातृ देवता रूप में प्रतिष्ठित हैं। केशव शब्द कम पुरातन नहीं। इन दोनों की अपेक्षा कहीं अधिक ख्याति है॥ वासुदेव की जिनका नारायण-विष्णु के साथ समीकरण दिखाई देता है तैत्तिरीयारण्यक (वैष्णव-गायत्री…) में—"**ॐ तः नारायणाय विद्महे वासुदेवाय धीमहि। तन्नो विष्णुः प्रचोदयात्।**" तैत्तिरीयारण्यक की तिथि है लगभग चतुर्थ शताब्दी ई० पू०। वस्तुतः यही काल उद्भासित करता है वासुदेव-प्रतष्ठा को। श्रीमद्भागवद्गीता की रचना-तिथि भी यही है। इसके बाद तो वासुदेव का लोक में शिल्पाङ्कन भी होने लगता है और दूसरी शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक वासुदेव-भक्ति स्वदेश की सीमा से बाहर बल्ख (Bactria) तक पहुँच जाती है। हेलियोदोर (यवन-राजदूत) का '**देवदेवस् वासुदेवस्**' सम्यक् रूपेण विष्णु-स्वरूप बनकर रूढ़ हो गया और नारायण, केशव—सभी वासुदेव के पर्याय होकर रह गये।

'वासुदेवः सर्वमिति' यह वचन पुराणों-आगमों में प्रख्यात हुआ। वासुदेव

वस्तुतः निर्वचन के स्तर पर, 'विष्णु' पद के समान ही सर्व व्यापकता की अभिव्यक्ति करता है। जो सर्वत्र और समस्त में बसता है वही है 'वासुदेव'—

सर्वत्रासौ समस्तं च वसत्यत्रेति वै यतः ।
ततोसौ वासुदेवेति विद्वद्भिः परिमीयते ॥

एक दूसरा अभिधार्थ भी है वासुदेव का—व्याकरण सम्मत। वसुदेवापत्यं पुमान् वासुदेवः। वसुदेव-पुत्र ही वासुदेव कहलाता है। 'देवकी-पुत्र' का उल्लेख सर्व प्रथम छान्दोग्य-उपनिषद् में हुआ है और वसुदेव-पुत्र वासुदेव-कृष्ण की कथा से गहरे जुड़े संकर्षण-बलराम (अग्रज) के साथ उनके प्रारंभिक अङ्कन, उपलब्ध पुरावशेषों के आधार पर ई० पू० की शताब्दियों में मध्यदेश से लेकर पश्चिमोत्तर भारत व भारतेतर सीमाओं (बल्ख से उज़बेकिस्तान) तक होने लगा था। ऐसा प्रतीत होता है कि भक्ति की जो धारा उत्तर वैदिक युग में प्रवाहित हुई उसकी परिणति 'वासुदेव-भक्ति' के रूप में होती गई। आगे चलकर वे वैष्णव देव-मण्डल के केन्द्र-बिन्दु बन गए—नारायण वही, केशव वही और भगवान् भी वही। वासुदेव-कृष्ण की इस महिमा का साक्षी कोश है श्रीमद् भागवत महापुराण। वहाँ कृष्ण की कथा बन गई है कंशारि कृष्ण की लीला। सच बात तो यह है कि बाल देवता गोपाल कृष्ण का विभव-विस्तार उन्हें लोकेश्वर बनाता है। पाञ्चरात्र धर्म में इस उपसंप्रदाय का समाहार दिखाई देता है तथापि भ्रम यह होता है कि वासुदेव-संकर्षण-प्रद्युम्न और अनिरुद्ध चतुर्व्यूह-दर्शन के चार बिन्दु हैं न कि कृष्ण-कथा के चार पात्र। ये बिन्दु सृजन-धर्म के शाश्वत प्रतीक हैं जिन्हें पाञ्चरात्रागम-परम्परा में अतिशय आदर प्राप्त है। वहाँ ये प्रतीकनाम हैं क्रमशः परमात्मा-जीव-मन-अहङ्कार। पाञ्चरात्र-परम्परा में यह दर्शन सर्ग-सिद्धान्त की अभिव्यक्ति करता है। अहंकार सृष्ट यह संसार शास्त्र और लोकाचार में विभक्त प्रतीत होता है। सिद्धान्त में वासुदेव चतुर्व्यूह-चतुर्मूर्त्ति-वैकुण्ठ कहलाते हैं तो लोक प्रसिद्ध वृष्णिजन रूप में वासुदेव (श्रीकृष्ण गोपाल), बलराम (कृष्ण के अग्रज), प्रद्युम्न (श्रीकृष्ण-पुत्र) एवं अनिरुद्ध (श्री कृष्ण के पौत्र)—तीन पीढ़ियाँ एक साथ पूजनीय—

नमः रामाय कृष्णाय वसुदेव सुताय च ।
प्रद्युम्नाय आनिरुध्याय सात्त्वतां पतये नमः ॥

सात्त्वतों के पति 'वासुदेव' यदि सत्त्वोपासक मुनिजनों के इष्टदेव रहे हों

रहे हों तो क्या आश्चर्य ? आश्चर्य इस बात में भी नहीं कि उनका एक धीर-गंभीर शास्त्र-सम्मत सम्प्रदाय बनता गया हो जिसके अधिष्ठातृ देवता हों वासुदेव-विष्णु, जिसका बीज-मंत्र हो 'ॐ **नमो भगवते वासुदेवाय**' तथा जिसका सम्प्रदायबद्ध सद्ग्रंथ हो भागवत पुराण।

भागवत-धर्म और पाञ्चरात्र धर्म कहकर इनको भिन्न बताने की जो प्राचीन व आधुनिक (धर्मज्ञ मनीषियों की) परम्परा दिखाई देती है, वैष्णव धर्म के ऐतिहासिक अनुशीलन की दृष्टि से वह भ्रामक है।

अभी हाल ही में प्रकाशित एक पुस्तक (अहिर्बुध्न्य संहिता : संक्षिप्त रूप-रेखा, डॉ० किरण कुमारी श्रीवास्तव, इलाहाबाद, 1993) का 'प्राक्कथन' प्रस्तुत करते हुए प्रोफेसर गोविन्द चन्द्र पाण्डेय ने कहा है कि "ऐसा प्रतीत होता है कि जो ऋषि परम्परागत वैदिक अध्ययन और कर्मकाण्ड से उपासनात्मक खोज में लगे हुए थे उन्हीं में से कुछ पाञ्चरात्र और भागवत सम्प्रदायों के प्रर्वतक थे। वैदिक उपासना काण्ड ही उनका मूल समझा जा सकता है। घोर आङ्गिरस और कृष्ण देवकी पुत्र यदि भागवत सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक थे तो सम्भवतः नारद और शाण्डिल्य पाञ्चरात्र-शाखा के प्रवर्त्तक रहे हों। नारद द्वारा उल्लिखित एकायन विद्या का स्वरूप विचारणीय है। दोनों ही शाखाएँ निकट सम्बद्ध थी।...दोनों में ही उपासनात्मक वैष्णव धर्म का विस्तार है। दोनों में ही ईश्वर को सर्व शक्तिमान् परम् तत्त्व माना गया है और उनकी उपासना को निःश्रेयस् का माने।"

प्रो० पाण्डेय का उक्त दृष्टिकोण पाञ्चरात्र व भागवत परम्पराओं को भले ही वैष्णव धर्म की दो मूल शाखाएँ प्रमाणित करता है पर उनमें उपासना व ज्ञान के स्तर पर पर्याप्त समानता दिखाई देती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि कालान्तर में शनैः शनैः इन दोनों धाराओं पर समान रूप से तांत्रिक वामाचार और कतिपय लोक-परम्पराओं का स्वाभाविक प्रभाव पड़ा—अन्ततः दोनों ही पाञ्चरात्र-परम्परा में समादृत हुईं। 'वासुदेव' इन दोनों ही धाराओं के अधिष्ठातृ देव माने गये।

वासुदेव श्रौत-स्मार्त ही नहीं, आगम-परम्परा में भी विष्णु स्वरूप केन्द्र-विन्दु बनकर समादृत हैं। यह बात अलग है कि प्राचीन भारतीय साँस्कृतिक परिवर्त्तन की प्रक्रिया में विष्णु-वासुदेव-परम्परा में लोक-धर्म की अनेक धाराएँ समाविष्ट होती गईं। इन प्राचीनधाराओं में सर्व प्राचीन हैं—प्राक् ऋग्वेदीय

नारायण, पुरा-ऐतिहासिक नाग-पूजा (जिसके प्रतीकत्व से संवलित है संकर्षण-उपासना)। इतना ही नहीं सांख्याचार्य कपिल कब वैष्णव-धर्म की मुख्य धारा में समाहित होकर पूज्य बने (वैकुंठ-प्रतिमा में पृष्ठभागीय कापिल-मुख) यह अनुसंधान का विषय है। कपिल के साथ वैकुंठ के व्यक्तित्व (मूर्त्त रूप) में समाविष्ट एक आसुरी परम्परा का महत्त्व कम नहीं।

पाञ्चरात्र-संहिताओं के रूप में उपलब्ध विपुल वाङ्मय विष्णु-वासुदेव-पूजन को समग्र (उत्तर भारत में प्रवर्त्तित और दक्षिण में प्रतिष्ठित-प्रसारित) देश में व्यापक बनाता है। यह सर्वविदित है कि ज्ञान-पाद और योग-पाद वैष्णवागमीय चतुष्पादों में पूर्व (आभ्यंतर) पक्ष का उद्घाटन करते हैं और उत्तर (बाह्य) पक्ष को प्रमाणित करते हैं इसके क्रिया-पाद और चर्या-पाद। आरम्भ में त्रिविध (सात्वत संहिता में अभिव्यक्त पर, व्यूह एवं विभव) तथा बाद में पञ्चविध ब्रह्म (प्रथम तीन के अतिरिक्त अर्चा एवं अन्तर्यामी) की पाञ्चरात्रीय अवधारणा इस उपासना-परम्परा की एक विशिष्टता रही है।

जैसा कि हमने आरम्भ में ही इंगित किया, महाभारत में ही पाञ्चरात्र-प्रशंसा के वचन भरे पड़े हैं। शांति-पर्व (क्रिटिकल एडीशन पूना, 331. 2-3 एवं 326.100) में पञ्चरात्रार्चना करते हुए अन्ततः इसे महोपनिषद् संज्ञा दी गयी है—

इदं महोपनिषदं चतुर्वेद समन्वितम्।
सांख्य योग कृतान्तेन पञ्चरात्रानुशाब्दितम्॥

अन्यत्र (गोरखपुर-संस्करण, 322. 33 अ, 42 ब) कहा गया है कि यही श्रेय है, यही ब्रह्म और ऋक्, यजुष्, साम तथा अथर्वाङ्गिरस समेत यह विलक्षण हित साधक है। किं वा यही 'अनुशासन' होगा। प्रमाण-स्वरूप(322.41 अ)— 'भविष्यति प्रमाणं वै एतदानुशासनम्' है—

ब्राह्मणैः क्षत्रियैर्वैश्यैः शूद्रैश्च कृतलक्षणैः।
अर्चनीयश्च सेव्यश्च पूजनीयश्च माधवः॥

(भीष्म पर्व, 62.38.39)

पाञ्चरात्र की औदार्यवृत्ति के इस तरह के विचार सर्वप्राचीन संहिता सात्वत (III. 29 ब, 30 अ) में भी निर्दिष्ट है—

ब्राह्मणाः क्षत्रियाः वैश्याश्शूद्रायोषित एव च ।
भक्तियुक्ताः स्वभावेन कुर्याद् देवस्य पूजनम् ॥

अन्यत्र निर्देश है पाञ्चरात्र विधान पूर्वक ब्राह्मणों की दीक्षा बसन्त में, राजन्यो की ग्रीष्म में, वैश्यों की शरद् में, शूद्रों की हेमन्त में तथा स्त्रियों की वर्षाकाल में होनी चाहिए। इस प्रकार पाञ्चरात्र-परम्परा में गुप्त युग से ही भारतीय समाज के सभी वर्गों का प्रतिनिधित्व मिलने लगा था। जिसकी पराकाष्ठा इसके लोकप्रिय, धर्म-केन्द्रों की ख्याति में दिखाई देती है। ये सभी केन्द्र—यदुशैल (श्रीरंगम्), मेलुकोटे (मैसूर), काञ्जीवरम् और प्रभास – प्रायः दक्षिण भारत में स्थित हैं। दक्षिण को ही श्रेय है कि आज हिन्दू धर्म का इतना विपुल वाङ्मय सुरक्षित है।

ध्यातव्य है कि पाञ्चरात्र-धर्म शङ्कराचार्य के पूर्व, उत्तर एवं पश्चिमोत्तर भारत में प्रवर्तित-प्रतिष्ठित हुआ तो उनके युग के बाद इस मत का दक्षिण में क्रमशः पल्लवन हुआ। स्वामी शङ्कराचार्य के बाद अनेक मनीषियों यथा— जयंत भट्ट (न्याय-मञ्जरी), यामुनाचार्य (आगम-प्रामाण्यम्), श्रीरामानुजाचार्य (श्रीभाष्य), श्री सुदर्शन सूरि (श्रीभाष्य पर टीका), वेदान्तदेशिक (पाञ्चरात्र-रक्षा), वाधूल वरदाचार्य (पाञ्चरात्र-कण्टकोद्धार) और भट्टारक वेदोत्तम (तंत्र-शुद्धि) इत्यादि ने न केवल पाञ्चरात्रार्चना की, अपितु उन्होंने वेद-प्रामाण्य को सतर्क रेखांकित किया।

प्रस्तुत प्ररोचनात्मक परिप्रेक्ष्य में ही मैं कहना चाहूँगा कि प्राच्य-विद्या में सर्वत्र न सही तो यत्र-तत्र संलग्न शोध-प्रज्ञा ने भारतीय इतिहास एवं संस्कृति के अनेक अज्ञातप्राय पृष्ठों को आलोकित किया है। डॉ० रामप्यारे मिश्र का शोध-ग्रंथ इस दिशा में एक श्लाघ्य प्रयास है।

इसमें संदेह नहीं कि भारतीय धार्मिक इतिहास के एक सशक्त किन्तु अल्पज्ञात पक्ष पर यह एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। लेखक ने विषय से सम्बद्ध अद्यतन शोध-सामग्री का यथेष्ट उपयोग करते हुए अद्यावधि प्रकाशित पाञ्चरात्र-संहिताओं के आधार पर इस विलक्षण वैष्णवागम-परम्परा पर सुन्दर प्रकाश डाला है। इसमें सन्देह नहीं कि पाञ्चरात्र आगम-परम्परा के विपुल वाङ्मय के अध्ययन बिना भारतीय धर्म-दर्शन के इतिहास का ज्ञान अधूरा कहा जाएगा।

लेखक ने आगम-प्रामाण्य-विमर्श में पाञ्चरात्र आगम की त्रिरत्न और त्र-रत्ननिष्ठ संहिताओं समेत अवान्तरकालीन संहिताओं के अतिरिक्त

अन्यानेक प्रासंगिक ग्रंथों यथा—यामुनाचार्य कृत "आगम-प्रामाण्यम्" और वेदान्तदेशिक प्रणीत "पाञ्चरात्र-रक्षा" आदि को भी अपना आधार बनाया है। तथैव पाञ्चरात्र नाम व निर्वचन की व्याख्या पारम्परिक और आधुनिक भाषा-वैज्ञानिक दृष्टियों से की है। 'पाञ्चरात्र' और 'नारायण' जैसे जटिल और विवादस्पद पदों की अर्थवत्ता में इस परम्परा के बीजतत्व दिखाई देते हैं जो एक ओर पाञ्चरात्र अस्तु प्रकृत्या वैष्णव मत की प्राचीनता के द्योतक हैं तो दूसरी ओर निगम-भिन्न आगम-परम्परा के स्रोत की ओर हमारा बरबस ही ध्यान आकृष्ट करते हैं। उत्तर भारत में उद्गीथ और दक्षिण भारत में प्रवर्द्धमान इस महती वैष्णव धारा का यह इतिवृत्त यथार्थतः धर्म-दर्शन की दृष्टि से ही नहीं अपितु सामाजिक-सांस्कृतिक परिवेश के अध्ययन के भाव से भी पठनीय है। इसमें सन्देह नहीं कि प्रस्तुत कर्त्ता ने प्रसादयुक्त प्राञ्जल भाषा में इस अति गम्भीर विषय को अत्यंत रोचक-प्रेरक बना दिया है। बधाई !

दिसम्बर 12, 1993 ई०
15, यॉक्ची कम्पाउण्ड
युनिवर्सिटी कैम्पस
गोरखपुर-273001

डॉ० माताप्रसाद त्रिपाठी
उपाचार्य
प्राचीन इतिहास, पुरातत्त्व एवं
संस्कृति विभाग, विश्वविद्यालय
गोरखपुर (उ० प्र०)

Blessings

I feel pleasure in attesting to the academic attainments of Dr. Ram Pyare Mishra. His doctorate work pertains to the salient features of the sources of the **Pāñcharātra** literature. He has made an indepth study of the sources, both Vedic and Non-Vedic, and has been able to reveal the correct nature and impact of the doctrine of **Pāñcha-rātra**.

Dr. Mishra is much above the average run of research-scholars. He possesses an adequate grounding in the sources of ancient Indian history and culture.

I wish him success in life.

Prof. K.D. Bajpai
Tagore Professor
Ex-Head, Department
of Ancient History, Culture
and Archaeology,
Sagar University, Sagar (M.P.)

Sri Ram Pyare Mishra's thesis is an appropriately researched work containing much that supports the conclusions drawn so far but not as comprehensively documented in terms of the arguments which lead to them. Sufficient care has been taken to sift the relevant material in the Āgamas and Saṁhitās in order to work out the relative value of the texts and their contents on the diverse points central to the subject of research. Etymological interpretations of the key terms are always interesting in their conceptual import, and this mathed has been utilised to its full advantage.

Dr. R.N. Mishra
Prof. and Head,
School of Studies in
Ancient Indian History,
Culture and Archaeology,
Jiwaji University
Gwalior

प्राक्कथन

त्वाम् पाञ्चरात्रिक नयेन पृथग्विधेन ।
वैखानसेन च यथा नियताधिकाराः ॥
संज्ञा विशेष नियमेन समर्चयन्तः ।
प्रीत्या नयन्ति फलवन्ति दिनानि धन्याः ॥[1]

पाञ्चरात्र मत का विपुल वाङ्मय 'आगम-परम्परा' का साहित्य है। निगम (वेद) से भिन्न, परम्परागत साहित्य को आगम कहते हैं। आगम और वैष्णवागम की चर्चा करते हुए हमने अपने ग्रंथ की भूमिका में विशेषतः पाञ्चरात्र आगम पर विमर्श किया है। तदनुसार पाञ्चरात्र-परम्परा के स्रोत अत्यन्त प्राचीन प्रतीत होते हैं। शतपथ ब्राह्मण में प्रथमतः एक विशिष्ट यज्ञ-सत्र-रूप में उल्लिखित इसके एक अधिष्ठाता देवता नारायण को भी एक पुरातन देवता कहा जा सकता है। यद्यपि देव रूप में नारायण की चर्चा पहली बार यहीं हुई है। वस्तुतः नारायण को ऋग्वेद के प्रसिद्ध पुरुषसूक्त (10.90) का द्रष्टा बताया गया है और यहां पाञ्चरात्र के सन्दर्भ में शतपथ ब्राह्मण इस अधिष्ठातृ को पुरुष नारायण संज्ञा देता है। इस तरह परम्परा के स्रोत ऋग्वेदीय को पुरुष सूक्त में प्रतिबिम्बित हैं। कालान्तर में महाभारत के नारायणीय पर्व में पाञ्चरात्र-परम्परा पर विस्तृत प्रकाश पड़ता है। नारायण के श्रीमुख से निःसृत यह परम्परा शाण्डिल्यादि मुनियों द्वारा प्रवर्तित एवं प्रसारित हुई। अन्ततः आगम-परम्परा ने इसे संरक्षित किया। परिणामतः पाँचवीं शताब्दी से लेकर शंकराचार्य के काल तक उत्तर भारत में, पुनः

---

1. **शरणागति दीपिका** (श्लोक 32) में प्रख्यात श्री वैष्णव आचार्य वेदान्त-देशिक कहते हैं कि प्रभु ! तुम्हारे अर्चक (विभिन्न मन्दिरों में) वैखानस मत से या पाञ्चरात्र विधि से नियम एवं भक्तिपूर्वक विभिन्न संज्ञाओं में तुम्हारी आराधना करते हैं। वे सचमुच धन्य हैं जो परम ब्रह्म के विविध नामों की अर्चा करते हुए अपने जीवन को समृद्ध बनाते हैं और प्रसन्नता पूर्वक जीवन यापन करते हैं।

शंकराचार्य के बाद दक्षिण भारत में पाञ्चरात्र मत पल्लवित-पुष्पित होता रहा। शंकराचार्य के आविर्भाव के कुछ पूर्व काल से ही इस वैष्णव-पाञ्चरात्र परम्परा का खण्डन किया गया, तो शंकराचार्य और उनके बाद के अनेक आचार्यों के मध्य खण्डन-मण्डन की एक लम्बी परम्परा चल पड़ी। इस मत के प्रमुख पोषकों में 10वीं-11वीं शताब्दी के दक्षिण भारत में विशिष्टाद्वैत दर्शन के प्रवर्तक श्री यामुनाचार्य ने आगम-प्रामाण्य नामक ग्रंथ की रचना करके पाञ्चरात्र मत को वेदों के समान प्रामाणिक एवं आदरणीय प्रमाणित किया। पुनः श्री वैष्णव परम्परा के विशिष्ट आचार्य श्रीमद् रामानुजाचार्य ने अपने श्रीभाष्य में श्रीमत् यामुनाचार्य का समर्थन किया और 14वीं शताब्दी के वेदान्त देशिक ने 'पाञ्चरात्र-रक्षा' नामक ग्रंथ की रचना करके इस मत के विरोधियों के विचारों का खण्डन करते हुए पाञ्चरात्र-प्रामाण्य को प्रतिष्ठित किया। जैसा कि हमने इस ग्रंथ के प्रथम अध्याय—नाम, निर्वचन एवं प्रामाण्य, के अन्तर्गत यह ध्यान आकृष्ट किया है कि पाञ्चरात्र संहिताओं में आरम्भ से ही इस मत के प्रामाण्य पर न्यूनाधिक विमर्श होता रहा है। संभवतः इसीलिए शास्त्रकारों ने इस परम्परा को 'मूल वेद' तक कहा है। इस सिद्धान्त के अनेक ग्रंथों में गोपाल सूरि कृत 'पाञ्चरात्र-रक्षा-संग्रह' अत्यन्त महत्वपूर्ण कहा जा सकता है।

ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण और अपने को परम भागवत घोषित करने वाले गुप्त सम्राटों ने ही वास्तव में वैष्णव धर्म को अत्यन्त लोकप्रिय बनाया। क्योंकि गुप्त सम्राटों ने इसे राजधर्म बनाकर न केवल उत्तर भारत में अपितु अपने सम्बन्धों के आधार पर दक्षिण में भी इस मत को प्रतिष्ठित किया। गुप्तों के युग में निश्चय ही पाञ्चरात्र मत के अवतारवाद-सिद्धान्त की प्रतिष्ठा बढ़ चली थी। वराह एवं नृसिंह अवतारों के विषय में इस काल खण्ड के साहित्यिक एवं पुरातात्विक दोनों प्रकार के प्रमाण उपलब्ध हैं। (अवतारवाद के लिए देखिये—सुधाकर चट्टोपाध्याय, 'इवोल्यूशन ऑफ हिन्दू सेक्ट्स', पृ० 56 एवं आगे)।

ध्यातव्य है कि गुप्त शासकों के समान ही कालान्तर में दक्षिण एवं उत्तर के अनेक राजवंशों ने वैष्णव धर्म के उन्नयन में उल्लेखनीय भूमिका निभायी। उत्तर में मालवा, मगध, कन्नौज, गोंड एवं गुर्जर राजवंशों ने तथा दकन में वाकाटकों, शरभों, इक्ष्वाकुओं, सालंकायनों और विष्णु-कुण्डिनों ने वैष्णव धर्म को प्रतिष्ठित किया। कर्नाटक देश में यही कार्य कदम्ब एवं गंग नरेशों ने

किया। इस व्यापक प्रचार-प्रसार के कारण वेदों के अध्ययन और वर्णाश्रम धर्म के परिपालन को उत्साहित किया गया। ब्राह्मणों के लिए अग्रहार प्रतिष्ठित हुए तो ब्राह्मण-धर्म एक तरह से पुनरुज्जीवित होता गया। इस अवधि में पौराणिक हिन्दू धर्म लोकप्रिय हुआ और अनेक परम्पराओं के पुराण लिपिबद्ध हुए। भागवत-पाञ्चरात्र के लोकप्रिय सिद्धान्त यथा—चतुर्व्यूह उपासना, अवतारों की उपासना, अर्चावतार की प्रतिष्ठा, पञ्चकालोपसना (अभिगमन, उपादान, स्वाध्याय, इज्या एवं योग) इसी अवधि में उत्तरोत्तर लोकप्रिय हुए (द्रष्टव्य, 'द कल्चरल हैरिटेज ऑफ इण्डिया', पृ० 164-165)। लगभग 850 ई० के आसपास दक्षिण भारत में आलवार आन्दोलन परिसमाप्त हुआ और इसी अवधि में इसके आचार्यों का वैचारिक आन्दोलन आरम्भ हुआ। पारम्परिक रूप से द्वादश आलवारों की प्रतिष्ठा है, जिनके कृतित्व का व्यापक प्रभाव माना जाता है (द्रष्टव्य, 'दि कल्चरल हैरिटेज ऑफ इण्डिया, 166 एवं आगे)।

वैष्णव-पाञ्चरात्र धर्म के इतिहास पर अद्यावधि सम्यक् अध्ययन नहीं हो सका है। इसका एक कारण यह है कि इस परम्परा का साहित्य विपुल है और अधिकांशतः अप्रकाशित, अतः अल्पज्ञात है। पाञ्चरात्र आगम बहुत कुछ अज्ञात भी है जो निश्चय ही अलग शोध का विषय है। और जो ज्ञात अथवा अल्पज्ञात है उसके अमुद्रित रह जाने के कारण ही इस धर्म के अध्येताओं को कठिनाई का अनुभव होना स्वाभाविक है। जैसाकि हमने इस ग्रंथ में, कई अध्यायों में, यथाप्रसंग ध्यान आकृष्ट किया है कि पाञ्चरात्रागम की प्रमुख संहितायें सौभाग्य से, अब मुद्रित हो चुकी हैं। हमने इन्हीं प्रकाशित संहिताओं को ही अपने अध्ययन का आधार बनाया है। यहाँ यह अवधेय है कि जर्मन विद्वान श्रेडर (1916) से लेकर अमेरिकी विद्वान एच० डैनियल स्मिथ (1980) तक के कार्यों को ध्यान में रखते हुए पाञ्चरात्र आगम की महिमा और उसकी विषय-व्यापकता का संकेत मिल जाता है।

यह भी ध्यान देने योग्य है कि जिस प्रकार आदि शंकराचार्य के बाद दक्षिण भारतीय आचार्यों के सौजन्य से यह आगम-परम्परा अक्षुण्ण बनी रही उसी प्रकार आधुनिक भारत के प्रायः दक्षिणी विद्वानों ने ही इस मत के इतिहास पर यथासम्भव प्रकाश डाला है। इनमें वी० राघवन्, ई० कृष्णमाचार्य, बी० कृष्णमाचार्य, आर० एन० सम्पत्, सीतापद्मनाभन्, ए० श्रीनिवास आयंगर आदि का नाम आदरपूर्वक लिया जा सकता है, जिनके कार्यों का हमने यथा प्रसंग उल्लेख किया है। पाञ्चरात्र शब्द की विवादास्पद अर्थवत्ता पर ध्यान

दें तो श्रेडर, बुतानिन, राघवन्, पी० पी० आप्टे, एच० डैनियल स्मिथ के लेखों का अत्यन्त महत्व है। यद्यपि इतने प्रयत्न के बावजूद 'पाञ्चरात्र' नाम का मूलार्थ स्पष्ट नहीं हो सका। इसी तरह इस परम्परा के मूल उद्गाता 'नारायण' शब्द का व्युत्पत्यर्थ भी अस्पष्ट रहा है। तथैव 'व्यूह' एवं 'व्यूहवाद' का मूल अभिप्राय एवं दर्शन भी। पाञ्चरात्र-परम्परा के इन विभिन्न महत्वपूर्ण पक्षों के उद्घाटन में स्वदेश और विदेश के मनीषियों द्वारा किये गये कार्यों के साथ ही वैष्णव धर्म अथवा वैष्णव कला के इतिहास के अध्येताओं यथा सर आर० जी० भण्डारकर, हेम चन्द्र राय चौधरी, एस० चट्टोपाध्याय, जे० खोंदा, टी० गोपीनाथ राव, वासुदेव शरण अग्रवाल, नीलकंठ पुरुषोत्तम जोशी, डोरिस श्रीनिवासन, विश्वम्भर शरण पाठक, सुवीरा जायसवाल, जितेन्द्र नाथ बनर्जी, प्रो० शैलनाथ चतुर्वेदी आदि के विचारों का समायोजन एवं समीक्षा करते हुए हम इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि पाञ्चरात्रागम की परम्परा वैष्णव धर्मके इतिहास ज्ञान के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है। पाञ्चरात्रागम की स्रोत-सामग्री अत्यन्त व्यापक है जिसके कतिपय महत्वपूर्ण पक्षों का अध्ययन प्रस्तुत करते हुए हमने सर्वप्रथम 'पाञ्चरात्र' एवं 'नारायण' जैसे शब्दों के मूलार्थ का स्पष्टीकरण किया है जिसका आधार भाषावैज्ञानिक है। इस दिशा में सर्वप्रथम परम सम्मान्य गुरुवर्य प्रो० विश्वम्भर शरण पाठक ने भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि से कार्य किया है, जो यद्यपि अप्रकाशित है किंतु मुझे अपने निर्देशक श्री माताप्रसाद त्रिपाठी के माध्यम से इन, कतिपय विलक्षण वैदिक शब्दों की व्युत्पत्ति, अर्थवत्ता एवं उनके अर्थविकास का परिचय प्राप्त हुआ। आगम-परम्परा की भांति ही मुझे सौभाग्य-वश गुरु-शिष्य परम्परा में इन शब्दों का अभिज्ञान हुआ। संयोगवश इसी अवधि में मेरे विभागाध्यक्ष प्रो० शैलनाथ चतुर्वेदी का, 'चतर्व्यूह प्रतिमा' पर एक महत्वपूर्ण शोध-लेख (ऐन यूनिक चतुर्व्यूह इमेज—आर० के० त्रिवेदी, वाल्यूम, दिल्ली, 1988) प्रकाशित हुआ। इसके अतिरिक्त अभी हाल में (26 मार्च, 1989 को) के० पी० जायसवाल शोध संस्थान द्वारा आयोजित प्रो० अनन्त सदाशिव अल्टेकर, डा० कालीकिंकर दत्त स्मारक व्याख्यानमाला के अन्तर्गत मेरे निर्देशक श्री विपाठी का 'भागवतपाञ्चरात्र परम्परा में चतुर्व्यूह उपासना का इतिहास' विषय पर एक महत्वपूर्ण व्याख्यान सम्पन्न हुआ। इन कार्यों तथा पाञ्चरात्र संहिताओं पर किये गये कतिपय अन्य कार्यों (यद्यपि ऐसे कार्य बहुत कम हुए हैं) को ध्यान में रखते हुए पाञ्चरात्रागम की स्रोत-सामग्री के कतिपय पक्षों का अध्ययन वैष्णव धर्म और इसके माध्यम से हिन्दू धर्म के इतिहास के अध्ययन-प्रसंग में महत्वपूर्ण होगा, हम ऐसा अनुभव करते हैं।

श्रेडर ने अहिर्बुध्न्य संहिता को आधार बनाकर वर्तमान शताब्दी के दूसरे दशक में पाञ्चरात्र मत के व्यापक विषय क्षेत्र पर विद्वज्जनों का ध्यान आकृष्ट किया था। इसका परिणाम यह हुआ कि विभिन्न संहिताओं के सम्पादन कार्य के साथ कतिपय विद्वानों ने अपनी भूमिका में एतत्सम्बन्धी न्यूनाधिक विचार प्रस्तुत किया। जिनमें वी० राघवन् तथा दक्षिण भारत के ही कुछ अन्य (पूर्वोक्त) विद्वानों के नाम महत्वपूर्ण हैं। सर्वप्राचीन पाञ्चरात्र संहिता 'सात्वत संहिता' अलशिंग भट्ट के भाष्य सहित सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी से प्रकाशित हुई जिसके विद्वान् आचार्य डॉ० व्रजवल्लभ द्विवेदी ने स्वदेशी व विदेशी विद्वानों द्वारा अब तक किये गये शोध कार्यों का पर्यालोचन करते हुए संस्कृत भाषा में एक विस्तृत भूमिका (उपोद्घात) प्रस्तुत किया और पाञ्चरात्र-परम्परा एवं विविध साहित्यिक और पुरातात्विक साक्ष्यों के आधार पर श्रीसात्वत संहिता को सर्वप्राचीन संहिता प्रमाणित किया है।

इस समय तक मात्र लक्ष्मी तन्त्र जैसे अत्यन्त महत्वपूर्ण आगम पर शोध कार्य हुआ है जो प्रकाशित भी है। डॉ० अशोक कुमार कलिया के इस शोध-ग्रंथ (लक्ष्मी तन्त्र धर्म और दर्शन) का प्रकाशन अखिल भारतीय संस्कृत परिषद्, लखनऊ ने किया है। ज्ञातव्य है कि प्राचीन इतिहास विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय से जयाख्य संहिता पर एक शोध-प्रबन्ध कुछ वर्ष पूर्व आ चुका है। डॉ० श्रीमती ज्ञान प्रभा सिंह का यह प्रबन्ध 'जयाख्य संहिता— एक अध्ययन' अप्रकाशित है। श्री पौष्कर संहिता पर अब तक कोई कार्य नहीं हुआ है, जबकि यह त्रिरत्न संहिताओं में से एक है। इसी तरह ईश्वर, पारमेश्वर, पाद्म, परम जैसी विशिष्ट पाञ्चरात्र संहिताओं पर शोध कार्य होना शेष है। इस प्रकार प्रस्तुत अध्ययन पाञ्चरात्र आगम की स्रोत-सामग्री के कतिपय विशिष्ट पक्षों पर प्रकाश डालने वाला, हिन्दी में प्रथम कार्य है।

प्रस्तुत ग्रन्थ चार प्रमुख अध्यायों में विभक्त है। ग्रंथ की भूमिका के अन्तर्गत आगम, वैष्णवागम, विशेषतः पाञ्चरात्रागम शास्त्र सम्बन्धी समीक्षात्मक विमर्श प्रस्तुत करते हुए हमने पाञ्चरात्र संहिताओं की संख्या एवं इसकी आगम-परम्परा पर भी विचार किया है। अपेक्षानुसार पाञ्चरात्र मत की प्राचीनता एवं इसके अभ्युदय पर भी प्रकाश डाला गया है।

प्रथम अध्याय में पाञ्चरात्र के नाम, निर्वचन एवं प्रामाण्य पर विस्तृत प्रकाश डाला गया है। इसी अध्याय में वैष्णव आगम-परम्परा के साथ ही आ६

दार्शनिक मतवादों के बीच खण्डन-मण्डन की सुदीर्घ-परम्परा का और पाञ्चरात्र की प्रतिष्ठा का पर्यालोचन प्रस्तुत किया है।

पाञ्चरात्र मत में मूलतः त्रिविध ब्रह्म (पर, व्यूह एवं विभव) की अवधारणा थी जो अंततः पञ्चविध ब्रह्म(पर, व्यूह, विभव, अर्चा एवं अन्तर्यामी) के रूप में पल्लवित हुई है। एतत्सम्बन्धी सिद्धान्त की चर्चा करते हुए हमने ब्रह्म के दो विशिष्ट स्वरूपों—व्यूह एवं विभव पर विशेष प्रकाश डाला है। चतुर्व्यूह एवं विभव विषयक स्रोत-सामग्री का अध्ययन द्वितीय अध्याय का प्रतिपाद्य है।

तृतीय अध्याय के अन्तर्गत व्रत एवं उत्सव विषयक स्रोत-सामग्री विनिर्दिष्ट है। ज्ञातव्य है कि पाञ्चरात्र परम्परा में प्रचलित और इस शास्त्र के द्वारा निर्दिष्ट अनेकानेक वैष्णव-व्रतों एवं उत्सवों का विधान रहा है। वैष्णव धर्म को लोकप्रिय बनाने में इनका प्रमुख योगदान रहा है।

चतुर्थ अध्याय में पाञ्चरात्र मत के उल्लेखनीय एवं लोकप्रिय शास्त्रीय वैशिष्ट्य पञ्चकालोपासना पर प्रकाश डाला गया है जिसका प्रतिपाद्य है—पञ्चकाल विषयक स्रोत-सामग्री का अध्ययन। जिसके अन्तर्गत—अभिगमन, उपादान, स्वाध्याय, इज्या एवं योग सम्बन्धी पाञ्चरात्र-परम्परा और एतद् विषयक स्रोत-सामग्री का निर्देश किया गया है।

उपसंहार के अन्तर्गत ग्रंथ के विवेच्य प्रसंगों का निष्कर्षपूर्ण आकलन है। ग्रंथ के अन्त में विस्तृत संदर्भ-ग्रन्थ एवं शोध-लेखादि सूची के रूप में संलग्न है।

आभार-विनिवेदन

सर्व द्वंद्व विनिर्मुक्तं सर्वोपाधिविवर्जितम् ।
षाड्गुण्यं तत्परं ब्रह्म सर्व कारण कारणम् ॥ (अहि० सं०, 2.53)

सभी कारणों का मूल है "**नारायण**" और नारायण मुखोद्गीत धर्म "**पाञ्चरात्र**" की ओर मेरा ध्यानाकृष्ट करने के निमित्त रहे हैं मेरे गुरु शोध-निर्देशक। यह सम्भवतः मेरे वैष्णव मन की सहज प्रतीति थी कि मैं इतना सुन्दर शोध-विषय पाकर मुग्ध था। पर शनैः शनैः मुझे इस बात का अभिज्ञान होता गया कि इस विपुल वाङ्मय संपदा को समझना सरल नहीं। ऊपर से भाषा एवं अभिव्यक्ति का संकट ? कई वर्षों तक पाञ्चरात्र रूपी महार्णव में गोता लगाता रहा। मैं हतप्रभ हुआ यह जानकर कि इस महत् कार्य के लिए एक तो संस्कृतज्ञ होना अनिवार्य है, दूसरे इस व्यापक विषय पर या तो प्रायः दक्षिणात्य विद्वानों ने कार्य किया है अथवा भारतेतर मनीषियों ने। मेरे इस ग्रन्थ से ही स्पष्ट है कि पाञ्चरात्र-परंपरा का साहित्य कई शताब्दियों तक (चौथी-पाँचवीं से अठारहवीं शताब्दी तक) रचा जाता रहा और इसका अधिकांश अब भी अमुद्रित है। मेरे निर्देशक ने मुझे उत्साहित करते हुए, मेरे शोध-विषय की सीमा निर्धारित करते हुए, अब तक प्रकाशित पाञ्चरात्रागमों में कतिपय (निर्दिष्ट)विषयों की शोध-सामग्री पर कार्य करने की प्रेरणा दी। तथापि इसका कलेवर व्यापक सिद्ध हुआ और सर्व प्रमुख संहिताओं के मुद्रित संस्करण उपलब्ध हो जाने पर इसके व्यापक विषय-क्षेत्र ने एक बार पुनः मुझे हतोत्साहित किया। किन्तु परम ब्रह्म नारायण वासुदेव की महती अनुकम्पा और गुरु के गौरव ने मुझे विचलित नहीं होने दिया। फलतः यह ग्रन्थ आपके सम्मुख है।

यहाँ यह अवधेय है कि इतना उदारवादी पन्थ विश्व के किसी धार्मिक इतिहास में नहीं मिलता। आगम या दर्शनों के जो पुरुषार्थ साधन के अनेक मार्ग हैं उन सबका अंतिम लक्ष्य एक ईश्वर में ही है। जैसे कल्याण की कल्प-वल्ली एवं मांगल्य की मधुमय अभिव्यक्ति प्रदान करने वाली प्रसन्न सलिला भागीरथी के अनेक प्रवाह भिन्न-भिन्न मार्गों से जाते हुए समुद्र में जाकर

संस्थित हो जाते हैं। वैष्णव पाञ्चरात्र धर्म की सबसे बड़ी विशेषता समन्वयात्मक दृष्टिकोण रहा है। विभिन्न सम्प्रदायों में, दार्शनिक अभिमतों में, कर्म और ज्ञान के आदर्शों में, प्रवृत्ति और निवृत्ति में, पुरातन व नूतन में, सर्वत्र एक विलक्षण समन्वय का भाव इस धर्म का वैशिष्ट्य रहा है। इसी बात को मार्कण्डेय पुराण में बड़े ही सुन्दर ढंग से कहा गया—जैनियों का कैवल्य, बौद्धों की बोधावगति अर्थात् निर्वाण, सांख्य का ज्ञान, योगियों का प्राकाम्य, योगाचार का विज्ञान, धर्म शास्त्रियों की स्मृति एवं वेदान्तियों की संवित्, वैदिकों की परा-विद्या, ब्रह्मवादियों की शाश्वत ज्योति -- ये सबके सब एक ही विवश्वान् महा-ज्योतिष्मान् परम ब्रह्म नारायण (सूर्य) के विभिन्न दर्शन हैं। सब देवों एवं धर्मों के श्लाघायुक्त समन्वय का श्रेय इसी वैष्णव – पाञ्चरात्र धर्म को है। वासुदेव-विष्णु के रूप में सर्वदेवों का समन्वय भागवती दृष्टि की विशेषता रही है। विष्णु ही सब देवों में प्रभविष्णु, अप्रमेय, शाश्वत और अव्यय रूप में मान्य हुए। लोक में नाना स्तरों पर देवों के ठट्ट पूजे जा रहे थे उन सबको देवाधिदेव विष्णु की दिव्य विभूतियाँ मान लिया गया। और भागवतों ने उन्मुक्त हृदय से अहिंसा धर्म को स्वीकार किया—**अहिंसा धर्म युक्तेन प्रीयते हरिरीश्वर**।

(शा० प०, 336.52)

यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि सभी योग तन्त्रों में विष्णु तन्त्र उत्तम है और सभी विष्णु तन्त्रों में पाञ्चरात्र का वैशिष्ट्य है—'योग तन्त्रेषु सर्वेषु विष्णु-तन्त्रमनुत्तमम्। विष्णु तन्त्रेषु सर्वेषु पञ्चरात्रं विशिष्यते'। अतः इस महान धर्म पर कार्य करने के लिए मैं वैसे ही हास्यास्पद हूँ जैसे कोई बौना ऊँचे वृक्ष से लपककर फल सम्प्राप्ति की कामना मोहवश करता है – 'प्रांशुलभ्ये फले लोभात् उद्बाहुःरिव वामनः' या मैं वैसे ही हास्यास्पद हूँ जैसे मोहवश कोई छोटी सी पनसुइया (डोंगी नाव) से बहुत बड़े सागर को पार करने कामना करता है—तितीर्षुः दुस्तरं मोहात् उडपेनास्मि सागरम्।'

"यथा देवे तथा गुरौ"—इस औपनिषदिक वचन के अनुसार जैसी भक्ति देव के प्रति तथैव गुरु में होनी चाहिए। मेरे **शोध-निर्देशक एवं सम्मान्य गुरुवर्य श्री माताप्रसाद त्रिपाठी, उपाचार्य, प्राचीन इतिहास, पुरातत्त्व एवं संस्कृति विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर** के स्नेह-दान का ही परिणाम है यह **ग्रन्थ**। जिन्होंने न केवल आगम-परम्परा एवं पाञ्चरात्र-धर्म के प्रत्येक विवेच्य पद की मूल अवधारणा की ओर निरंतर हमारा ध्यान आकृष्ट किया अपितु भाषा व विचार, दोनों ही स्तरों पर इस ग्रन्थ को स्तरीय बनाया। साथ ही मुझ

अल्पज्ञ को पदे-पदे हतोत्साहित होने से बचाया भी। समझ में नहीं आता कि मैं आपका किन शब्दों में आभार व्यक्त करूं ? मैं, वस्तुतः आपका ऋणी हूँ अस्तु सादर नमन करता हूँ—**'वन्दे नमामि ते चरणारविन्दम्।'**

प्राचीन इतिहास, पुरातत्व एवं संस्कृति-विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर के निवर्तमान अध्यक्ष **पूज्य गुरुवर्य प्रोफेसर विश्वम्भर शरण पाठक, परम् सम्मान्य विभागाध्यक्ष प्रोफेसर शैलनाथ चतुर्वेदी** ने कृपा पूर्वक मेरे शोध-कार्य के लिए अत्यावश्यक दुर्लभ आगम-ग्रंथ उपलब्ध कराया तथा मुझे निरन्तर स्नेह-संवलित किया। मैं एतदर्थ उनके प्रति प्रणति भाव से आभार व्यक्त करता हूँ।

पूज्य **पिताश्री बिन्दू प्रसाद मिश्र** और **प्रातः स्मरणीया माँ** के स्नेहआशीष व धीरोत्साह-वर्द्धन का ही परिणाम है कि मैं ज्ञान की दिशा में इतनी दूर तक तक आ सका। उन्हें मेरा बारम्बार नमन—"**पितरौ वन्दे।**" वरिष्ठतम् स्वजनों में आदरणीय आयुर्वेदाचार्य **वैद्यराज डा० हरीश नारायण त्रिपाठी** (भौवापार, गोरखपुर) ने मुझे वर्षों तक अपनी स्नेह-छाया प्रदान की और "माता-पिता" के समान ही मेरी हित-चिन्ता की। मै आपका एतदर्थ आभारी ही नहीं ऋणी हूँ। सदैव अकृत्रिम् अनुराग रखने वाले डॉ० रजनीश त्रिपाठी (भौवापार) के प्रति कैसे आभार व्यक्त करूँ समझ में नहीं आता ? डॉ० त्रिपाठी ने निरन्तर मेरी सहायता की है।

शोध-कार्य के दौरान अपने सहयात्री मित्रों को भला मैं कैसे भूल सकता हूँ जिनके साथ मैं कई वर्षों तक सहयात्री बना रहा और जिन्होंने किसी न किसी प्रकार मेरी सहायता की। इनमें प्रमुख हैं—सर्वश्री डॉ० राजेश नाथ त्रिपाठी, डॉ० राधेश्याम शुक्ल, डॉ० (श्रीमती) शशिबाला श्रीवास्तव, डॉ० अखिलेश राम त्रिपाठी, डॉ० सूर्य नारायण चौबे, डॉ० श्रीकृष्ण त्रिपाठी, डॉ० राम मनोहर मिश्र, पुरातत्ववेता डॉ० कृष्णानन्दजी त्रिपाठी, डॉ० ध्यानेन्द्र दूबे, मनोजशकर, श्री राजेश सिंह, श्री अशोक कुमार मिश्र, श्री रमाशंकर मिश्र, श्री प्रदीप कुमार मिश्र, डॉ० रमेशचन्द्र शुक्ल, श्री महेन्द्र जी पाण्डेय, श्री करुणेश त्रिपाठी, श्री अवनीश त्रिपाठी, श्री अमरेश त्रिपाठी, श्री शान्ति प्रकाश मणि त्रिपाठी एवं डॉ० मुकुन्दशरण त्रिपाठी।

पुस्तकीय सहायता एवं सतत् उत्साहवर्द्धन के लिए आदरणीय **प्रो० कृष्ण दत्त बाजपेयी** (सागर), पद्मश्री **प्रोफेसर विद्यानिवास जी मिश्र** (काशी), डॉ० **गयाचरण त्रिपाठी** (गंगानाथ झा शोध संस्थान, प्रयाग), **डा० पी० पी० आप्टे**

व डा० पी० वी० वर्तक (पूना), **डा० देवेन्द्रनाथ त्रिपाठी, डा० कुंवर बहादुर कौशिक** (गोरखपुर) **श्री राजेन्द्र मिश्र** (सरस्वती-भवन-पुस्तकालय, वाराणसी) डॉ० जयप्रकाश मिश्र का मैं हृदय से आभारी हूँ ।

अपने शोध-कार्य के दौरान ममतामयी डॉ० कल्याणी जोआरदार, डॉ० विपुला दूबे के अकृत्रिम स्नेह और आयुष्मती कान्ति सुपुत्री त्रिपाठी जी) सु श्री प्रज्ञा एवं चिरंजीवी मानस मिश्र के प्रति आभार व्यक्त करना मात्र औपचारिकता होगी—मैं इस अवसर पर सभी के प्रति आदर व स्नेह के भाव ही व्यक्त कर सकता हूँ ।

गोरखपुर व अन्यत्र विभिन्न ग्रंथालयों में मुझे अध्ययन व सामग्री-संकलन में यथेष्ठ सहायता प्राप्त हुई । मैं जवाहरलाल नेहरू ग्रंथालय नई दिल्ली, नेशनल लाइब्रेरी कलकत्ता, सरस्वती-भवन-पुस्तकालय, वाराणसी, काशी हिन्दू पुस्तकालय वाराणसी, केन्द्रीय ग्रंथालय—गोरखपुर विश्वविद्यालय और इसी विश्वविद्यालय के प्राचीन इतिहास पुरातत्त्व एवं संस्कृति-विभाग का पुस्तकालय आदि के सम्बद्ध लोगों के प्रति हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ । रामनग़र (वाराणसी) स्थित अमेरिकन इन्स्टीट्यूट ऑफ इंडियन स्टडीज़ ने मुझे अपेक्षित चित्र भी उपलब्ध कराया जिसके लिए मैं उक्त संस्थान का कृतज्ञ हूँ ।

आभारी हूँ डॉ० सच्चिदानन्द मिश्र, श्री गणेश राम त्रिपाठी, श्री नन्द किशोर त्रिपाठी, श्री शरद चतुर्वेदी, श्री विनोद मिश्र (आकाशवाणी, गोरखपुर) एवं श्री मुनेश्वर जी शुक्ल के प्रति जिनका स्नेहाशीष सदैव मिलता रहा ।

भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली ने "फेलोशिप" तथा ग्रन्थ प्रकाशन हेतु अनुदान प्रदान कर मुझे उपकृत किया—-एतदर्थ मैं "परिषद्" का आभारी हूँ ।

पाञ्चरात्र-परम्परा के आचार्यों-मनीषयों और उनके कृतित्व पर विद्वतापूर्ण अध्ययनानुसंधान-कार्य करने वाले आधुनिक मनीषियों के प्रति में सविनय कृतज्ञ हूँ ।

अन्त में परमेश्वर की अनंतकीर्ति का स्तवन करते हुए मैं यही कहूँगा कि ग्रन्थ में जो भी श्लाघ्य है वह उसी की अनुकंपा का फल है और जो त्रुटियाँ रह गई हैं वह मेरी अज्ञानता व अनवधानता के कारण हैं। मैं विनीत हूँ सच्चिदानंद स्वरूप परम् ब्रह्म वासुदेव कृष्ण के प्रति—

सच्चिदानंदरूपाय विश्वोत्पत्यादिहेतवे ।
तापत्रयविनाशाय श्रीकृष्णाय वयं नुमः ॥ (भाग० पु०, 1.1)

अक्षय तृतीया, वि० सं० 2050 रामप्यारे मिश्र

विषयानुक्रम

समर्पण	vii
आलोक	ix
शुभाशंसा	xii
Foreword	xiii
प्ररोचना	xv
Blessings	xxii
प्राक्कथन	xxiii
आभार विनिवेदन	xxix
संकेत	xxxiv
भूमिका	1—48
प्रथम अध्याय : पाञ्चरात्र—नाम, निर्वचन एवं प्रामाण्य	49—114
द्वितीय अध्याय : व्यूह एवं विभव	115—156
तृतीय अध्याय : व्रत एवं उत्सव	157—213
चतुर्थ अध्याय : पञ्चकाल	214—248
उपसंहार	249—254
परिशिष्ट	255—287
संदर्भ ग्रन्थ-सूची	288—300
शब्दानुक्रमणिका	301—304

संकेत

अहि०	—अहिर्बुध्न्य संहिता
अनि०	—अनिरुद्ध संहिता
इं० ए०	—इण्डियन एण्टीक्वेरी
इं० हि० क्वा०	—इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली
ई० सं०	—ईश्वर संहिता
ऐ० ब्रा०	—ऐतरेय ब्राह्मण
कपि० सं०	—कपिंजल संहिता
छा०	—छान्दोग्य उपनिषद्
जया० सं०	—जयाख्य संहिता
ज० यू० पी० हि० सो०	—जर्नल आफ यू० पी० हिस्टारिकल सोसाइटी
ज० रा० ए० सो०	—जर्नल ऑफ रायल एशियाटिक सोसाइटी
तै० उ०	—तैत्तिरीयोपनिषद्
तै० आ०	—तैत्तिरीय आरण्यक
द्र०	—द्रष्टव्य
पा० र०	—पाञ्चरात्र-रक्षा
पा० टि०	—पाद टिप्पणी
ब्र० सू०	—ब्रह्म सूत्र
बृ० ब्र० सं०	—बृहद् ब्रह्म संहिता
बिब्०	—डिस्क्रिप्टिव बिबलियोग्राफी ऑफ दि प्रिन्टेड टेक्सट्स ऑफ दि पाञ्चरात्रागम
म० भा० शा०	—महाभारत शान्ति पर्व
मनु०	—मनुस्मृति
ल० तं०	—लक्ष्मी तंत्र
वायु०	—वायुपुराण
विष्णु सं०	—विष्णु संहिता
सं०	—संहिता
श० ब्रा०	—शतपथ ब्राह्मण

भूमिका

सामान्यत: स्वीकार किया जाता है कि आगम-ज्ञान के बिना निगमों का वास्तविक ज्ञान असम्भव है। आगम और निगम वास्तव में परस्पर पूरक बताये जाते हैं। कलियुग में प्राणियों की अभ्युदय निःश्रेयस्‌सिद्धिदायिनी जो विद्या है वस्तुत: वही "आगम" कहलाती है। प्रपंचसारतन्त्र में यह स्पष्ट किया गया है कि कृतयुग के लिए श्रुति, त्रेता के लिये धर्मशास्त्र, द्वापर के लिये पुराण और कलियुग के लिये आगम सिद्धिदायक हैं—

श्रुत्युक्तस्तु कृते धर्मस्त्रेतायां स्मृतिसम्भवः।
द्वापरे तु पुराणोक्तः कलवागम-सम्भवः॥

आगम

आगम शब्द अत्यन्त व्यापक अर्थ रखता है। प्राय: समस्त शास्त्रों में प्रामाणिक सिद्धि के लिये आगम शब्द का व्यवहार होता है। त्रिपुरारहस्य में तो कहा गया है कि वेद निश्चित ही आगम भाग है। आचार्य अभिनव गुप्त ने कहा है कि आगम तो अनवच्छिन्न माहेश्वर प्रकाश-परमार्थ है—"**आगमस्तु अनवच्छिन्नप्रकाशपरमार्थः**" इस दृष्टि से अभिनवगुप्त पादाचार्य ने आगमों के प्रमाण को अनवच्छिन्न स्वीकार किया है। आगमों को सर्वविद्याओं की जन्म-भूमि तक कहा गया है। आगम शब्द **आसमन्ताद् अर्थं गमयति** इस व्युत्पत्ति के द्वारा साक्षात् भगवान शिव के मुख से निःसृत माना गया है[1]—

आगतं शिव-वक्त्रेभ्यो गतं च गिरिजाश्रुतौ।
तदागम इति प्रोक्तं शास्त्रं परमपावनम्॥

यही बात यामल में[2] कही गयी है इस रूप में—

आगतं शिव-वक्त्रेभ्यो गतं च गिरिजा श्रुतौ।
मतं श्री वासुदेवस्य तस्मादागम उच्यते॥

आगम हिन्दू धर्म में विशिष्ट शास्त्रों (वेद, धर्मशास्त्र एवं पुराण) की तरह

---

1. विस्तार के लिये द्र० **आगम-मीमांसा**: व्रज वल्लभ द्विवेदी, विमर्शवेदिका (संपादकीया)।
2. आचार्य श्री सरयू प्रसाद द्विवेदी प्रणीत **आगम रहस्यम्** (पूर्वार्द्ध) की प्रस्तावना पृ० 2 पर उद्धृत है, तत्ववैशारदी (1·7) में वाचस्पति मिश्र का तद्‌विषयक वचन—"आगच्छन्ति बुद्धिमारोहन्ति यस्माद् अभ्युदयनिःश्रेय-सोपायाः स आगमः।"

एक शास्त्र है जिसकी विभिन्न परम्परायें हैं और तदनुसार मन्दिर एवं गृहकल्प (कर्मकाण्ड) के विविध विधान हैं। मूल प्रश्न यह है कि धर्म के जो सत्य हैं, किस प्रकार उनका साक्षात्कार किया जाय? इसका उत्तर है—'साधन'। यह साधन-शास्त्र ही तन्त्र अथवा आगम कहलाता है जिसके विभिन्न सम्प्रदाय हैं, जो जीवन के विशिष्ट मार्ग और आत्मानुशासन के लिए अभ्यासोपयोगी सैद्धान्तिक उपदेश रूप में प्रतिफलित हैं। वस्तुतः यही आगम का मूल उत्स है।

आगम और तन्त्र अलग शब्द होकर भी मूलतः एक ही अर्थ का प्रतिपादन करते हैं। शास्त्र सन्दर्भ में जहाँ तक इनके मूलभूत सिद्धान्तों का प्रश्न है, तन्त्र-शास्त्र ऐसा कोई उपदेश नहीं देता जो भारतीय दर्शन में सारभूत प्राप्त न हो। आगम अथवा तन्त्रशास्त्र वेद-वेदान्त और षड्दर्शनों को अस्वीकारता नहीं। यह मीमांसकों के शब्द-सिद्धान्त को अपने ढंग से स्वीकार करता है। इसी तरह सांख्य एवं योगदर्शनों के पुरुष और प्रकृति तत्वों के प्रति भी इसकी स्वीकृति है। जहाँ तक कर्मकाण्डीय विधान का प्रश्न है, हिन्दू धर्म में स्वीकृत सामान्य कर्मकाण्ड-पूजा-पद्धति उदाहरण के लिए न्यास, मन्त्र-पूजा-ध्यान इत्यादि, साथ ही अनेक वैदिक धर्म-कृत्य, विभिन्न संस्कारों और होम के प्रति भी इसकी आस्था है। चूँकि कलियुग में वैदिक कर्मकाण्ड सम्पादित करने की लोगों में सामर्थ्य नहीं है, अस्तु सामर्थ्य और सीमा के अनुरूप तन्त्रशास्त्र अपना अलग ही साधन-शास्त्र प्रस्तुत करता है जो जीवन में प्रसन्नता एवं मुक्ति का प्रदायक है।[1]

यहां शिव का तात्पर्य निश्चय ही परम्ब्रह्म परमेश्वर से है और इसमें भी सन्देह नहीं है कि आगम और तन्त्र वेदों के समान ही भारतीय सांस्कृतिक चेतना के मूल स्रोत कहे जा सकते हैं। किन्तु संहिता, आगम और तन्त्र इस दृष्टि से बड़े भ्रामक हैं कि वे शास्त्र विशेष से ही सम्बद्ध माने जाएँ। जैसा कि भारतीय साहित्य के इतिहासकार डॉ० विन्तरनीत्ज ने लिखा है कि संहितायें वैष्णवों की, आगम शैवों की और तन्त्र शाक्तों के पवित्र शास्त्र रहे हैं।[2] विन्तरनीत्ज की यह बात इसलिए भी अप्रासंगिक लगती है कि आगम, संहिता और तन्त्र कहने से मत विशेष के शास्त्र का ही बोध नहीं होता। हम जानते हैं कि अनेक पाञ्चरात्र संहिताओं में संहिता, आगम व तन्त्र शब्द एक ही अभिप्राय को व्यक्त करते हैं और एतदर्थ वेद और श्रुति जैसे शब्द भी प्रयुक्त होते रहे हैं। इस सन्दर्भ में हमने द्वितीय अध्याय के आरम्भ में पाञ्चरात्र नाम विषयक प्रसंग में विस्तृत प्रकाश डाला है। यहां यह ध्यातव्य है कि पाद्म संहिता पाद्म

1. सीतापद्मनाभन्, **श्री प्रश्न संहिता**, इन्ट्रोडक्शन, पृ० 1 एवं आगे।
2. द्रष्टव्य, **प्राचीन भारतीय साहित्य** (हिन्दी संस्करण), भाग-1, खण्ड-2, पृ० 245, दिल्ली, 1966

तन्त्र के नाम से भी जानी जाती है। भागवत्पुराण[1] में निर्दिष्ट किया गया है कि सात्वत तन्त्र, सात्वत संहिता तथैव लक्ष्मी तन्त्र पांचरात्र संहिता ही है। आगम और तन्त्र एक ही परम्परा के बोधक हैं तथापि प्रथमत: आगम पुन: तन्त्र शब्द एवं उसके अभिप्राय पर हम आगे विचार करेंगे।

ज्ञातव्य है कि हयशीर्ष पाञ्चरात्र और अग्निपुराण में पाञ्चरात्र संहिता को तन्त्र शब्द से ही संकेतित किया गया है न कि संहिता पद द्वारा। वास्तव में आगम, संहिता और तन्त्र—ये सभी एक अर्थ में प्रचलित रहे हैं और जैसा कि हमने इस ग्रन्थ के अगले अध्याय के आरम्भ में ही विवेच्य पाञ्चरात्रागम—नाम पर उपलब्ध स्रोत-सन्दर्भ प्रस्तुत किया है तदनुसार वैष्णव पाञ्चरात्र श्रुति, एकायन, वेद, शास्त्र, संहिता, सिद्धान्त, तन्त्र, आगम प्रभृति अनेक नामों से ज्ञातव्य है।

वैष्णव आगम : विविध परम्परायें

वैष्णव धर्म के आगम शास्त्र को वैष्णव नाम इसलिए दिया जाता है क्योंकि इस मत के अनुसार सर्वोच्च सत्ता विष्णु में निहित है। वस्तुत: वैष्णव शब्द इस धर्म के लिए बहुत बाद में प्रयुक्त होने लगा। महाभारत के स्वर्गारोहण पर्व (6·5·97) में सर्वप्रथम इस शब्द का उक्त अर्थ में प्रयोग हुआ। इस पर्व का रचनाकाल लगभग 300 ई० अथवा कुछ पूर्ववर्ती माना जाता है।[2] **विचक्रमाणस्त्रेधो रुगाय:** अथवा **यस्योरूषु त्रिषु** इन ऋग्वेदीय (विष्णु-सूक्त 1·154) वचनों में त्रिविक्रम विष्णु के व्यापकत्व और उनके वामावतार के संकेत-सूत्र की झलक है। नारायण व वासुदेव शब्दों की अर्थवत्ता उन्हें व्यापक ब्रह्म के स्वरूप में प्रस्तुत करती है : '**वासुदेव: सर्वमिति**" (श्रीमद्-भगवत गीता, 7·19) अथवा **आपोनारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनव:। ता यदस्यायनं पूर्वं तेन नारायण: स्मृत:** (मनु; 1·10) इसके प्रमाण हैं। पुन: पाञ्चरात्र संहिताओं में यह स्वीकृति, कि वे नारायण विष्णु द्वारा प्रोक्त हैं, भी ध्यान देने योग्य है। इस विषय पर हमने अन्यत्र विचार किया है। अस्तु यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि वैष्णव आगम की प्रमुख परम्परायें कौन हैं?

---

1. **भागवत**, 13-8
2. द्र०, सुधाकर चट्टोपाध्याय : **इवोल्यूशन आफ हिन्दू सेक्ट्स**, पृ० 24; इस धर्म के अन्य नामों वासुदेवक, भागवत, सात्वत, एकांतिन और पाञ्चरात्रिक के लिए द्र०, तत्रैव, पृ० 24-25 एवं आगे।

सनत्कुमार संहिता में वैष्णव मंत्रों को त्रिविध बताया गया है—वैदिक, तांत्रिक तथा वैदिक-तांत्रिक।[1] इस संहिता के ऋषि रात्र का एक उल्लेख ध्यातव्य है—**वैदिकास्तान्त्रिकाश्चैव तथा वैदिकतान्त्रिका.** ।

वशिष्ठ संहिता[2] भी इस प्रसंग में उद्धरणीय है—

वैदिकं तांत्रिकं चैव तथा वैदिक तांत्रिकम् ।
मिश्रितं वैदिकं मन्त्रैः तस्मात् वैदिक तान्त्रिकम् ॥

ध्यान देने योग्य बात यह है कि हारीत ने अपने धर्मशास्त्र में कहा है—**श्रुतिश्च द्विविधा—वैदिकी तांत्रिकी च**।[3] उल्लेखनीय है कि भागवत पुराण[4] में वैदिक तान्त्रिक और मिश्र—इन तीन प्रकार के मंत्रों की चर्चा है—

वैदिकस्तान्त्रिको मिश्र इति में त्रिविधो मखः ।
त्रयाणामीप्सितेनैव विधिना माम समर्चयेत् ॥
एवं क्रिया योग पथैः पुमान् वैदिक तांत्रिकैः ।
अचर्यन्नुभयतः सिद्धि मत्तौ विन्दत्यमीप्सितम् ॥

इस प्रकार का विभाजन शैवागमों में भी देखा जा सकता है।[5]

वैष्णव आगम आज मुख्यतः तीन भागों में बँटा हुआ है—वैखानस, पाञ्च-

---

1. **सनत्कुमार संहिता**, ऋषिरात्र (9·7); आनन्द संहिता (9·5) में भी यह विभाजन स्वीकृत है—
   निगमास्तांत्रिको मिश्रस्त्रिविधः प्रोक्तः आगमः ।
   निगमो विखनः प्रोक्तः मिश्रः भागवतः स्मृतः ॥
2. **वशिष्ठ संहिता**, 13. 16-17
3. **लिंग धारण चन्द्रिका**, पृ० 240 पर उद्धृत
4. **भागवतपुराण**, 11·27·7, 49
5. शिवपुराण (उत्तर भाग, 24·177-178) की वायु संहिता में कहा गया है—
   शिवागमोऽपि द्विविधः श्रौतो श्रौतश्च सांस्म्रितः ।
   श्रुति सारमयः श्रौतः स्वतंत्र इतरस्मृतः ।
   तांत्रिकं वैदिकं मिश्रं त्रिधा पाशुपतं शुभम् ।
   तप्तलिंगाकशूलादिधारणं तांत्रिकं मतम् ॥
   लिंगरूद्राक्षभस्मादिधारणं वैदिकं भवेत् ।
   रविं शम्भु तथा शक्तिं विघ्नेशं च जनार्दनम् ॥
   यजन्ति समभावेन मिश्रं पाशुपतं हि तत् ।
   द्र०, डा० विश्वम्भर शरण पाठक, **हिस्ट्री ऑफ शैव कल्ट्स इन नार्दर्न इण्डिया**, पृ० 2 पाद टिप्पणी 3 पर उद्धृत कूर्म पुराण का एक श्लोक ।

रात्र एवं भागवत ।[1] प्रसिद्ध तांत्रिकाचार्य भास्कर राव के द्वारा उद्धृत प्रमाण के आधार पर वैष्णवागमों के अन्तर्गत भागवत सम्प्रदाय की पृथक सत्ता सिद्ध है। और श्रीमद्भागवत इसी संप्रदाय का ग्रंथ है जिसकी रचना सम्भवतः तन्त्र भागवत के आधार पर की गयी है। मध्वाचार्य ने अपने ग्रन्थों में तंत्र भागवत को उद्धृत किया है। प्रायः 15वीं, 16वीं, शताब्दी के आस-पास संकलित ग्रंथ शक्ति-संगम तंत्र (काली खण्ड, 8.38-40, पृष्ठ 96) में वैष्णवों के दस विभाग दिये गये हैं—1. वैखानस, 2. राधावल्लभ, 3. गोकुलेश, 4. वृन्दावनी, 5. पांचरात्र, 6. वीर वैष्णव, 7. रामानन्दी, 8. हरिव्यासी, 9. निम्बार्क, 10. भागवत। इसमें सन्देह नहीं कि पाञ्चरात्र आगम विपुल वाङ्मय प्रस्तुत करता है और इसकी बड़ी लम्बी परम्परा है। अनेक बार इसके लिए ही भागवत धर्म संज्ञा दी गयी है, इस प्रसंग में हमने अन्यत्र (नाम, निर्वचन, प्रामाण्य शीर्षक अध्याय में) विचार किया हैं।

वैष्णवागम की दो प्रमुख धाराएं

साधारणतया वैष्णवागम की दो परम्परायें हैं—1. वैखानस, 2. पाञ्चरात्र, जिन्हें क्रमशः वैदिक व तांत्रिक भी कहा जाता रहा है।

(अ) वैखानस

इस परम्परा के मूल उद्गाता ऋषि का नाम था "विखना", इन्हें ही ब्रह्मा का ही एक रूप समझा गया है।[2] इस कुल की मूलोत्पत्ति सम्बन्धी एक रोचक गाथा मिलती है। शौनकीय बृहद्देवता में यास्क ने भी इस गाथा का स्मरण किया है। गाथानुसार अंगिरा-भृगु, अत्रि और वैखानस की उत्पत्ति अग्नि से हुई।[3]

---

1. व्रजवल्लभ द्विवेदी, **आगम और तंत्र शास्त्र**, पृ॰ 36-37
2. आदिकाले तु भगवान् ब्रह्मा तु विखना मुनिः।
   यजुश्शाखानुसारेण चक्रे सूत्रं महत्तरम्॥ —**वैखानसविजय**, पृ॰ 16
3. त्रिसंवत्सरिकं सत्त्रं प्रजाकामः प्रजापतिः।
   आहरत्सहितः साध्यैर् विश्वैर्देवः सहेति च॥
   तत्र वाग्दीक्षणीयायाम् आजगाम शरीरिणी।
   तां दृष्ट्वा युगपत्तत्र कस्याथ वरुणस्य च॥
   शुक्रं चस्कन्द तद्वायुर् अग्नौ प्रास्यदृच्छया।
   ततोऽर्चिभ्यो भृमुर्जज्ञे अंगारेष्ववंगिराः ऋषिः॥
   प्रजापति सुतौ दृष्ट्वा दृष्टा वागभ्यभाषत।
   आभ्यामृषिस्तृतीयोऽपि भवेदत्रैवः मे सुत॥
   प्रजापतिस्तथेत्युक्तः प्रत्यभाषत भारतीम्।
   ऋषिरत्रिस्ततो जज्ञे सूर्यानलसमद्युतिः॥ —**बृहद्देवता**, 5·97-101

वैखानस आगम के मूल अधिष्ठाता विखना अथवा ब्रह्मा माने गये हैं। जिन्होंने अत्रि, मारीचि, कश्यप एवं भृगु नामक अपने शिष्यों के द्वारा शास्त्र का प्रवर्तन किया था। ज्ञातव्य है कि अत्रि एवं मारीचि संहितायें वैखानस आगम के प्रमुख पूजा-स्थल तिरुपति के श्री वेंकटेश्वर मन्दिर द्वारा प्रकाशित की जा चुकी हैं। भृगु संहिता भी इन्हीं का प्रकाशन है। इसके अलावा मद्रास से वैखानस ग्रंथमाला सिरीज के अन्तर्गत तेलगु लिपि में इस सम्प्रदाय की कम-से कम दस अन्य कृतियां प्रकाशित हैं। मारीचिकृत वैखानस आगम, त्रिवेन्द्रम संस्कृत सीरीज (सं० 129) से, के० साम्ब शिव शास्त्री द्वारा सम्पादित और 1935 में प्रकाशित। पाञ्चरात्र-रक्षा के विख्यात लेखक वेदान्तदेशिक ने सज्जन वैभव शीर्षक से वैखानस परम्परा में भी एक ग्रंथ का प्रणयन किया था।

यास्क ने वैखानस शब्द की जो निरुक्ति की है तदनुसार **विखननाद् वैखानस** (निरूक्त 3.17)। कालान्तर में अपनी कृति वैखानस विजय में उत्तभूरवीर राघवाचार्य ने इस शब्द का विलक्षण निर्वचन प्रस्तुत किया—**विशेषेण खननाद् गभीरार्थोद्धरणात् विशिष्टवैष्णवधर्मावधारणैपयिकमीमांसविशेषाद् विखना इति विखनसः इति चोच्यते इति ज्ञायते**।[1]

राघवाचार्य का यह निर्वचन वैखानस मत की प्रतिष्ठा और विशिष्ट वैष्णव धर्मावधारणा की दृष्टि से किया गया है। वस्तुतः इसकी वैदिक परंपरा से पवित्र अग्नि-वेदिका के खनन से व्युत्पन्न वैखानस नाम पर प्रभाव पड़ता है। गाथानुसार दक्ष और वरुण के यज्ञ से प्रसन्न होकर वाक् देवी साक्षात् प्रकट हो गयी। उसे देखकर दक्ष व वरुण का वीर्य स्खलित हो गया जिसे वायु ने अपने प्रभाव से प्रज्वलित यज्ञ कुण्ड में गिरा दिया। अग्नि की लपटों में जो वीर्य कण भुज गया उससे भृगु और अंगार से अंगिरा उत्पन्न हुए[2]—

ततोऽर्चिभ्यो भृगुर्जज्ञे अङ्गारेष्वङ्गिरा ऋषिः।

वाक् के यह कहने पर "अत्रि"=तृतीयोऽपि भवेद्त्रैव अर्थात् यहीं तीसरा भी—"अत्रि" का जन्म हुआ। कुछ आचार्यों ने अत्रि का अर्थ किया है—अ+त्रि अर्थात् न+त्रि=चतुर्थोऽपि=वैखानस (**विखननात् जायतेति वैखानसः**)।[3] इस दृष्टि से अग्नि-कुण्ड के खनन से वैखानस की उत्पत्ति उक्त गाथानुसार मानी जाती है जो यास्क के निरूक्त और शौनक के वृहद्देवता में सुरक्षित है।

---

1. **वैखानसविजय**, पृ० 15, कालिया; **लक्ष्मी तंत्र-धर्म और दर्शन**, पृ० 14
2. **वृहद्देवता**, 5·99
3. **द्रष्टव्य, यास्क कृत निरूक्त**, 3·17

वैखानस वस्तुत: वैदिक ऋषि विखनस का अपत्यवाची नाम है और इस नाम से ही इस परम्परा को वैखानस कहा और समझा गया। बाद में वैखानस आचार्यों ने इसकी महिमा को बड़े विस्तार से प्रस्तुत किया है। वैखानस विजय में भगवान नारायण तथा वैखानस में पिता-पुत्र के सम्बन्ध को इंगित किया है।

अन्यत्र वैखानस और ब्रह्मा को एक ही पिता नारायण का पुत्र बताया गया मतानुयायी है।[1] कहीं-कहीं पर ब्रह्मा को वैखानस कहा गया है, संभवत: इसीलिए सम्भावना व्यक्त की जाती है कि नारायण से विखनस के आगमों का उपदेश पाकर ब्रह्मा वैखानस कहलाये क्योंकि ब्रह्मा की उत्पत्ति नारायण के नाभि-पद्म से मानी गयी है।[2]

इसमें सन्देह नहीं कि विखनस अत्यन्त प्राचीन ऋषि का नाम है। श्री के० साम्बशिव शास्त्री ने वैखानस आगमों को कम से कम सातवीं शताब्दी ई० पू० तक माना है। मरीचि प्रोक्त वैखानस आगम, जिसका सम्पादन के० साम्ब शिव शास्त्री ने किया, इस परम्परा की अत्यन्त प्राचीन आगमिक कृति है जो "मरीचि रुवाच" से आरम्भ होकर "इत्याह मरीचि:" से समाप्त होती है। ऐसा लगता है कि मरीचि इस परम्परा के उद्गाता और प्रवर्त्तक गुरु रहे हैं। इसकी पाण्डुलिपि पर "वैखानस मरीचि प्रोक्तं" अंकित है।[3] ऐसा लगता है कि वैखानस एक जन-समूह का नाम है जिसका अपना धार्मिक आचरण रहा है। कवि कुल शिरोमणि कालिदास ने शकुन्तला के वैखानस व्रत की चर्चा की है।[4]

वैखानस विजय के अनुसार तैत्तिरीय शाखा और वैखानस शाखा संभवत: एक ही है। इसकी परम्परा के अनुसार वैखानस सूत्र वेद-विरुद्ध न होने के कारण स्वयं प्रमाण हैं। इन सूत्रों का मूल वैखानस शाखा है। अस्तु वैखानस विजय का उक्त कथन विचारणीय है। तदनुसार यह सम्भव है कि विखनस एक अत्यन्त प्राचीन ऋषि का नाम था जो वैखानस धर्म-प्रश्न के सूत्रकार और अन्य धार्मिक कृत्यों के प्रणेता के रूप में जाने जाते हैं। उन्होंने वैखानस नाम

1. **वैखानसविजय**, पृ० 16
2. नारायणोब्रह्मणे आह सर्व वैखानसं वैदिकमन्त्रयुक्तम्, (प्रतिष्ठा विधि-दर्पण, वैखानस आगम:, प्रीफेस, पृ० 2); कालिया, तत्रैव, पा० टि०, 3 पर उद्धृत।
3. के० साम्ब शिव शास्त्री, **तत्रैव**, प्रीफेस, पृ० 1
4. वैखानसं किमनया व्रतमाप्रदानाद्।
   व्यापार रोधि मगनस्य निषेवितव्यम्॥ —**अभिज्ञान शाकुन्तलम्**, 4.27

की धार्मिक एवं आगमिक परम्परा का प्रवर्तन किया तथा जिसे उनके शिष्यों मरीचि तथा अन्य ने विस्तार दिया। मरीचि सुविख्यात सप्त ऋषियों में से एक थे और विखनस ऋषि का काल निश्चय ही अत्यन्त पुरातन माना जा सकता है।

पूर्वोक्त शाखा-सन्दर्भ में कहा जा सकता है कि वैखानस शाखा यजुर्वेद की एक शाखा होने के कारण वेद सम्मत है अतः वैखानस आगम सर्वथा प्रामाण्य है। यदि ऐसा न होता तो जगद्गुरु शंकराचार्य अपने ब्रह्मसूत्र-भाष्य में वैखानस आगमों के विषय में मौन न रहते। इस सन्दर्भ में उत्तमूर वीर राघवाचार्य का कथन उद्धरणीय है—**अत एव शांकरभाष्येऽपि पाञ्चरात्रस्येषदंशे प्रामाण्यमानिनि भगवतर्चनपद्धतिप्रदर्शकस्य पाञ्चरात्रस्य कथमप्रामाण्यमित्यप्रामाण्यमुखेन वैखानस-प्रामाण्यस्याप्रकम्प्यत्वमसूचि** (वैखानस विजय, पृ० 18 पर उद्धृत)।

वैखानस आगम का वेद सम्मत होना वेदान्त देशिक ने भी स्वीकार किया है।[1] वैखानस सूत्रों के आधार पर इस परम्परा के जिन चार महर्षियों ने आगमों की रचना की है, उनके नाम हैं—काश्यप, भृगु, मारीचि एवं अत्रि।

> वैखानसविधिश्चैव चतुर्धा भवति द्विजाः।
> आत्रेयः काश्यपीयश्च मारीचो भार्गवस्तथा॥
> एतैर्वैखानसं प्रोक्तं सूत्रं वैखानसं स्मृतम्।
> एषां चतुर्विधानां तु मूले तत्सूत्रमेव यत्॥
>
> —वैखानसविजय, पृ० 14 पर उद्धृत।

इस प्रकार महर्षि विखनस और उनके अनुयायियों (वैखानस) ने वैखानस आगम की प्रतिष्ठा क्रमशः की। आजकल वैखानस मतावलम्बी सर्वाधिक आन्ध्र प्रदेश में है। अधिकांशतया वैखानस मतानुयायी दक्षिण भारतीय हैं। 108 वैष्णव दिव्य देशों में वैखानस दिव्य देशों की संख्या पर्याप्त है, ये सभी दक्षिण भारत में हैं। उन दिव्य देशों में वैखानस आगम के अनुसार ही आराधना होती है।[2] तिरुपति उनका सर्वप्रमुख दिव्यदेश माना जाता है जिस प्रकार पाञ्चरात्रिकों का प्रमुख दिव्य देश है श्रीरंगम्।

इसमें सन्देह नहीं कि वैखानस आगम और उसका प्रतिपाद्य भी अत्यन्त व्यापक है जो साम्ब शिव शास्त्री द्वारा उद्धृत नरसिंह वाजपेयी के प्रतिष्ठाविधि दर्पण के निम्नलिखित वचनों से स्पष्ट है—

> ज्ञानात्मकं काश्यपसत्यकाण्डं संज्ञानकाण्डं खलु तर्क काण्डम्।
> काण्डेषु पंचस्वपि काश्यपोऽष्टा श्चतुष्षष्टिसहस्त्रसंख्याः॥

---

1. **न्याय परिशुद्धि**, शब्द, द्वि, पृ० 169
2. विस्तार के लिए द्रष्टव्य, कालिया, **तत्रैव**, 17-18 एवं आगे।

छत्रं यतन्त्रोत्तरतन्त्रनामा विष्णवारूपतन्त्र खलु पूर्वतन्त्रम् ।
अत्रिप्रणीतं सककं च पद्य मष्टोत्तराशीतिसहस्रसंख्यम् ॥
खिलं पुरातन्त्रकवासचित्रमानक्रियार्चाध्वरवर्णकीर्णा: ।
प्रगृह्य नैरुक्तखिलाधिकारं भृगूदितास्तेष्वपि पूर्वसंखया: ॥
जयाह्वया···ष्टसंहिता च संज्ञानकाख्या विजया··· ।
मरीचिनोक्ता विजयाभिधानसत्याह्वयाष्टास्वपि लक्षपद्मम् ॥
एतानि संवीक्ष्य मरीचिमार्गात् सर्व प्रतिष्ठाविधिदर्पणाख्यम् ।
प्रयोगसौकर्यनिदानभूतं वक्ष्याम्यहं सर्वमिहाङ्कुराद्यम् ॥

वैखानस एवं पाञ्चरात्र—वैखानस एवं पाञ्चरात्र आगमों में परस्पर निन्दा-वचनों के साथ स्व-शास्त्र-प्रशंसा के अधिकांश उल्लेख मिलते हैं।[1] वैखानस आगम अपने को सौम्य और पाञ्चरात्र को आग्नेय कहते हैं, यथा—

वैखानसं सौम्यं आग्नेयं पाञ्चरात्रम् ।[2]

अथवा

आग्नेयं पञ्चरात्रं तु दीक्षा युक्तं च तांत्रिकम् ।
अवैदिकत्वात् तत्तन्त्रं त्यक्त्वा वैखानसेन तु ॥
सौम्येन वैदिकेनैव देवदेवं समर्चयेत् ।[3]

विमानार्चन कल्प[4] में द्विविध वैष्णव धाराओं का स्पष्ट उल्लेख हैं—

वैष्णवं द्विविधं वैखानसं पाञ्चरात्रमिति ।
वैखानसं वैदिकं वैदिकैरर्चितम् ॥
अहैकामुष्मिक फलप्रदयं, पाञ्चरात्राग्नेयं ।
अवैदिकं, आमुष्मिक फलप्रदम् सौम्यं सर्वत्र सम्पूयज्म् ॥

यही बात आनन्द संहिता (13.43-44) में वैखानस की श्रेष्ठता व्यक्त करते हुए की गयी है—

---

1. द्र०, **श्री पाञ्चरात्र रक्षा**, पृ० 23-26
2. द्र०, **काश्यप संहिता**, (ज्ञानकाण्ड), पृ० 171
3. द्र०, पाञ्चरात्र रक्षा, प्रथमोधिकार, पृ० 23, खिलाधिकार (14·1-2) में भी पाञ्चरात्र तांत्रिकत्व और वैखानस के वैदिकत्व का निर्देश है—
   विष्णोस्तंत्रं द्विधा प्रोक्तं सौम्यमाग्नेयमित्यपि ।
   सौम्यं वैखानसं प्रोक्तमाग्नेयं पाञ्चरात्रकम् ॥
   सौम्याग्नेये तथा प्रोक्ते शास्त्रे वैदिक तांत्रिके ।
4. **विमानार्चनकल्प**, पटल 17, पृ० 467

वैखानसं पाञ्चरात्रं वैदिकं तान्त्रिकं क्रमात् ।
तयोर्वैखानसं श्रेष्ठमैहिकामुष्मिकप्रदम् ॥
वैखानसेन तन्त्रेणं देवदेवस्य शार्ङ्गिणः ।
अर्चनं सर्वशान्त्यर्थं राजराष्ट्र विवर्धनम् ॥
तान्त्रिकं पूजनं चैव राजराष्ट्रविनाशनम् ।

ध्यातव्य है कि इसी प्रकार पाञ्चरात्र में भी वैखानसों की निन्दा मिलती है । उदाहरण के लिए पाञ्चरात्र रक्षा में तन्त्रसार सम्मुच्चय का निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किया गया है—

अश्रीकरमसौम्यं च वैखानसमसात्विकम् ।
तद्विधानं परित्यज्य पाञ्चरात्रेण पूजयेत् ॥

इस तरह परस्पर निन्दा और स्व-स्वशास्त्र प्रशंसा आगमों, तन्त्रों के विभिन्न पन्थों में दिखाई देती है बल्कि यह परम्परा बड़ी पुरानी है ।[1] वास्तव में वैखानसों एवं पाञ्चरात्रिकों के परस्पर विषयों के सम्वाद दिखाई देते हैं । दोनों ही विषयों के परमानुयायी रहे हैं । उदाहरण के लिए पाञ्चरात्र में वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध भगवान के ही चतुर्व्यूह भेद माने जाते हैं तो वैखानस में पुरुष, सत्य, अच्युत एवं अनिरूद्ध नामक व्यूह भेद प्रतिपादित है। पाञ्चरात्र आगम विधि का प्रमुख पूजास्थल श्रीरंग, हस्तिशैल आदि में तो वैखानस विधि से वेंकटाद्रि भगवान की आराधना की जाती है । दोनों ही विधियां सर्वास्तिक सम्प्रतिपन्न हैं । इसके अतिरिक्त पर, व्यूह, विभव, अर्चा एवं अन्तर्यामी—इन पञ्च विभागों की व्यवस्था समान रूप से दिखाई देती है ।

पाञ्चरात्रागमों में वैखानस—पाञ्चरात्र संहिताओं में वैखानस की चर्चा प्रायः पाञ्चरात्र विरुद्ध हुई है । सामान्यतः दोनों को भिन्न परम्परा माना जाता है किन्तु पाञ्चरात्र साहित्य कभी इनके परस्पर विरुद्ध तो कभी एक ही परम्परा की दो सरणि (धारा) के रूप में दिखाई देते हैं। न्याय परिशुद्धि (पृ० 169 पर उद्धृत) में **विष्णोस्तन्त्रं द्विधा प्रोक्तम्** इस तरह के वचनों से दोनों ही आगमों की प्रामाणिकता सिद्ध होती है । जिस प्रकार श्रीरंगम् को पाञ्चरात्र का दिव्यदेश माना जाता है उसी प्रकार वैखानस का दिव्य देश तिरुपति रहा है । दोनों ही दिव्य देश समान रूप से प्रामाणिक एवं पूज्य माने गये हैं । यहां यह उल्लेखनीय है कि वैखानस श्रीवैष्णवों का आगम सम्प्रदाय है। पाञ्चरात्र वाङ्मय कभी इनसे अपनी मित्रता प्रकट करते हैं तो कभी शत्रुता—निन्दा वचन ।

---

1. द्रष्टव्य, उपोद्घात, **लक्ष्मी तन्त्र**, सम्पादक वी० कृष्णमाचार्य, पृ० 7-8

अगस्त्य संहिता में वैखानस को असात्वत कहा गया है जबकि पाञ्चरात्र को वेद सम्मत ।[1] अतः पाञ्चरात्र को सात्वत संज्ञा मिली है । अनिरुद्ध संहिता के अनुसार अगर पाञ्चरात्र मन्दिर में कोई वैखानस कृत्य सम्पादित हो जाय तो उसका शुद्धीकरण अपेक्षित है ।[2] ईश्वर संहिता में पाञ्चरात्र, वैखानस को सात्वत एवं राजस की संज्ञा दी गयी है ।[3] इसी संहिता में अन्यत्र अनिरुद्ध संहिता के समान वैखानस कृत्य सम्पादन के उपरान्त पाञ्चरात्र मन्दिर के शुद्धिकरण की बात कही गयी है ।[4] एक उल्लेख के अनुसार वैखानस की गणना शैवागम पद्धति के अनुसार की गयी है ।[5]

पराशर संहिता के अनुसार अनुष्ठान चाहे मन्दिर में हो या घर में पाञ्चरात्र पद्धति के अनुसार होनी चाहिए न कि वैखानस पद्धति से[6] । इसी संहिता के बचनानुसार स्नपन विधि पाञ्चरात्र व वैखानस दोनों सम्प्रदायों को मान्य है ।[7] इसी संहिता के अनुसार दोनों की प्रतिष्ठा के विधान भी समान हैं ।[8] पाद्म संहिता के चर्यापाद में यह निर्देश है कि यदि कोई वैखानस प्रतिमा का स्पर्श कर लेता है तो सम्प्रोक्षण अनिवार्य है ।[9]

---

1. अगस्त्य संहिता, अध्याय 10
2. तन्त्राणां संकरे चैव तथा शास्त्रस्य शंकरे । —**अनिरुद्ध संहिता**, 29·16 ब
3. स्वविकल्पात्प्रणीतं यत् तत्सर्वं राजसं स्मृतम् ।
   तत्स्याद् द्वेधा पाञ्चरात्र वैखानसविभेदतः ॥ —**ईश्वर संहता**, 1·62
4. पञ्चरात्रोक्त मार्गेण पूज्यमाने प्रतिष्ठते ।
   वैखानसैः पूजिते तु प्रतिष्ठां पुनराचरेत् ॥ —**तत्रैव**, 19·458
5. वैखानसेषु तंत्रेषु शैवपाशुपतेषु च ।
   विहितान्यत्र जातानि विरुद्धानीति किं पुनः ॥ —**तत्रैव**, 21·587
6. **पराशर संहिता**, 4·86
7. **तत्रैव**, 14·38-39
8. **तत्रैव**, 21·2
9. **पाद्म संहिता**, चर्यापाद, अ० 17. 42-44; इस सन्दर्भ में दो श्लोक कुछ पाण्डुलिपियों में अधिक मिलते हैं वे इस प्रकार हैं—
   प्रतिलोमानुलोमैश्च सूतैश्च रथकारकैः ।
   वैखानसैश्च संस्पृष्टे भार्गवागमपूजकै. ॥
   शैवादिभिश्च पाषाण्डैर्ब्रह्महत्यादिदूषितैः ।
   क्षयापस्मारिकुष्ठाद्यैः कृच्छ्रिभिर्मूलरोगिभिः ॥ द्र० पाद टिप्पणी, पृ० 222

इसी प्रकार पारमेश्वर संहिता में वर्णन आता है कि अगर एक मन्दिर वैखानस विधि से संचालित है तो पाञ्चरात्र कर्मकाण्ड को प्रभावी बनाने के लिए एक नवीन प्रतिष्ठा कर्म करणीय है।[1] विष्णु तिलक के अनुसार सात्वत से जुड़ा व्यक्ति दूसरी तांत्रिक विधियों का अभ्यास कर सकता है लेकिन उसके विपरीत नहीं।[2] शाण्डिल्य संहिता के वचनानुसार वैखानस को 'श्रौत' एवं पाञ्चरात्र को 'आगम' की संज्ञा मिली है।[3] शेष संहिता के अनुसार पाञ्चरात्र एवं वैखानस के बीज मंत्रों को नहीं मिलाना चाहिए।[4] इसी तरह सनत्कुमार संहिता में भी वर्णन मिलता है।[5]

(ब) पाञ्चरात्र : आरम्भिक इतिहास : नारायण एवं पाञ्चरात्र : मूलार्थ एवं अभिप्राय

पञ्जरात्र शब्द अत्यन्त प्राचीन है। यह एक यौगिक शब्द है। इसका प्रथम उल्लेख शतपथ-ब्राह्मण के पुरुषमेध के प्रसंग में हुआ है।[6] शतपथ ब्राह्मण के इस परिच्छेद के देवता नारायण बताये गये हैं और इस ब्राह्मण के प्रथम मंत्र में ही कहा गया है--"**पुरुषो ह नारायणो अकामयत्**..." अर्थात् पुरुष, नारायण ने कामना की कि मैं इस पुरुषमेध पञ्चरात्र यज्ञ के द्वारा समस्त जीवों में व्याप्त हो जाऊँ। यहां पुरुष शब्द नारायण का विशेषण है। ज्ञातव्य है कि ऋग्वेदीय दशम् मण्डल में जो प्रसिद्ध पुरुष सूक्त[7] मिलता है, उसके ऋषि का

1. **पारमेश्वर संहिता**, 19.549-50
2. **विष्णु तिलक**, 1·162
3. श्रौतं वैखानसाद्युक्तं स्मार्तं प्रोक्तं वशिष्ठकैः।
   रहस्यं पञ्चरात्रोक्तमागमं मुनयो जगुः॥
   —**शाण्डिल्य संहिता**, भक्ति खण्ड, 1·3·63
4. **शेष संहिता**, 19·2-4.
5. शिशिरे खशयाः केचिद्वसन्ते स्थानमाश्रिताः।
   पादेनैकेन तिष्ठन्ति केचिद्वैखानसा नरा.॥
   —**सनत्कुमार संहिता**, (ऋषिरात्र), 4·63
6. पुरुषो ह नारायणो कामयत। अतितिष्ठेयं सर्वाणि भूतानि। अहमेवेदं सर्वस्यामिति। स एतं पुरुषमेधं पञ्चरात्रं यज्ञक्रतुमपश्यत्। तेनायजत। तेनेष्ट्वा, अत्यतिष्ठत् सर्वाणि भूतानि। इदं सर्वमभवत्। अतितिष्ठति सर्वाणि भूतानि। इदं सर्वं भवति। य एवं विद्वान् पुरुषमेधेन यजते। यो वा एतदेवं वेद।
   —**शतपथ ब्राह्मण**, 13·6·1
7. **ऋग्वेद**, 10·90 कुछ विद्वान पुरुष सूक्त को पश्चात्वर्ती वैष्णव-पाञ्चरात्र की आधारशिला मानते हैं। डा० एस० एन० दास गुप्त, **हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलासफी**, भाग 3, पृ० 13-14, आप्टे **पाञ्चरात्र : नेम एण्ड ओरिजीन**, पृ० 97-98.

नाम नारायण है । ऐसा प्रतीत होता है कि नारायण शतपथ ब्राह्मण के रचनाकाल तक एक विशिष्ट देवता के रूप में समादृत हो चुके थे । यह भी उल्लेखनीय है कि नारायण शब्द वैष्णव धर्म के प्रारम्भिक चरण में इस परम्परा के अधिष्ठातृ देवता के रूप में सर्वाधिक महत्वपूर्ण नाम है । विष्णु नारायण का एवं नारायण वासुदेव का तादात्म्य बाद में हुआ । महाभारत में एक स्थान पर (12.328.35) आया है—**नारायणमयनं ख्यातमहमेकः सनातनः**। इस तरह यह कहना ठीक ही लगता है कि वैष्णव धर्म के नाम से विख्यात इस धर्म में विष्णु तत्व का प्राधान्य परवर्ती विकास है और प्रारम्भिक काल में इसके सर्वोपरि देवता नारायण ही थे ।[1]

वास्तव में इस धर्म के लिए वैष्णव शब्द पहली बार महाभारत के स्वर्गारोहण पर्व (6.97) में प्रयुक्त हुआ है । महाभारत से इस अंश का रचनाकाल लगभग 300 ई० अथवा कुछ पहले माना जाता है ।[2]

ऋग्वेद में नारायण व विष्णु का कोई सम्बन्ध नहीं दिखाई देता । ज्ञातव्य है कि महाभारत में विष्णु का विश्वरूपत्व वर्णित है । पुनः श्रीमद्भगवद्गीता में कृष्ण का विराट रूप अंकित है । इस दृष्टि की मूल अवधारणा ऋग्वेदीय पुरुष सूक्त (10.90) में प्रतिबिम्बित है जहां **पुरुष** को **सहस्त्रशीर्षा, सहस्राक्ष** तथा **सहस्त्रपात्** कहा गया है और इस पुरुष तथा परवर्ती विष्णु की धारणा नारायण शब्द की श्रृंखला द्वारा जुड़ी हुई है ।[3] सर्वप्रथम कृष्ण यजुर्वेद की मैत्रायणी संहिता में हमें इन दोनों का तादात्म्य दिखाई देता है ।[4] यहां विष्णु गायत्री मंत्र मिलता है—**तत् केशवाय विद्महे नारायणाय धीमहि । तन्नो विष्णुः प्रचोदयात्** । यह गायत्री मंत्र किंचित् संशोधन के साथ महानारायण उपनिषद् में उपलब्ध है—**नारायणाय विद्महे वासुदेवाय धीमहि । तन्नो विष्णुः प्रचोदयात्** ।[5] इस उपनिषद् की रचना तीसरी शताब्दी ई० पू० मानी जाती है ।[6]

उपर्युक्त गायत्री मंत्रों के आधार पर नारायण, वासुदेव एवं विष्णु के समीकरण का बोध होता है । किन्तु भगवद् गीता में नारायण शब्द नहीं

1. सुवीरा जायसवाल, **वैष्णव धर्म का उद्भव और विकास**, पृ० 33
2. सुधाकर चट्टोपाध्याय, **इवोल्यूशन ऑफ हिन्दू सेक्ट्स** पृ० 24
3. द्रष्टव्य, गयाचरण त्रिपाठी, **वैदिक देवता उद्भव और विकास**, भाग 1, पृष्ठ 384-385
4. **मैत्रायणी संहिता**, 2·9·1
5. **महानारायण उपनिषद्**, 1·31
6. ए० बी० कीथ, **जे० आर० एस० एस०**, 1908, वा० 171

मिलता। वासुदेव कृष्ण के विशेषण के रूप में यह अवश्य उपलब्ध है, दूसरी ओर हेलियोडोरस के विदिसा अभिलेख में भागवत शब्द मिलता है।[1]

इस प्रकार ऐसा प्रतीत होता है कि ई० पू० की शताब्दियों में इस धर्म की अपेक्षा भागवत धर्म अधिक लोकप्रिय था। यह कहना कठिन है कि नारायण देवता को केन्द्र में रखकर अथवा उन्हें सर्वोच्च उपास्य देव मानकर उनकी आराधना करने की परम्परा कब वासुदेव धर्म में समाहित हुयी, जिसके उपासकों को भागवत समझा जाने लगा। हेलियोडोरस का विदिशा-अभिलेख दूसरी श० ई० पू० के अंतिम चरण का है।[2] यह अभिलेख यवन राजदूत भागवत हेलियो डोरस (दियोन-पुत्र) तच्छशिला का निवासी था। स्पष्ट है कि यह धर्म (भागवत धर्म) इस काल तक अर्थात् दूसरी श० ई० पू० तक भारत के सीमान्त तक लोक-प्रिय होने लगा था। रोचक बात यह है कि वासुदेव और नारायण की वास्तविक अवधारणा के विषय में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। वासुदेव कृष्ण और संकर्षण की उपासना मूलतः अवैदिक यानी लौकिक मानी जाती थी। उनकी पूजा का ब्राह्मणीकरण शास्त्र सम्मत देवता नारायण (विष्णु के साथ उनके एकीकरण के द्वारा हुआ। इस सन्दर्भ में महाभारत के नारायणीय खण्ड का मुख्य लक्ष्य वासुदेव-कृष्ण तथा नारायण-विष्णु के साथ तादात्म्य स्थापित करना बताया जाता है।[3]

यह भी माना जाता है कि अनार्य मूल के प्रमुख देवता नारायण बहुत प्राचीन काल में ही ब्राह्मणीकृत हो चुके थे। क्योंकि शतपथ ब्राह्मण उनका सम्बन्ध पुरुष सूक्त की एक ऋचा से जोड़ता है जो जातियों के चतुर्वर्गीय विभा-जन का उल्लेख करने वाला प्राचीनतम प्रमाण है। सुवीरा जायसवाल का निष्कर्ष है कि इससे स्पष्ट पता चलता है कि इस ग्रन्थ के रचना काल तक उनके उपासकों का कम से कम एक वर्ग, वर्ण-व्यवस्था को स्वीकार कर चुका था।

नारायण के उपासक दो प्रकार के थे तथा प्रारम्भिक अनुष्ठानों से अभी जुड़े हुए थे और पाञ्चरात्रों के नाम से विख्यात थे। दूसरे वे जो ब्राह्मणीय समाज व्यवस्था तथा वेदों के प्रमाण को स्वीकार करते थे और भागवतों के नाम से प्रसिद्ध थे। पूजा की पाञ्चरात्र विधि सम्भवतः निम्न वर्गों के बीच प्रचलित रही हो……। संभवतः भागवत धर्म की प्रगति एवं लोकप्रियता के कारण पाञ्च-

1. द्रष्टव्य, डी० सी० सरकार, **सेलेक्ट इन्सक्रिप्सन्स**, भाग-1, पृ० 96
2. सरकार, **सेलेक्ट इन्सक्रिप्सन्स**, भाग-1, पृ० 96
3. द्रष्टव्य, सुवीरा जायसवाल, **वैष्णव धर्म का उद्भव और विकास**, पृ० 157-158

रात्र धर्म का प्रभाव बहुत क्षीण होता गया और चूंकि गुप्त काल में इस सम्प्रदाय का ब्राह्मणीकरण प्रारम्भ हो ही चुका था। अतः यह अन्ततः वैष्णव धर्म में अन्तर्लीन हो गया प्रतीत होता है।[1]

सुवीरा जायसवाल ने वैष्णव धर्म के प्रारम्भिक स्वरूप का जो तर्कपूर्ण साथ ही रोचक निष्कर्ष व्यक्त किया है वह नितान्त तर्कपूर्ण कथमपि नहीं।[2] कारण नारायण और पाञ्चरात्र इन दोनों ही शब्दों के मूलार्थ का स्पष्टीकरण अद्यावधि नहीं हो सका है। नारायण शब्द के व्युत्पत्यर्थ को व्यक्त करने के लिए अनेकविध तर्क प्रस्तुत किये जाते हैं। इसकी व्युत्पत्ति कभी नर से तो कभी इसे द्रविड़ मूल का देवता मान कर नार का संबंध द्रविड़ नीर से जोड़ा जाता है। पुराणों-महाकाव्यों एवं धर्म शास्त्रों में इसके जो निर्वचन मिलते हैं वहां भी इसकी काल्पनिक व्युत्पत्ति देने का प्रयास मात्र है।[3]

इस दृष्टि से उल्लेखनीय है कि महाभारत के उद्योगपर्व[4] एवं नारायणीय[5] पर्व में परमात्मा को ही सभी नरों का आश्रय स्थान कहा गया है और इसीलिए वह नारायण नाम से विख्यात है। इस आधार पर आर० जी० भण्डारकर से लेकर सुवीरा जायसवाल तक अधिकांश विद्वानों की धारणा है कि नारायण शब्द मनुष्य की समष्टिगत सत्ता या अस्तित्व का सूचक है और नर व्यष्टिगत सत्ता या अस्तित्व का बोधक है। इसी प्रसंग में शतपथ ब्राह्मण में वर्णित पञ्चरात्र सत्र के पुरुषमेध को नरवलि माना जाता है और नारायण उसी से जुड़े हुए

---

1. द्रष्टव्य, सुवीरा जायसवाल, **वैष्णव धर्म का उद्भव और विकास**, पृष्ठ 158
2. सुवीरा जायसवाल ने अपनी पूर्वोक्त बात को उपसंहार में भी उतने ही रोचक ढंग से प्रस्तुत किया—ऐसा जान पड़ता है।
   तत्रैव, पृ० 218-219
3. द्रष्टव्य, **पुराण कोष**, पृ० 271. यहां मनुस्मृति, मार्कण्डेय पुराण, वायु पुराण, ब्रह्मवैवर्तपुराण एवं भागवत आदि पुराण के संदर्भ देकर नारायण शब्द का निर्वचन प्रस्तुत किया गया है। कुछ सन्दर्भ इस प्रकार हैं—
   आपो नारा इति प्रोक्ता मुनिभिस्तत्वदर्शिभिः।
   अयनं तस्य ताः पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः॥ —**मार्कण्डेय** सं० 4·43
   "नाराणामयनं यस्मात्तेन नारायणः स्मृतः। नरों का (जीवों का) त्रिमूर्तियों के द्वारा सर्जन, संहार और पालन करने के कारण भी अयन होने से यह नारायण कहे जाते हैं (वायु पुराण 1·204, 5·38, 24·8-35).
4. **उद्योग पर्व** 5-68·10
5. **नारायणीयपर्व**, 12-328·35

प्रमाणित किये जाते हैं।[1] पाञ्चरात्र संहिताओं में भी 'नारायण' की व्युत्पत्ति प्राय: पौराणिक-स्मार्त-परंपरा के समान ही मिलती है। यथा अहिर्बुध्न्य संहिता में नारायण-निर्वचन इस प्रकार है —

नर संबन्धिनो नारा नरः स पुरुषोत्तमः।
नयत्यखिलविज्ञानं नाशयत्यखिलं तमः॥
न रिष्यति च सर्वत्र नरस्तस्मात् सनातनः।
नर संबन्धिनः सर्वे चेतनाचेतनात्मकाः॥
ईशितव्यतया नारा धार्यपोष्यतया तथा।
नियाम्यत्वेन सृज्यत्वप्रवेशहरणैस्तथा॥
अयते निखिलान्नारान् व्याप्नोति क्रियया तथा।
नाराश्चप्ययनं तस्य तैस्तद्भावनिरूपणात्॥
नाराणामयनं वासस्ते च तस्यायनं सदा।
परमा च गतिस्तेषां नाराणामात्मनां सदा॥
आपो नारा इति प्रोक्तास्ता अप्ययनमस्य च।
अतो नारायणो नाम हेतुर्भिर्दशितः परः॥

वास्तव में पाञ्चरात्र और नारायण दोनों ही शब्द मूलार्थ-अभिज्ञान की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। इस सन्दर्भ में प्रो० विश्वम्भर शरण पाठक द्वारा किये गये इन शब्दों के भाषा-वैज्ञानिक विवेचन को समीचीन अस्तु उल्लेखनीय कहा जा सकता है।[3] तदनुसार नारायण शब्द में जो प्रथम पद **'नारा'** है वह समूह का या वर्ग का बोधक है। विष्णु सहस्र नाम में प्रयुक्त नारायण शब्द पर शंकराचार्य ने जो टीका की है उससे भी इस बात की पुष्टि होती है। और अयन शब्द अय् धातु से निष्पन्न होता है जिसका अर्थ है चलना—**अयतीति अयनः।** इस अयन शब्द का जो अर्थ-विकास होता है वह ध्यान देने योग्य है। यह अपने पहले चरण में **संचरण**, दूसरे में **मार्ग** और अन्ततः **गन्तव्य स्थान** को व्यक्त करता है।

नारायण शब्द में यही अंतिम अर्थ सन्निहित है। इस प्रकार नारायण का बोध होता है तथैव कहा जा सकता है कि समग्र समष्टि नारायण का प्रतीक है। लेकिन यह स्थिति पञ्चरात्र से अभिव्यक्त होती है। पञ्च का अर्थ है **सर्व, विश्व**

---

1. द्रष्टव्य, **वैष्णव धर्म का उद्भव और विकास**, पृ० 35
2. **अहिर्बुध्न्य संहिता**, भाग-2, 52·50-55
3. प्रो० विश्वम्भर शरण पाठक के अप्रकाशित शोध-पत्र व उनके सौजन्य से वाक्-विमर्श में परिज्ञात।

अथवा **समग्र** । **पाञ्च** का अर्थ है—**सर्व** का, **विश्व** का **अथवा समग्र** का और **रात्र** शब्द **रात्** धातु से निष्पन्न हुआ है जिसका प्राथमिक अर्थ है **शिक्षा देना** और दूसरा है **उपासना करना** । **रात्र** का अर्थ है **उपासना** ।[1] इस प्रकार पाञ्च-रात्र का अर्थ हुआ **सर्वस्व की उपासना** । अस्तु सर्वश्व की उपासना के माध्यम से नारायण सर्वश्व का प्रतीक है ।

इस दृष्टि से हम कह सकते हैं कि शतपथ ब्राह्मण के काल तक नारायण नामक देवता आर्यों के ही एक वर्ग द्वारा परम ब्रह्म अथवा जगतपिता के रूप में पूज्य था, उसे अवैदिक अथवा अनार्य कहना भ्रामक है । हां, इसकी उपासना-परम्परा और भी पुरातन हो सकती है जो अत्यन्त प्राचीन काल से, संभवतः प्राक् ऋग्वेदीय युग से आर्यों के एक वर्ग में प्रचलित रही हो । पाञ्चरात्र सत्र उसी की प्रतिच्छवि प्रस्तुत करता हैं ।

पाञ्चरात्र वाङ्मय में पाञ्चरात्र संहिताओं को **नारायण मुखोद्गीतम्** अथवा **'वासुदेव हरिणा स्वयम्'** अथवा इस तरह के वचनों में नारायण या नारायण वासुदेव का ही स्मरण किया गया है । पुनः पञ्चरात्र के प्राचीनतम उल्लेख शतपथ ब्राह्मण में देवता नारायण के साथ देखकर इस मत की प्राचीनता कम से कम उस काल तक रेखांकित की जाती रही है । इसमें सन्देह नहीं कि पाञ्चरात्र मत किसी न किसी प्रकार स्रोत रूप में शतपथ ब्राह्मण के पाञ्चरात्र सत्र से जुड़ा है । अस्तु अपेक्षा इस बात की है कि पाञ्चरात्र वाङ्मय की स्रोत-सामग्री के अध्ययन के प्रसंग में हम शतपथ ब्राह्मण के उक्त स्रोत का भी अव-लोकन अवश्य करें ।

शतपथ ब्राह्मण के त्रयोदश काण्ड के छठे अध्याय के आरम्भ में कहा गया है कि पुरुष-नारायण ने कामना की कि मैं सभी प्राणियों में इस पुरुष-मेध पञ्चरात्र यज्ञ के द्वारा व्याप्त हो जाऊं । इस तरह यहां पञ्चरात्र-यज्ञ-सत्र का निर्देश है

---

1. 'रात्र' शब्द वैदिक पद 'रात्री' के समान ही अव्याख्यात् शब्द रहा है यद्यपि इन दोनों ही शब्दों के व्युत्पत्यर्थ एवं निर्वचनार्थ बहुबिध प्रयास किया गया है । इन दोनों ही शब्दों के अर्थ को स्पष्ट करने के लिए प्रायः इन्हें 'रा' अथवा 'रम्' धातुओं से निष्पन्न माना जाता रहा है, किन्तु 'रात्र' शब्द वस्तुतः 'रात्' धातु से व्युत्पन्न है । विस्तार के लिए **द्रष्टव्य डा० माता प्रसाद त्रिपाठी, रीडर, प्राचीन इतिहास विभाग का अप्रकाशित शोध-पत्र, वैदिक रात्री : व्युत्पत्ति एवं अर्थ-विकास ।**

जिसके अधिष्ठाता 'पुरुष-नारायण' बताये गये हैं।[1] पुनः शतपथ ब्राह्मण के इसी क्रम में पुरुषमेध की व्याख्या करते हुए स्पष्ट किया गया है कि पुरुषमेध पञ्चरात्र यज्ञ है।[2] यहां कामना की पूर्ति अथवा सफल कांक्षत्व उपासना के भाव में पुरुषमेध और उसके निमित्त अग्निष्टोम का उल्लेख है। जहां पञ्चविध आध्यात्म आधि-दैवोपासना निर्दिष्ट है जिसके मध्य में अर्थात् केन्द्र में अतिरात्र और 'उभयतः ज्योति' एवं **उभयतः उक्थ्यः** का विधान है। इसका स्वरूप क्रमशः इस प्रकार बना है—1. अग्निष्टोम, 2. उक्थ्यः, 3. अतिरात्र, 4. उक्थ्य, 5. अग्निष्टोम।[3] इसे ही कहा गया है—पाञ्चरात्र मध्यवर्ती यव (अन्न) के समान।[4]

उक्त ब्राह्मण-सन्दर्भ के आधार पर पुरुषमेध की व्याख्या प्रायः हिंसात्मक यज्ञ के रूप में की जाती रही है जो कि सर्वथा अप्रासंगिक प्रतीत होती है। यहां स्पष्ट है कि इस यज्ञ का आरम्भ अग्निष्टोम से होता था और समापन भी अग्निष्टोम से होता था। इसीलिए इसे 'उभयतोज्योति' कहा गया। प्रथम और अंतिम अर्थात् पांचवें दिन अग्निष्टोम वर्ग के अतिरिक्त दो बार अर्थात् दूसरे और चौथे दिन उक्थ्य किये जाने के कारण इसे 'उभयतः उक्थ्यः' भी कहते हैं।

---

1. पुरुषो ह नारायणो कामयत। अतितिष्ठेयं सर्वाणि भूतानि। अहमेवेदं सर्वं स्यामिति। स एवं पुरुषमेधं पञ्चरात्रं यज्ञक्रतुमपश्यत्। तमाहरत्। तेनायजत। तेनेष्ट्वा, अत्यतिष्ठत् सर्वाणि भूतानि। इदं सर्वमभवत्। अतितिष्ठति सर्वाणि भूतानि। इदं सर्वं भवति। य एवं विद्वान् पुरुषमेधेन यजते। यो वा एतदेवं वेद। —**शतपथ ब्राह्मण**, 13·6·1·1
2. स वा एष पुरुषमेधः पञ्चरात्रो यज्ञक्रतुर्भवति। पांक्तो यज्ञः। प्रांक्तः पशुः। पंचर्तवः संवत्सरः। यत्किंच पंचविधमधिदेवतमध्यात्मम्। तदेनेन सर्वमाप्नोति। —**शतपथ ब्राह्मण**, 13·6.1·7
3. तस्याग्निष्टोमः प्रथममहर्भवति। अथोक्थ्यः। अथातिरातः। अथोक्थ्यः। अथाग्निष्टोमः। स वा एष उभयतोज्योतिः। उभयत उक्थ्यः। —**शतपथ ब्राह्मण**, 13·6·1·8
4. यवमध्यः पञ्चरात्रो भवति। इमे वै लोकाः पुरुषमेधः। उभयतोज्योतिषो वा इमे लोकाः। अग्निनेतः। आदित्येनामुतः। तस्मादुभयतोज्योतिः। अन्नमुक्थ्यः। आत्मा तिरात्रः। तद्यदेता उक्थ्यावतिरात्रमभितो भवतः। तस्मादयमात्मान्नेन परिवृढः। अथ यदेव वर्षिष्टो तिरात्रः। अह्नां स मध्ये। तस्माद्यवमध्यः। युते ह वै द्विषैतं भ्रातृव्यम्। अयमेवास्ति। नास्य द्विषन् भ्रातृव्य इत्याहुः। य एवं वेद। —**शतपथ ब्राह्मण**, 13·6·1·9

केन्द्र में अर्थात् तीसरे दिन 'अतिरात्र' सम्पन्न होता था। अग्निष्टोम की अपेक्षा उक्थ्य और उक्थ्य की अपेक्षा अतिरात्र में अधिक समय लगता था। अतिरात्र-कर्म के बाद पुनः समय का विपरीत क्रम निर्दिष्ट है। इस कर्मकाण्ड के अवधि-क्रम को ध्यान में रखते हुए पाञ्चरात्र को 'यव मध्य' कहा गया। यव एक अन्न विशेष है जिसकी गोलाई किनारों पर कम और बीच में अधिक होती है। यवमध्य के समान ही अतिरात्र अधिक विस्तृत होता था। यहां यह भी ध्यातव्य है कि यह यज्ञ पुरुष सूक्त (ऋग्वेद, 10·90) द्वारा सम्पन्न होता था और पुरुष सूक्त में 'सहस्र शीर्षा सहस्राक्ष सहस्रपात' आदि विशेषणों से युक्त सोलह ऋचाओं वाले विराट ब्रह्म का वर्णन किया गया है जिसके ऋषि नारायण थे और यहां पाञ्चरात्र सत्र के अधिष्ठातृ देवता नारायण बताये गये हैं।[1] इस दृष्टि से पुरुष नारायण का शतपथ ब्राह्मण में जो सन्दर्भ आया है उसका और उसके साथ पाञ्चरात्र का स्रोत ऋग्वेदीय पुरुष सूक्त प्रतीत होता है। इस प्रकार पाञ्चरात्र-सत्र इस आध्यात्म-आधिदैवत उपासना का परिचायक है जिसकी परम्परा अत्यन्त प्राचीन प्रतीत होती है—सम्भवतः ऋग्वेद से भी प्राचीन।

पाञ्चरात्र मत : मूल उद्गाता, प्रवर्त्तक-आचार्य

सामान्यतः स्वीकार किया जाता है कि पाञ्चरात्र आगम परम ब्रह्म नारायण (वासुदेव) द्वारा प्रोक्त तदनुसार नारद और अनन्तर संकर्षण, शाण्डिल्य आदि द्वारा प्रवर्तित-प्रसारित हुआ। आगम प्रामाण्य[2] में वर्णित है—

यतो नारदशाण्डिल्यप्रमुखाः परमर्षयः।
स्मर्यन्ते पञ्चरात्रेऽपि सम्प्रदाय प्रवर्तकाः॥

भट्टारक वेदोत्तम ने तन्त्र शुद्धि नामक अपनी कृति में किसी अज्ञात स्रोत से एक श्लोक उद्धृत किया है जो इस प्रकार है—

नारदः समुहृद्भूतं लोकानुग्रहकाम्यया।
वासुदेवादवात्येदं सञ्चिक्षेप मतं परम्॥ पृ० 21

परम ब्रह्म नारायण व नारद के अतिरिक्त ईश्वर संहिता (1.38-41) में संकर्षण, शाण्डिल्य, सुमन्तु, जैमिनि, भृगु, औपगायन एवं मौंजायन के नाम मिलते हैं। ऐसा विश्वास व्यक्त किया गया है कि भागवत धर्म का अभ्युदय कृत युग (सतयुग) में नारायण से नारद और द्वापरान्त में संकर्षण से शाण्डिल्य तथा कलियुग में विष्वक्सेन से शठकोप तक अथवा उनके द्वारा किया गया।[3]

---

1. द्रष्टव्य, अध्याय दो की पाद टिप्पणी,
2. तत्रैव, पृ० 9
3. द्र०, जे० आर० ए० एस०, 1911, फूटनोट, पृ० 942

पाञ्चरात्र के भगवद् कर्तृकत्व के सम्बन्ध में यामुनाचार्य ने जो प्रमाणोपन्यास किया है तदनुसार कहा गया है कि 'पञ्चरात्रस्य निर्माता केशवो-भगवानिति' इससे आगे की पंक्तियां भी प्रसंगवशात् द्रष्टव्य हैं—

सांख्मस्य कपिलो वक्ता, पञ्चरात्रस्य केशवः ॥
इति स्कन्द पुराणेऽपि पठ्यते, भारते तथा ।
पञ्चरात्रस्य कृत्स्नस्य वक्ता नारायणः स्वयम् ॥
इदं महोपनिषदं चतुर्वेदसमन्वितम् ।
सांख्ययोगकृतान्तेन पञ्चरात्रानुशब्दितम् ॥
नारायणमुखोद्गीतं नारदो श्रावयन्मुनीन् ।
ब्रह्मणस्सदने तात यथादृष्टं यथाश्रुतम् ॥
एवमादिपुराणोक्ति सहस्रैः न्यायबृंहितैः ।
वासुदेवप्रणीतत्वं पञ्चरात्रस्य निर्व्यथम् ॥
किन्तु वेदस्य नित्यत्वे विवदन्ते विपश्चितः ।
तेन निर्दोषविज्ञानकारणत्वात् द्वयोरपि ॥
निर्विशंक प्रमाणत्वं भगवच्छास्त्रवेदयोः ।
ततश्च तुल्यशिष्टत्वात् विकल्पेन प्रमाणता ॥
इति मत्वैतदाचष्ट सूत्रकारो महामनाः ॥

उल्लेखनीय है कि यामुनाचार्य **"पञ्चरात्रस्य कृत्स्नस्य वक्ताः नारायणः स्वयम्"**—इस श्लोकार्ध में **"पञ्चरात्रस्य कृत्स्नस्य"** पदों की सुविस्तृत व्याख्या श्री रामानुज ने अपने श्रीभाष्य (2, 2.42, पृ० 834) में की है। तदनुसार वेदान्तवेद्य परब्रह्मपूत नारायण स्वयमेव **पञ्चरात्र** समग्र के मूल वक्ता हैं—

"पञ्चरात्रतन्त्रस्य वक्ता नारायणः स्वयमेवेत्युक्तवान्। एवं वदतश्चायमाशयः। पौरुषेयाणां हि तन्त्राणां परस्परविरुद्धवस्तुवादितया, अपौरुषेयत्वेन, निरस्तप्रमादादिनिखिलदोषगन्धवेदवेद्यवस्तुविरुद्धाभिधायित्वाच्च, यथावस्थित-वस्तुनि प्रामाण्यं दुर्लभम्। वेदवेद्यश्च परब्रह्मभूतो नारायणः। अतः तत्तन्त्राभि-हितप्रधानपुरुषपशुपतिप्रभृतितत्वस्य वेदान्तवेद्यपरब्रह्मभूतनारायणात्मकतयैव वस्तुत्वमभ्युपगमनीयमिति।···अतो वेदान्तवेद्यः परब्रह्मभूतो नारायणः स्वयमेव पञ्चरात्रस्य कृत्स्नस्य वक्तेति, तत्स्वरूपतदुपासनाभिधायि तत्तन्त्रमिति च तस्मिन्नितरतन्त्रसामान्यं न केनचिदुद्भावयितुं शक्यम्।"

महाभारत के नारायणीयोपाख्यान में चित्रशिखण्डी सज्ञक सप्तर्षियों को इस मत का आदि प्रवर्तक कहा गया है। इनके नाम हैं—मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु एवं वशिष्ठ। इन सात ऋषियों के अतिरिक्त आठवें स्वायम्भुव थे। इन ऋषियों ने मेरु पर्वत पर इस दिव्य शास्त्र को परम

भगवत् के समक्ष प्रकाशित किया है।[1] इसी उपाख्यान में वसु उपरिचर की कथा भी मिलती है जिसके अन्त में कहा गया है कि राजा वसु उपरिचर की मृत्यु के उपरान्त यह शास्त्र संसार से लुप्त हो जायेगा।[2]

ऐसा प्रतीत होता है कि चित्र शिखण्डी एक अव्याख्यात शब्द है साथ ही इन ऋषियों में कुछ महत्वपूर्ण नाम वैखानस परम्परा में भी मिलते हैं।

पाञ्चरात्र परम्परा में शाण्डिल्य को मूल प्रवर्तक ऋषि बतलाया गया है तदनुसार चारों वेदों की उपासना से भी परम श्रेय की उपलब्धि न देखकर शाण्डिल्य ने पाञ्चरात्र शास्त्र को प्राप्त किया था—**'चतुर्षु वेदेषु परंश्रेयोऽलब्ध्वा शाण्डिल्य इदं शास्त्रमधिगतवान्**।[3] यहाँ यह अवधेय है कि ईश्वर संहिता में कहा गया है कि शाण्डिल्य ने सुमन्तु, जैमिनि, भृगु, औपगायन और मौंजायन को इस शास्त्र का उपदेश दिया था।[4]

पाञ्चरात्रागम-परम्परा

पाञ्चरात्र-आगम वैदिक है अथवा अवैदिक, यह प्रश्न कम से कम 7वीं शताब्दी ई० अथवा इससे कुछ पहले से ही विचारणीय रहा है। दूसरे शब्दों में इस काल से ही पाञ्चरात्र के वैदिक अथवा वेद सम्मत होने में सन्देह व्यक्त किया जाता रहा है। दूसरी तरफ वैखानस आगम निर्विवाद रूप से वैदिक माना गया। उसका कारण यह था कि विखनस (वैदिक ऋषि) के सूत्रों को वैखानस साहित्य का स्रोत माना गया जिसे उनके शिष्यों अत्रि, मरीचि, कश्यप और भृगु ने अपनी संहिताओं में सुन्दर ढंग से अभिव्यक्त किया।

---

1. ये हि ते ऋषयः ख्याता सप्तचित्रशिखण्डिनः।
तैरेकमतिर्भूत्वा यत्प्रोक्तं शास्त्रमुत्तमम्॥
मरीचिरत्र्यमङ्गिरसौ पुलस्त्यः पुलहः ऋतुः।
वसिष्ठश्च महातेजास्ते हि चित्रशिखण्डिनः॥
सप्तप्रकृतयो ह्येतास्तथा स्वायम्भुवोऽष्टमः।
एताभिर्धार्यते लोकस्ताभ्यः शास्त्रं विनिःसृतम्॥
म० भा०, शा०, पृ० 335·27-30
2. **महाभारत**, 12·322·41-44, 48
3. वामन संहिता में शाण्डिल्य, भारद्वाज, कौशिक, मौंजायन और औपगायन ये पञ्च ऋषि पाञ्चरात्र के प्रवक्ता माने गये हैं—साहित्य संस्थान विद्यापीठ, उदयपुर का "पाञ्चरात्रोत्पत्ति" नामक हस्तलेख, ग्रंथ संख्या 360, द्र० व्रजवल्लभ द्विवेदी, **आगम और तंत्र शास्त्र** पृ० 43
4. **ईश्वर संहिता**, परिच्छेद 1

जहां तक पाञ्चरात्र का प्रश्न है, यद्यपि इनमें वैदिक तत्व विद्यमान हैं तथापि दूसरे तमाम अवैदिक तत्व भी यहां उपलब्ध हैं। आगम प्रामाण्य में इन विवादों को पूर्व पक्ष के रूप में प्रस्तुत और अस्वीकृत किया गया है।[1] वास्तविकता यह है कि पाञ्चरात्र आगमों में यह बराबर कहा गया है कि वे स्वयं परम ब्रह्म वासुदेव के श्रीमुख से निःसृत हैं और उनका आधार शुक्ल यजुर्वेद की एकायन शाखा है। एकायन शाखा को कभी-कभी वेदों का मुकुट तो कभी मूल स्रोत बताया गया है।[2] काश्मीर के आरम्भिक विख्यात लेखक स्पन्द-प्रदीपिकाकार उत्पल ने एकायन श्रुति, एकायन उपनिषद् और अनेक पाञ्चरात्र आगमों से तमाम अनुच्छेदों को बड़े आदर के साथ उद्धृत किया है।[3]

ईश्वर संहिता में पाञ्चरात्र वाङ्मय को चतुर्धा विभक्त किया गया है—आगम, मंत्र, तंत्र, और तन्त्रान्तर।[4]

उपर्युक्त शास्त्र-निर्देशों को ध्यान में रखते हुए एक तरफ दिव्य, मुनि-भाषित एवं मानुष इन त्रिविध शास्त्रों का परिचय मिलता है, तो दूसरी तरफ उपर्युक्त चतुर्विध-शास्त्रों के निर्देश स्पष्ट हैं। पूर्वोक्त त्रिविध शास्त्रभेद को वस्तुतः द्विविध कहना चाहिए क्योंकि पाञ्चरात्र शास्त्र के सन्दर्भ में यह बात स्पष्ट है। जहां तक चतुर्विध आगमादि भेदों का प्रश्न है इन्हें ही श्रीकर

---

1. द्रष्टव्य, **इन्ट्रोडक्ट्री स्टडी, आगम प्रामाण्य ऑफ यामुनाचार्य**, सं० एम० नरसिंहाचार्य, बड़ौदा, 1976, पृ० 7-8
2. **छान्दोग्य उपनिषद्**, 7·1·2, **शतपथ ब्रा०**, 13·6·1·1 भी इस सन्दर्भ में ध्यातव्य है।
3. द्र० **स्पन्द प्रदीपिका**, पृ० 2, 8, 22, 40 इत्यादि—"पाञ्चरात्र श्रुतावपि ···यदवत सोपानेन प्रासाद मारुहेत···तथा पाञ्चरात्रोपनिषदि च···ज्ञातं च ज्ञेयं···।"

   इस प्रकार उक्त सन्दर्भों से एकायन वेद के अस्तित्व का बोध होता है जो अब प्रायः लुप्त है लेकिन जिसे पाञ्चरात्रागमों ने अपना मूल स्रोत स्वीकार किया है। यामुनाचार्य के आगम प्रामाण्य के जो मतानुयायी हैं वे न केवल यह मानते हैं कि पाञ्चरात्रागम परमब्रह्म (वासुदेव) द्वारा उद्गीत है अपितु इन आगमों में अवैदिक कुछ भी नहीं है, यथा—**यतीन्द्र मतदीपिका** (पृ० 30) के अनुसार "**आगमदिव्यतन्त्रान्तसिद्धान्तभेदभिन्नस्य श्री पाञ्च-रात्रागमस्य क्वचिदपि वेदविरोधाभावात् कात्स्न्येन प्रामाण्यं···।**
4. **ईश्वर संहिता, 21·560-561**

संहिता[1] में क्रमशः वेद सिद्धान्त, दिव्य सिद्धान्त, तंत्र सिद्धान्त तथा पुराण सिद्धान्त नाम दिये गये हैं और हयग्रीव[2] में क्रमशः इनको स्वयं व्यक्त, दिव्य, सैद्ध और आर्ष संज्ञा प्राप्त है। प्रथम वर्गीकरण के अनुसार दिव्य कोटि की संहितायें हैं—सात्वत, जयाख्य एवं पौष्कर। इन्हें ही रत्नत्रय भी कहते हैं। ईश्वर संहिता में ब्रह्म रुद्रादि प्रमुख देवताओं-ऋषियों द्वारा स्वयं प्रणीत शास्त्र को मुनिभाषित तथा स्वयं हरि (नारायण) द्वारा मूलवेदानुसार प्रणीत शास्त्र को दिव्य बताया गया है—

वासुदेवेन यत्प्रोक्तं शास्त्रं भगवता स्वयम्।
अनुष्टुप्छन्दोबन्धेन समासव्यासभेदतः॥
तथैव ब्रह्मरुद्रेन्द्रप्रमुखैश्च प्रवर्तितम्।
लोकेष्वपि च दिव्येषु तद्दिव्यंमुनिसत्तमाः॥
ब्रह्मरुद्रप्रमुखैर्देवैऋषिभिश्च तपोधनैः।
स्वयं प्रणीतं यच्छास्त्रं तज्ज्ञेयं मुनिभाषितम्॥ 1.54-56॥
सात्वतं पौष्करं चैव जयाख्यं च तथैव च॥
एवमादीनि दिव्यानि शास्त्राणि हरिणा स्वयम्।
मूलवेदानुसारेण प्रोक्तानि हितकाम्यया॥ 1.64-65॥

पाञ्चरात्र रक्षा तथा अन्यत्र मुनिभाषित शास्त्र के त्रैविध्य—सात्विक, राजस व तामस तथा इन्हें गुणानुरूप उत्कृष्ट (उत्तम), मध्यम व अधम संज्ञाएं प्राप्त हैं: **साक्षाद् भगवतः श्रुतार्थमन्त्र निबन्धनरूपम् शास्त्रं सात्त्विकम्, भगवतः श्रुतमेवदेशं स्वयोगमहिमसिद्धं च शेषं संकल्प्य ब्रह्मादिभिस्तच्छिष्यैश्च प्रणीतं शास्त्रं राजसम्, केवलस्तवयोगविकत्पोत्थैरथैः कृतं शास्त्रं ताम समिति मुनि-भाषितस्य त्रैविध्य- मुक्त्वा···।**

पुनः यह भी ध्यातव्य है कि वेदान्त देशिक ने ईश्वर, भारद्वाज, सौमन्त, पारमेश्वर, वैहाय, चित्रशिखण्डी आदि को सात्विक, सनत्कुमार, पद्मोद्भव,

1. कालिया, **लक्ष्मीतंत्र-धर्म और दर्शन**, पृ० 36-37
2. हयग्रीव संहिता में इन चतुर्सिद्धान्तों के फल भी बताये गये हैं—

आगमाख्यं हि सिद्धान्तं सन्मोक्षैकफलप्रदम्।
मन्त्रसंज्ञं हि सिद्धान्तं सिद्धिमोक्षप्रदं नृणाम्॥
तन्त्रसंज्ञं हि सिद्धान्तं चतुवर्गफलप्रदम्।
तन्त्रान्तरं तु सिद्धान्तं वाञ्छितार्थफलप्रदम्॥

—कालिया **तत्रैव**, पृ० 37 पर उद्धृत

शातातप आदि राजस और पंच प्रश्न, शुकप्रश्न आदि को तामस कोटि में रखा है ।[1]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि पाञ्चरात्र शास्त्र के वर्गीकरण की जो द्विविध परम्परा हमें ज्ञात है तदनुसार निम्नांकित तालिकाओं से हम उनका स्पष्ट परिचय प्राप्त कर सकते हैं—

तालिका—"अ"

पाञ्चरात्रागम*

↓

दिव्य		मुनिभाषित

दिव्य
↓
सात्वत संहिता
पौष्कर संहिता
जयाख्य संहिता

सात्विक (=उत्कृष्ट)	राजस (=मध्यम)	तामस (=अधम)
ईश्वर	सनत्कुमार	पञ्चप्रश्न
भारद्वाज	पदमोद्भव	शुकप्रश्न
सौमन्त	शातातप	तत्वसागर आदि
वैहायस	तेजोदविण	
चित्रशिखण्डी इत्यादि	मायावैभविक इत्यादि	

1. पाञ्चरात्र रक्षा, प्रथमाधिकार, पृ० 39-43

* प्रस्तुत तालिका में हमने दिव्य व मुनिभाषित—इन दो कोटियों का ही निर्देश किया है क्योंकि हमारे प्रतिपाद्य में यही प्रासंगिक है। जहां तक मानुष कृत शास्त्रों का प्रश्न है एतदर्थं पां० र० में कहा गया है—केवलं मनुजैर्यत्तु कृतं तन्मानुषं भवेत् ।

तालिका—"ब"

पाञ्चरात्रागम

आगम	मन्त्र	तन्त्र	तन्त्रान्तर
=वेदसिद्धान्त	=दिव्यसिद्धान्त	=तन्त्रसिद्धान्त	=पुराणादि
=स्वयंव्यक्त	=दिव्य	=सैद्ध	=आर्ष

पाञ्चरात्र संहिताएं : संख्या

पाञ्चरात्र आगम-संहितायें कितनी रही हैं, इस बात का निश्चित प्रमाण नहीं है। यद्यपि इस परम्परा के विद्वान अध्येताओं ने संहिताओं की संख्या निश्चित करने का यथासमय प्रयास किया है। सर्वप्रथम श्रेडर (1916) ने विभिन्न संहिताओं विशेषकर कपिञ्जल, पाद्म, विष्णु एवं हयशीर्ष साथ ही अग्निपुराण को आधार बनाकर 210 संहिताओं की परिगणना की है। इसके साथ ही उन्होंने पांच अन्य संहिताओं के नाम जोड़कर कुल 215 संहिताओं की सूची प्रस्तुत किया है।[1] श्रेडर के बाद उन विद्वानों ने भी इस विषय पर गम्भीरता से विचार किया जिन्होंने किसी महत्वपूर्ण संहिता का सम्पादन किया है। इनमें लक्ष्मी तन्त्र के सम्पादक पं० वी० कृष्णमाचार्य (1959) का उल्लेख किया जा सकता है, जिन्होंने 225 संहिताओं की एक सूची प्रस्तुत की है।[2] इसके पूर्व (1931 में) जयाख्य संहिता के सम्पादक ई० कृष्णमाचार्य ने 16 प्रकाशित संहिताओं तथा 34 हस्तलिखित ग्रन्थ-संग्रह रूप में अमुद्रित संहिताओं की सूची प्रस्तुत किया है।[3] जैसा कि इन सूचियों से स्पष्ट है, इनमें से बहुत कम संहितायें उस समय तक प्रकाशित थीं। इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय कार्य किया है एच० डैनियल स्मिथ ने जिन्होंने लगभग एक दशक तक पाञ्चरात्रागम का अध्ययन करते हुए मुद्रित संहिताओं की विस्तृत विषय-सूची, दो भागों में, प्रकाशित किया। डा० स्मिथ का यह कार्य 1975 (भाग 1) और 1980 (भाग 2) में प्रकाश में आया। स्मिथ के इस महत्वपूर्ण कार्य से हमें आद्यावधि प्रकाशित संहिताओं में पच्चीस संहिताएं देवनागरी में तथा सात संहिताएं तेलगू लिपि में ज्ञात हैं।

1. श्रेडर, **इन्ट्रोडक्शन टू दि पाञ्चरात्र**, पृ० 5-16
2. पं० वी० कृष्णमाचार्य, **लक्ष्मी तंत्र** उपोद्घात, पृ० 10-13
3. ई० कृष्णमाचार्य, **जयाख्य संहिता**, प्रस्तावना, पृ० 72-75

उल्लेखनीय है कि सर्वप्राचीन संहिता, सात्वत संहिता का एक सुन्दर संस्करण आचार्य व्रजबल्लभ द्विवेदी के सम्पादन में अलशिंग भट्ट के भाष्य समेत अभी हाल ही में प्रकाश में आया है। गंगानाथ झा शोध संस्थान, इलाहाबाद द्वारा प्रकाशित भार्गव तन्त्रम् का विवरण डैनियल स्मिथ की बिब्लियोग्राफी में नहीं है। इस प्रकार अब तक देवनागरी लिपि में कुल 26 संहितायें प्रकाश में आ चुकी हैं। सौभाग्य से इनमें त्रिरत्न संहितायें—सात्वत, पौष्कर एवं जयाख्य, त्रिरत्ननिष्ठ संहितायें—ईश्वर, पारमेश्वर एवं पाद्म तथा कतिपय अन्य विशिष्ट पाञ्चरात्र संहितायें यथा, अहिर्बुध्न्य संहिता, लक्ष्मी तन्त्रम्, परम संहिता आदि भी देवनागरी में प्रकाशित हो चुकी हैं और इनमें से कुछ के अंग्रेजी में अनुवाद भी उपलब्ध हैं।

मद्रास से प्रकाशित 'पैनोरामा ऑफ पाञ्चरात्र लिटरेचर' में अब तक 104 पाञ्चरात्र संहिताओं का विस्तृत विवरण प्रकाशित किया गया है और लगभग 300 संहिताओं के नाम एकत्रित किये गये हैं। तिरुपति के केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ के विद्वान पण्डित आसूरि श्रीनिवास आयंगर ने पाञ्चरात्र संहिताओं की सूची में और कुछ नवीन नाम जोड़े हैं। इस प्रकार दक्षिण भारत की जागरूकता के कारण विशाल पाञ्चरात्र साहित्य आज भी सुरक्षित है।[1]

जैसा कि डा० एफ० आट्टो श्रेडर आदि अनेक विद्वानों के विमर्श से ज्ञात है और वह तर्कसंगत भी है कि समस्त पाञ्चरात्र संहिताओं की संख्या का निर्धारण कठिन कार्य है यद्यपि यह साहित्य विपुल है। वास्तव में आगम साहित्य की संख्या की अपनी एक परम्परा रही है। पुराणों की ही तरह पाञ्चरात्रों की संख्या पहले 18 फिर 108 पुनः 1008 अन्ततः सार्धकोटि (डेढ़ करोड़) तक कही गयी है। तात्पर्य यह है कि ये संहिताए प्रायः 1000 शाखा-उपशाखाओं में विभक्त हैं। और इनमें प्रायः डेढ़ करोड़ श्लोक हैं जैसा कि श्री पौष्कर संहिता के एक वचन (39.8) से स्पष्ट है—**द्विषट् सहस्र पर्यन्तं संहिताख्यंसदागमम्**। अब तक प्रकाशित संहिताओं की संख्या को देखते हुए उसे परम्परया ज्ञात विपुल वाङ्मय के सम्मुख नगण्य कहा जा सकता है।

पाञ्चरात्रागम-संख्या विमर्श के प्रसंग में इतना कहना ही अभीष्ट है कि हमने प्रकाशित पाञ्चरात्र संहिताओं के विषयानुक्रम पर एक अलग अध्याय (अध्याय-3) में विचार किया है। जिसके आधार पर उन विभिन्न प्रकाशित एवं अप्रकाशित संहिताओं का हमें परिचय मिल जाता है, जिनमें पाञ्चरात्र

---

1. द्रष्टव्य, **आगम और तंत्र शास्त्र**, पृ० 30

संहिताओं की सूची उपलब्ध है। हम यहां प्रमुख (सौभाग्य से प्रकाशित) संहिताओं पर विचार करेंगे।

प्राचीनतम संहितायें : रत्नत्रय अथवा त्रिरत्न एवं त्रिरत्ननिष्ठ संहितायें व उनके पूजा-केन्द्र

कतिपय संहिताओं में सात्वत, पौष्कर व जयाख्य के लिए रत्नत्रय अथवा त्रिरत्न पद प्रयुक्त हैं। इनमें प्रत्येक संहिता एक विशिष्ट स्थान से सम्बद्ध है। उदाहरण के लिए यदुशैल[1] (मेलकोटे) पर सात्वत विधि से, श्रीरंगम्[2] में पौष्कर विधि से और हस्तिशैल[3] (कांचीपुरम्) में जयाख्य विधि से हरि की

1. यदुशैल अथवा यादव-गिरि ही आधुनिक मेलकोटे (Mailkote) अथवा मेलुकोटे (Melukote) नाम से जाना जाता है जो मैसूर में सेरिंगपट्टम् के उत्तर पच्चीस मील दूर स्थित है—द्रष्टव्य, नन्दलाल डे, **दि जियोग्राफी-कल डिक्शनरी ऑफ एन्सियेन्ट एण्ड मेडिवल इण्डिया**, तृतीय संस्करण, 1971, पृ० 214, ध्यान देने योग्य है कि इसे ही दक्षिण बदरिकाश्रम भी कहा जाता है, जहां श्री वैष्णव सम्प्रदाय के संस्थापक श्रीरामानुजाचार्य का प्रमुख मठ स्थापित है, द्र० **तत्रैव**, पृ० 52

2. श्रीरंगम् को श्री रंगक्षेत्र भी कहा जाता है। इसे स्थानीय लोक सेरिंघम कहते हैं। यह स्थान तामिलनाडु प्रदेश में त्रिचनापल्ली के उत्तर दो मील पर स्थित है। इस मन्दिर का निर्माण पाण्ड्य के नायक वंशीय राजाओं ने बनवाया था। इस केन्द्र की चर्चा विभिन्न पुराणों में मिलती है। श्रीरामानुजाचार्य यहां बहुत दिनों तक रहे और 11वीं शताब्दी के मध्य में उनका यहीं देहावसान हुआ। द्रष्टव्य, नन्दूलाल डे, **तत्रैव**, पृ० 193

3. कांचीपुरम् को कांजीवरम् भी कहा जाता है। यह मद्रास से दक्षिण पश्चिम 43 मील दूर पलर नदी के तट पर चोल अथवा द्रविड़ राजधानी के रूप में भी प्रसिद्ध है। इस कस्बे का पूर्वी भाग विष्णु कांची और पश्चिमी भाग शिवकांची कहलाता है। महाभारत, भीष्मपर्व, अध्याय 9 तथा विभिन्न पुराणों में इस स्थान का वर्णन हुआ है। स्वामी शकराचार्य ने यहां एक विष्णु मंदिर बनवाया था जो विष्णुकांची के रूप में प्रख्यात है। —द्रष्टव्य, नन्दलाल डे, **तत्रैव**, पृ० 58

आराधना की जाती है।

सात्वताद्यं त्रिकं चैतत् व्यापकं मुनिसत्तमाः।
यथा चाऽष्टाक्षरादीनां मन्त्राणां त्रितयं बुधाः॥
एततन्त्रत्रयोक्तेन विधिना यादवाचले।
श्रीरंगे हस्तिशैले च क्रमात्सम्पूज्यते हरिः॥[1]

पारम्परिक रूप से यह भी ज्ञातव्य है कि इन्हीं प्रमुख स्थानों और संहिताओं से सम्बद्ध हमें अन्य संहिताओं के नाम दिखाई देते हैं, यथा—ईश्वर संहिता सात्वतनिष्ठ, पारमेश्वर संहिता पौष्करनिष्ठ और पाद्म संहिता जयाख्यनिष्ठ बतायी जाती है। स्पष्ट है कि ईश्वर पारमेश्वर और पाद्म संहितायें क्रमशः सात्वत, पौष्कर एवं जयाख्य की उपबृंहिका हैं। अलशिंग भट्ट लक्ष्मी तंत्र को भी सात्वत संहिता का पूरक मानते हैं। इसी प्रकार वे अहिर्बुध्न्य संहिता को सात्वत संहिता से ही सम्बद्ध मानते हैं। पारमेश्वर संहिता पौष्कर संहिता के विषयों का उपबृंहण करती है इस बात का उल्लेख स्वयं उस संहिता में भी मिलता है किन्तु भाष्यकार अलशिंग भट्ट इसका भी सम्बन्ध सात्वत संहिता से भी जोड़ते हैं।

इसका कारण यह है कि ईश्वर और पारमेश्वर संहिता में आनुपूर्वी वाले सैकड़ों श्लोक मिलते हैं। पारमेश्वर की अपेक्षा ईश्वर संहिता प्राचीन है। इस प्रकार ईश्वर संहिता जब सात्वत की पूरिका है तो उससे सामग्री का संकलन करने वाली पारमेश्वर संहिता का भी सम्बन्ध सात्वत से मानने में कोई अनौचित्य नहीं है। वास्तव में देखा जाय तो उक्त दोनों संहिताओं में जयाख्य और पौष्कर संहिता से भी सामग्री संकलित की गयी है और इस प्रकार इन सभी संहिताओं का एक दूसरे से सम्बन्ध सिद्ध हो जाता है—**अनुक्तमन्यतो ग्राह्यम्** अर्थात् जो बात एक संहिता में नहीं कही गयी है उसका ग्रहण अन्य संहिता से कर लेना चाहिए—इस न्याय के अनुसार ऐसा किया गया है। उक्त सभी प्रकरणों के अवलोकनोपरान्त यह सिद्ध हो जाता है कि पौष्कर व जयाख्य, सात्वत संहिता में संक्षिप्त रूप से वर्णित विषयों का विस्तार करती है। फलतः सात्वत संहिता ही इन सब में प्राचीन है।[2]

सात्वत संहिता का प्राचीनत्व कतिपय अन्य सन्दर्भों से भी प्रमाणित होता है। पाञ्चरात्र परम्परा त्रिरत्न अथवा रत्नत्रय की जहाँ भी चर्चा है, सर्वप्रथम सात्वत का नाम लिया गया है बल्कि सात्वत, पौष्कर एवं जयाख्य के नाम इसी

1. **ईश्वर संहिता**, 1·66-67.
2. **व्रजवल्लभ द्विवेदी, भूमिका, सात्वत संहिता**, पृ० 3

क्रम से लिये गये हैं। दूसरी बात यह है कि सात्वत में विभव देवताओं के केवल नाम एवं ध्यान ही वर्णित हैं जबकि पौष्कर में विस्तार से इनके अवतार स्थलों का भी वर्णन है। **सर्वतः पणिपादम्** सात्वत संहिता (1.25) का यह वचन जयाख्य संहिता (4.63) में थोड़ा पाठ भेद के साथ मिलता है। जयाख्य में ही अन्यत्र (4·76-82) उक्त श्लोक की विस्तार से व्याख्या मिलती है। इसी प्रकार **अकाराद्यो विसर्गान्तः** आदि सात्वत वचन (2·17) की जयाख्य संहिता (6·13-17) में स्पष्ट व्याख्या की गयी है। इस प्रकार सात्वत संहिता के संक्षिप्त वचनों की विस्तार से व्याख्या करने वाली यह जयाख्य संहिता निश्चित रूप से उसके बाद की है। कहने की आवश्यकता नहीं कि पौष्कर एवं जयाख्य दोनों ही संहितायें सात्वत के बाद की रचनायें हैं और वे सात्वत संहिता के विषयों का उपबृंहण करती हैं।[1]

सात्वत संहिता के लिए एक अभिलेखिक समर्थित साक्ष्य भी है। पतञ्जलि के महाभाष्य (3·3·11) से प्राचीन मध्यमिका नगरी का उल्लेख मिलता है।[2] मध्यमिका की स्थिति राजस्थान के चित्तौड़गढ़ के निकट विद्यमान घोसुण्डी ग्राम के पास मानी जाती है। घोसुण्डी से एक शिलालेख उपलब्ध हुआ है, जिसके आधार पर हमें यह जानकारी मिलती है कि यहां पहले पत्थर के पर-कोटे से घिरी हुई नारायण वाटिका थी जिसे पाराशरि पुत्र गाजायन ने वासुदेव और संकर्षण को समर्पित किया था।[3] रोचक बात यह है कि सात्वत संहिता (25·366-367) में इस प्रकार की वाटिका को भगवान को समर्पित करने का विधान है।[4] इस तरह घोसुण्डी शिलालेख से प्रकारान्तर से सात्वत संहिता के प्रस्तुत विधान की प्राचीनता सिद्ध होती है।

रत्नत्रय के प्रसंग में डैनियल स्मिथ को सात्वत के एक वचन (9·133) के आधार पर यह भ्रम हुआ कि यहां पौष्कर, वराह एवं प्राजापत्य (ब्राह्म) इन तीन संहिताओं का स्मरण किया गया है। इस सन्दर्भ में पं० व्रजवल्लभ

1. **सात्वत संहिता**, भूमिका, पृ० 2.
2. अरुणद् यवनो साकेतं, अरुणद यवनो मध्यमिकाम्, **पातञ्जलि महाभाष्य**, 3·3·11
3. **एपीग्राफिया इण्डिका**, भाग 10, परिशिष्ट, पृ० 2
4. यः सप्राकारमारामं सम्प्रयच्छति वै विभोः।
नानापुष्पफलोपेतं वापीद्रुम समाकुलम्॥
साब्जतोयाशयोपेतं मारङ्गखसमन्वितम्।
स नन्दनवने भोगान् भुक्त्वा यात्यच्युतोलयम्॥
—सात्वत सं०, परिच्छेद 25·366-367.

द्विवेदी का प्रतिवाद समीचीन लगता है कि यहां इन तीन संहिताओं का नहीं बल्कि त्रिविध सर्गों का प्रतिपादन किया गया है। सात्वतोक्त वचन इस प्रकार है—

> यः स्थितस्त्रिविधे सर्गे विभवः पारमेश्वरः ।
> पौष्कराख्ये च वराहे प्राजापत्ये महामते ।।
> सूक्ष्मत्वेन च निश्शेषं प्रत्येकस्मिन् हि वर्तते ।।[1]

रत्नत्रय के प्रसंग में इतना स्पष्ट कहा जा सकता है कि इसका क्रम सात्वत, पौष्कर एवं जयाख्य है और पाञ्चरात्रागमों में ये तीन संहितायें ही इसी क्रम से सर्वप्राचीन मानी जा सकती हैं ।[2]

ध्यातव्य है कि आचार्य उत्पल (10वीं शताब्दी) ने उक्त तीनों संहिताओं से अनेक उद्धरण बड़े ही आदरपूर्वक अनेक बार प्रस्तुत किया है और तीन संहिताओं के नाम के साथ श्री लगाया है। यथा—**श्री पौष्कराख्याम्, श्री सात्वतायाम् और श्री जयाख्याम्।** जयाख्य संहिता (सम्पादक ई० कृष्णमाचार्य) के फोरवर्ड में डा० वी भट्टाचार्य ने कहा है कि कुछ भी हो इन तीन संहिताओं की प्राचीनता छठी शताब्दी ई० के मध्य काल के पूर्व नहीं रखा जा

---

1. सात्वत संहिता, 9·132 ब एवं 133 पर अलशिंग भट्ट का भाष्य ध्यातव्य है—सर्गत्रयविवरणं तत्र सूक्ष्मस्थूलभेदेनावस्थानं चाहपौष्करा (ख्य) इति सार्धेन । पौष्करे पाद्मकल्प इत्यर्थः । प्राजापत्ये ब्राह्मकल्प इत्यर्थः यथा च श्री भागवते—

> पूर्वस्यादौ परार्धस्य ब्राह्मो नाम महानभूत ।
> कल्पो यत्राऽभवद् ब्रह्मा शब्दब्रह्मेति यं विदुः ।।
> तस्यैव चान्ते कल्पोऽभूद् यं पाद्ममभिचक्षते ।
> यद्धेरेन्नाभिसरस आसील्लोकसरोरुहम् ।।
> अयं तु कथितः कल्पो द्वितीयस्यापि भारत ।
> वाराह इति विख्यातो यत्रासीत् सूकरोहरिः ।।
>
> —3·11·34-36

2. एतदर्थ विस्तार के लिए द्रष्टव्य : सात्वत संहिता (अलशिंग भट्ट-भाष्य सहित), संपादक ब्रजवल्लभ द्विवेदी, उपोद्घात, । इस संदर्भ में 'विमर्श' (राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान, नई दिल्ली से प्रकाशित अर्द्धमासिक शोध-पत्रिका), वाल्यूम-1, भाग 1, 1972; तिरूपति, केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, 1972, पृ० 45-51 पर प्रकाशित एच० डैनियल स्मिथ का शोध-पत्र "दि थ्री जेम्स ऑफ दि पाञ्चरात्रागम कैनन—ऐन अपरेजल" भी पठनीय है।

सकता ।[1] लगभग यही बात जयाख्य के सम्पादक ई० कृष्णमाचार्य ने भी की है ।[2]

अन्य संहितायें

त्रिरत्न एव त्रिरत्ननिष्ठ संहिताओं के अतिरिक्त उल्लेखनीय अन्य संहितायें हैं—अगस्त्य, अनिरुद्ध, अहिर्बुध्न्य, काश्यप, ज्ञानामृत सार, नारदीय, परम, वृहद्ब्रह्म, भारद्वाज, मार्कण्डेय, लक्ष्मी तंत्र, विश्वामित्र, विष्णु, विष्वक्सेन, शाण्डिल्य, शेष, श्रीप्रश्न, सनत्कुमार, हयशीर्ष एवं भार्गव तंत्र। ये संहितायें देवनागरी में मुद्रित हैं।

इनके अतिरिक्त कपिंजल, नारायण पुरुषोत्तम, परम पुरुष, पराशर, विष्णु-तिलक आदि तेलगु लिपि में उपलब्ध हैं, किन्तु इनके विवरण डॉ० स्मिथ के समीक्षात्मक अध्ययन से तथा उद्धरणों द्वारा परिज्ञात हैं। अस्तु हमने इनका भी यथासम्भव समायोजन किया है ।

पाञ्चरात्रागम : व्यापक विषय-क्षेत्र

पाञ्चरात्र आगम शास्त्र का विषय-क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। डॉ० श्रेडर ने इसके प्रमुख विषयों को दस भागों में विभक्त किया है—

1. दर्शन, 2. मंत्र शास्त्र, 3. यंत्र-शास्त्र, 4. माया-योग, 5. योग, 6. मंदिर-निर्माण, 7. प्रतिष्ठा-विधि, 8. संस्कार, आह्निक, 9. वर्णाश्रम-धर्म, 10. उत्सव ।

डॉ० श्रेडर का कहना है कि इनमें प्रत्येक विषय अपनी जगह पर मोनोग्राफ हो सकते हैं। पाञ्चरात्र परम्परा में भी ऐसे कुछ संकलन पहले से ही तैयार मिलते हैं। उदाहरण के लिए उत्सव संग्रह आदि ।[3]

वास्तव में पाञ्चरात्र परम्परा के समग्र साहित्य का सम्यक् मूल्यांकन होना अभी शेष है अन्यथा अब तक इसके प्रत्येक वर्ग की प्रभूत स्रोत-सामग्री

---

1. **जयाख्य संहिता**, फोरवर्ड, पृ० 12
2. इदमेव तु सुव्यक्तं संहितेव जयाभिधा ।
   सप्तमात् त्रैस्तशतकात् प्रागेवाजायतेति यत् ॥
   —द्रष्टव्य, **तत्रैव**, प्रास्ताविक, पृ० 53
3. श्रेडर, **इन्ट्रोडक्शन टू दि पाञ्चरात्र एण्ड दि अहिर्बुध्न्य संहिता**, पृ० 29-30.

सामने आ जाती है। साधारणतया पाञ्चरात्र-शास्त्र को चतुष्पाद कहा जाता है और वस्तुतः इन्हीं चारों पादों में सारे विषयों का समाहार है। ये चतुष्पाद हैं[1]—1. ज्ञान, 2. योग, 3. क्रिया, 4. चर्या।

इन चतुर्विध विषयों में ज्ञान मुक्ति प्रदायक ज्ञान को कहते हैं। इस तरह के साहित्य में ब्रह्म, जीव तथा जगत तत्व के आध्यात्मिक रहस्यों का उद्‌घाटन तथा सृष्टि तत्व का विशेष निरूपण मिलता है। दूसरा पाद योग मुक्ति के उपायभूत योग एवं तत्सम्बद्ध प्रक्रियाओं के वर्णन के परिचायक है। 'क्रिया पाद' वैष्णव-मन्दिरों के निर्माण, प्रतिमा के विविध आकार-प्रकार का सांगोपांग वर्णन और प्रतिमा की स्थापना आदि का परिचायक है। चर्यापाद इस परम्परा के उपासकों या भक्तों के निमित्त आह्निक क्रिया, मूर्तियों तथा मंत्रों के पूजन विधान के विस्तृत विवरण, पर्व और उत्सव के अवसर पर विशिष्ट पूजा-विधान आदि का परिचायक है।[2]

इन चतुष्पादों में प्रथम दो भागवत-पाञ्चरात्र धर्म के सैद्धान्तिक और अन्तिम दो व्यावहारिक पक्ष का उद्‌घाटन करते हैं। दूसरे शब्दों में पूर्वार्द्ध, भावात्मक अथवा आंतरिक उपासना तथा उत्तरार्द्ध बाह्य उपासना के परिचायक हैं।[3]

पाञ्चरात्र साहित्य का अधिकांश क्रिया एवं चर्यापाद के विषय रूप में उपलब्ध है। एक धारणा यह भी है, जो उपयुक्त प्रतीत होती है कि पाञ्चरात्रागम में सर्वाधिक चर्या-पचास प्रतिशत से अधिक, इसके बाद क्रिया, क्रिया से कम ज्ञान और उससे भी कम योग शास्त्र का विवेचन है। अस्तु चर्या तथा क्रिया की व्यावहारिक विवेचना ही वैष्णव पाञ्चरात्र संहिताओं का मुख्य प्रयोजन है।[4]

उपास्य ब्रह्म : नारायण एवं वासुदेव

पाञ्चरात्र वाङमय में इस मत के सर्वोच्च शक्तिमान परम् ब्रह्म परमेश्वर के कतिपय महत्वपूर्ण नाम विचारणीय हैं। इनमें सर्व प्राचीन नाम तो विष्णु है।

---

1. चर्यापाद क्रिया पादौ पादौ च ज्ञानयोगयो:।
इति नानाविधं तंत्रं चतुष्पादोपबृंहितम्॥ —**लक्ष्मी तंत्र**, 51·2-3

2. श्रेडर, **इन्ट्रोडक्शन टू दि पाञ्चरात्र एण्ड दि अहिर्बुध्न्य** संहिता, पृ० 25 एवं आगे; **श्री पाञ्चरात्र रक्षा**, इन्ट्रोडक्शन, पृ० 12-13

3. जे० आर० ए० एस० 1911, पृ० 952—एस० चट्टोपाध्याय, **इवोल्यूसन ऑफ हिन्दू सेक्ट्स**, पृ० 65

4. **बलदेव उपाध्याय, वैष्णव सम्प्रदायों का साहित्य और सिद्धान्त**, पृ० 79-80

किन्तु विष्णु को ही नारायण वासुदेव, केशव, पुरुषोत्तम, कृष्ण, गोपाल, गोविन्द* आदि भी कहा गया है। पाञ्चरात्र वाङमय में ही उन्तालिस विभव नामों के अलावा विष्णु के अनेक अवतार-नाम और उनके चरित की भी चर्चा है। पाञ्चरात्र वाङ्मय को विभिन्न संहिताओं में बार-बार **विष्णु प्रोक्त, नारायण मुखोद्गीत** अथवा **वासुदेव प्रोक्त** कहा गया है। इसके अतिरिक्त इस मत के अनुसार उपासना किये जाने के फल रूप में विष्णु अथवा नारायण अथवा वासुदेव अथवा केशव की प्राप्ति अर्थात् परम ब्रह्म के साक्षात्कार का निर्देश भी यत्र-तत्र-सर्वत्र किया गया है। विष्णु के नाम अथवा विष्णु स्वरूप, ब्रह्म के नाम एक, दो, दस, बीस नहीं सहस्र हैं और सहस्र का अर्थ निश्चय ही अगणित, अस्तु व्यापक है।

ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में विराट् पुरुष को '**सहस्राक्षः सहस्रपात्**' इसी दृष्टि से कहा गया और कालान्तर में '**विष्णु सहस्र नाम**' की रचना परम व्यापक ब्रह्म स्वरूप विष्णु की व्यापकता को महिमान्वित करने के लिए ही की गयी। जिसका महत्व इस दृष्टि से अत्यधिक है, क्योंकि भगवत्पाद शंकराचार्य ने प्रस्थानत्रयी (ब्रह्मसूत्र, उपनिषद् एवं श्रीमद्भगवद्गीता) के अलावा विष्णु सहस्र नाम की भी बड़ी सुन्दर टीका प्रस्तुत की थी।

पाञ्चरात्र वाङ्मय-विमर्श के प्रसंग में अध्ययन की दृष्टि से तथा पौराणिक-ऐतिहासिक महत्व की दृष्टि से कम से कम नारायण, वासुदेव एवं केशव के स्वरूप एवं पाञ्चरात्रागमों में उनके विषय में प्राप्त सामग्री का परिचय प्रासंगिक है।

नारायण—नारायण विष्णु का एक लोकप्रिय नाम है। इस रूप में तो संहिताओं में यह नाम बार-बार आया ही है, ब्रह्म के द्वादश मूर्ति-रूपों में भी एक माना गया है और इस रूप में भी यथाप्रसंग इसके उल्लेख हुए हैं। पाञ्चरात्र संहिताओं में नारायण विषयक सन्दर्भ पर विचार करने के पूर्व इसके प्रारम्भिक स्वरूप पर विचार कर लेना अपेक्षित होगा।

'नारायण' ऋग्वेदीय पुरुष सूक्त के ऋषि थे। कात्यायन ने सर्वानुक्रमणी में ऋग्वेद के पुरुष सूक्त के ऋषि का नारायण नाम बताया है। कात्यायन श्रौत सूत्र (24.3.36) में नारायण शब्द पुरुष के विशेषण रूप में प्रयुक्त है। इसके

---

* गोविन्द नाम की शास्त्र में महत्ता बतलाते हुए कहा गया है कि करोड़ों गायों का दान, ग्रहण में काशी में वास एवं प्रयाग में कल्पवास, मेरु पर्वत के बराबर स्वर्ण का दान, ये सभी गोविन्द नाम की समानता नहीं कर सकते यथा—

गो कोटि दानं ग्रहणेषु काशी, प्रयाग गंगायुत कल्पवासः।
प्रज्ञायुतं मेरु सुवर्णदानं गोविन्द नाम्ना न कदापि तुल्यं॥

अलावा शतपथ ब्राह्मण (12.3.4.1 तथा 13.6.1.1 और 13.6.2.12) में पुरुष-नारायण का उल्लेख है—**"पुरुषं ह नारायणं प्रजापतिरुवाच यजस्व यजस्वेति"** । इसी ब्राह्मण में पुरुष प्रजापति का विशेषण है और बाद में मनुस्मृति[1] तथा विष्णु पुराण[2] में नारायण तथा ब्रह्मा का तादात्म्य दिखाई देता है।

स्पष्ट है कि प्रजापति का यह विशेषण प्राचीन काल में ही एक देवता के रूप में विकसित होने लगा था तथापि इसकी अवधारणा इतनी स्पष्ट नहीं हुई थी कि यह एक स्वतंत्र एवं महत्वपूर्ण देवता बन जाता।[3]

ऐसा प्रतीत होता है कि नारायण एक पुरातन देवता का नाम है। यद्यपि देवता रूप में उत्तर वैदिक काल में ही वह उल्लिखित हुआ। शतपथ ब्राह्मण के पञ्चरात्र-सत्र के अधिष्ठातृ देवता रूप में उनकी महत्ता निश्चय ही ध्यान देने योग्य है जो कालान्तर में वैष्णव-पाञ्चरात्र-परम्परा के विपुल वाङ्मय में प्रख्यात् दिखाई देता है। प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रथम अध्याय में हमने इस बात की चर्चा की है कि मैत्रायणी संहिता और महानारायण उपनिषद् में नारायण और विष्णु का तादात्म्य स्थापित हुआ।[4] नारायण और विष्णु के तादात्म्य से विष्णु का स्रष्टा रूप प्रत्यक्ष हुआ।[5] इस सन्दर्भ में डा० पाठक का दृष्टिकोण समीचीन प्रतीत होता है कि नारायण एवं विष्णु धर्म का सामञ्जस्य इन देवताओं की पहचान सम्बन्धी विचार पर आधारित न होकर सम्प्रदाय में उनके समन्वय पर आधारित रहा है।[6]

---

1. तदण्डमभवद् हैमं सहस्रांशुसमप्रभम्।
 तस्मिन् जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः॥
 आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः।
 ताः यदस्यायनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः॥ —**मनस्मृति,** 1·9-10
2. ब्रह्मा नारायणाख्यौ सौ कल्पादौ भगवान यथा।—**विष्णु पुराण,** 1·4·1
3. गयाचरण त्रिपाठी, **वैदिक देवता उद्भव और विकास,** भाग 1, पृ० 346
4. द्रष्टव्य, प्रस्तुत ग्रन्थ, प्रथम अध्याय।
5. द्रष्टव्य, **ई० आर० ई०,** भाग 9, पृ० 184-185 पर, जे० एन० फर्क्यूहर का "नारायण" शीर्षक लेख।
6. "The reapproachment between the Narayana and Vishnu sects, on the other hand, was not based on the idea of identification of the deities but on their assimilation in the Pantheon.—डा० विश्वम्भर शरण पाठक: **दि अर्ली वैष्णव पैंथियॉन, जे० यू० पी० एच० एस०, xxi-xx, पृ० 215**

महाकाव्यों, पुराणों और स्मार्त परम्परा में नारायण नर-नारायण, नाराणीय, नारायण-विष्णु आदि के सन्दर्भ भरे पड़े हैं। महाभारत का नारायणीयोपाख्यान प्रस्तुत प्रबंध की दृष्टि से सर्वाधिक प्रख्यात कहा जा सकता है।[1] इस उपाख्यान में सांख्य, योग, वेद, पञ्चरात्र व पाशुपत मतों का और उनके प्रवर्तक आचार्यों का उल्लेख मिलता है और कहा गया है कि पञ्चरात्र धर्म का उपदेश सर्वप्रथम नारायण ने नारद को दिया था। यहां नर, नारायण, कृष्ण और हरि इन चतुर्मूर्तियों का उल्लेख है। यहाँ व्यूह की जगह मूर्ति शब्द का उल्लेख है। इसके अतिरिक्त इसके उपासकों को ऐकान्तिक कहा गया है क्योंकि वे एकान्त भाव से नारायण की उपासना करते हैं। एक जगह उन्हें पंचकालज्ञ भी कहा गया है। इस उपाख्यान में ही नारायण परमा प्रकृति को श्वेत द्वीप में अवस्थित बताते हैं। जिसने लोक कल्याण के लिए देव, पित्र्य कर्म की अपेक्षा के लिए मर्यादा निश्चित की है। इसे प्रवृति धर्म कहा गया है। हम जानते हैं कि श्वेत द्वीप की चर्चा पाञ्चरात्र आगमों में हुई है। श्वेत द्वीप की तरह बदरिकाश्रम में तप करते हुए नर व नारायण को भी बहुत कुछ इसी रूप में चित्रित किया गया है। इसी उपाख्यान में नारायण भक्त वसु उपरिचर की कथा मिलती है जो काम्य एवं नैमित्तिक सब अनुष्ठान सात्वत-विधि से करता था।[2]

नारायण का महत्व वास्तव में इस पद विशेष की अर्थवत्ता में निहित है। सामान्यतः नारायण का सम्बन्ध जलीय गर्भ अथवा सृष्टि के आदि देवता के रूप में प्रतिबिम्बित हुआ है। महाभारत, स्मृतियों और पुराणों में समुद्र नर की प्रजा होने के कारण "नारा" नाम से भी प्रसिद्ध है। चूंकि समुद्र परब्रह्म

1. महाभारत के शांतिपर्व के अन्तर्वर्ती मोक्ष धर्म के अन्त में (अ० 334-351 तक) नारायणीय उपाख्यान उपवर्णित है। महाभारत का नारायणीयोपाख्यान शीर्षक पं० व्रजवल्लभ द्विवेदी का लेख (उनके ग्रंथ आगम और तंत्र शास्त्र में संकलित) पठनीय है जहां अत्यन्त संक्षेप में किंतु स्पष्टतः विवेचन किया गया है कि इस आख्यान के विभिन्न अध्यायों में पाञ्चरात्र शास्त्र के उद्गम की अनेक परम्परायें दी हुई हैं। तदनुसार 348वें अध्याय में वही परम्परा दी हुई है जो गीता के चौथे अध्याय के आरम्भ में है। इसके साथ ही कहा गया है "वास्तव में गीता और नारायणीयोपाख्यान एक ही भागवत परम्परा के शास्त्र हैं। इन्हीं में प्रतिपादित सिद्धान्तों का बाद में पाञ्चरात्र संहिताओं में विकास हुआ। समयानुसार इनमें यत्र-तत्र परिवर्तन भी हुआ"। द्रष्टव्य, व्रजवल्लभ द्विवेदी, **आगम और तंत्र शास्त्र**, पृ० 50
2. द्रष्टव्य, व्रजवल्लभ द्विवेदी, **आगम और तंत्र शास्त्र**, पृ० 50

का विश्राम स्थल है, इसलिए उन्हें नारायण नाम से अभिहित किया जाता है। कुछ विद्वान इस नारायण शब्द को द्रविड़ मूल का मानते हैं। आर० जी० भण्डारकर ने याद दिलाया है कि मनु के टीकाकार मेधातिथि ने नारायण शब्द की व्याख्या महाभारत के उद्योग पर्व एवं नारायणीय के उस कथन के अनुकूल की है कि परमात्मा ही सभी नरों का आश्रय स्थान है।[1]

नारायण शब्द में दो पद हैं नर एवं अयन। अयन का अर्थ है मार्ग। पाणिनि ने अपने एक सूत्र में नाडायन गोत्र की चर्चा की है। इसके अनुसार वह स्थान जहां नर समुदाय जाता है इस तरह नारायण शब्द मनुष्य की समष्टिगत सत्ता या अस्तित्व का सूचक है और नर व्यष्टिगत सत्ता या अस्तित्व का।[2]

ज्ञातव्य है कि मार्कण्डेय पुराण के सांस्कृतिक अध्ययन के प्रसंग में डा० वासुदेव शरण अग्रवाल ने नर-नार-नारायण के प्रतीकत्व पर विस्तृत विवेचन किया है और इसी प्रसंग में आप तत्व का विश्लेषण किया गया है। शतपथ ब्राह्मण के पञ्चरात्र-सत्र का स्मरण करते हुए कहा है कि पाञ्चरात्रिकों ने उसी नर-नार-नारायण सूत्र का विकास किया और पुरुष सूक्त में निर्दिष्ट सृष्टि की व्याख्या को नारायण तत्व के आधार पर अपनी शब्दावली में ढाल दिया।[3] डा० अग्रवाल का यह विचार समीचीन लगता है कि नारायण शब्द की जो व्याख्या भागवतों ने की, उसका मूल तन्तु वैदिक साहित्य से प्राप्त हुआ था। उसके अनुसार सृष्टि की प्राक्कालीन अवस्था में सब कुछ आप तत्व या सलिल ही था। वहीं से प्रजोत्पत्ति हुई। शतपथ ब्राह्मण (11.1.6.1) में कहा गया है—**"आपो ह वा इदमग्रे सलिलमेवास। ता अकामयन्त कथन्नु प्रजायेमहीति।"** यही बात शतपथ ब्राह्मण में अन्यत्र (6.1.1.9) और गोपथ पूर्व (भाग 12) में इस प्रकार कही गयी है—

सा इदं सर्वम् आप्नोद् यदिदं किंचि।
यदाप्नोत् तस्मादापः॥[4]

नारायण शब्द की अर्थवत्ता और उसके अभिप्राय को उद्घाटित करने वाले उपरि संकेतित सन्दर्भों के आधार पर एक तरफ पर ब्रह्म परमेश्वर रूप में उसकी पौराणिक छवि का परिचय मिलता है तो दूसरी तरफ एतदर्थ ही उसके निर्वचन प्रस्तुत किये गये, ऐसा प्रतीत होता है। इस विवेचन से नारायण शब्द के मूलार्थ का अभिज्ञान नहीं हो पाता। एतदर्थ पुनः उल्लेख्य है। पूर्वनिर्दिष्ट

1. द्रष्टव्य, सुवीरा, **वैष्णव धर्म का उद्भव और विकास**, पृ० 34-35
2. **तत्रैव**, पृ० 36
3. **मार्कण्डेय पुराण एक सांस्कृतिक अध्ययन**, पृ० 41
4. **तत्रैव**, पृ० 31

प्रो० विश्वम्भर शरण पाठक का अभिमत समीचीन है तदनुसार नारायण कहने मात्र से समग्र समष्टि के प्रतीकत्व का बोध होता है तथैव समग्र समष्टि नारायण का प्रतीक है। पञ्चरात्र शब्द नारायण से सम्बद्ध होने के कारण और भी महत्वपूर्ण है। पञ्चरात्र का मूल अर्थ है समग्र की उपासना (पञ्च=समग्र और रात्र=उपासना)।[1]

पाञ्चरात्रागम में नारायण—पाञ्चरात्र व नारायण का अन्तःसम्बन्ध सुविदित है। इसीलिए पाञ्चरात्रागम परम्परा में बार-बार इस बात पर बल दिया जाता रहा है कि जिस प्रकार समस्त देवताओं में नारायण अन्यतम हैं उसी प्रकार सभी शास्त्रों में पाञ्चरात्र।[2]

पाञ्चरात्र संहिताओं में नारायण शब्द का निर्वचन, नारायण के विभिन्न स्वरूप, उनकी शिक्षायें, प्रशस्ति, मूर्ति आदि ज्ञातव्य है। अहिर्बुध्न्य संहिता और श्रीप्रश्न संहिता तथा कतिपय अन्य संहिताओं में नारायण नाम के सूक्ष्म अर्थ पर विचार किया गया है। अहिर्बुध्न्य संहिता के 52वें अध्याय में विष्णु, नारायण, वासुदेव और देव शब्द का अर्थ निरूपण किया गया है।[3] नारायण शब्द के लिए यहाँ कहा गया है कि नर ही वह पुरुषोत्तम है जो अखिल विज्ञान का प्रकाशक है तथा अखिल तक का नाशक है। इसी प्रकार इसी क्रम में इस संहिता में महाकाव्यों, पुराणों द्वारा किये गये निर्वचनों का समाहार करते हुए नारायण शब्द का सूक्ष्मार्थ निरूपण इस प्रकार है—

नारायणो निबोधैतपद्रूपाणां त्रितयं मुने॥
क्रियाकारकलभ्योर्थस्तत्रस्थूलो निर्दशितः।
यः प्रातिपदिकस्थोऽर्थः स सूक्ष्मो ह्य निरूप्यते॥

× × ×

इति ते सूक्ष्म उद्दिष्टः परं वर्णाश्रयं श्रृणु।
अकुण्ठितश्चक्ररूपः समस्तदुरितानलः॥
व्यापकः सर्वशात्रेषु प्रथितो गोपनः सताम्।
सदानन्दमयः पन्था नाराणां च परा गतिः॥

1. प्रस्तुत ग्रन्थ का अध्याय प्रथम।
2. यथा सर्वेषु देवेषु परो नारायणो स्मृतः।
तथा सर्वेषु शास्त्रेषु पाञ्चरात्रं परं स्मृतम्॥
—**विश्वामित्र संहिता**, 2·52
3. "विष्णु" शब्द के लिए **अहिर्बुध्न्य संहिता**, 52·44-48 तक; **"नारायण"** के लिए 48-57 तक; **"वासुदेव"** 58-67 तक यथा देव आदि के लिए 68-85 तक, द्रष्टव्य है।

श्री प्रश्न संहिता में नारायण शब्द को प्रणवार्थ में अभिव्यक्त करते हुए इसे परम उपास्य देवता कहा गया है और नारायण शब्द में आदि स्रष्टा और पथ-प्रदर्शक के भाव निहित हैं, ऐसा बताया गया है ।[1] ईश्वर संहिता के 24वें अध्याय में नारायण के विभिन्न स्वरूपों, ध्यान, मंत्र और नारायण द्वारा पाञ्चरात्र शिक्षा सन्दर्भ संक्षेप में प्राप्त होते हैं ।[2] पराशर संहिता के 10वें, 11वें एवं 13वें अध्यायों में नारायण की चर्चा है । विशेषकर 13वें अध्याय में उल्लेख केशव, माधव, गोविन्द, विष्णु, मधुसुदन आदि अनेक देवताओं के समान नारायण प्रकरण उपलब्ध है ।[3] पाद्म संहिता "क्रियापाद" के अंतर्गत **"चतुर्विशति मूर्ति लक्षणम्"** प्रकरण में नारायण को शंख, पद्म गदा, चक्रधर कहा गया है — **नारायणः शंखपद्मगदाचक्रधरः स्मृतः** ।[4] इसी संहिता में अन्यत्र मूर्तिभेद के प्रसंग में भी नारायण की चर्चा है ।[5] इसी संहिता के चर्यापाद के अन्तर्गत 19वाँ अध्याय उत्सव प्रायश्चित नारायण बलि परक है । यहाँ श्लोक संख्या 134 से 169 (अध्याय के अन्त) तक नारायण बलि का प्रकरण दिया गया है । वृहद् ब्रह्म संहिता के प्रथम पाद के चतुर्थ अध्याय में नारायणाश्रम का बड़ा ही रुचिर वर्णन है । यहां वस्तुतः नारायण और नारायण धाम की प्रशस्ति गायी गयी है ।[6] विष्वक्सेन सहिता में नारायण की वेश-भूषा अलंकार आयुध

---

1. तस्मान्नारायणो देवः प्रणवार्थः स उच्यते ।
नम्यते देव एवैकस्तेषामेकं परायणम् ॥
नरो देवः परः स्रष्टा सर्गादौ पाथसामथ ।
तस्मान्नाराणि पाथांसि तान्येवायनमुच्यते ॥
देवस्य हेतोश्चामुष्मान्नारायणसमाह्वयः ।
नारा वायनमावासः पुरुषस्य मधुद्विषः ॥
अण् प्रत्ययः प्रकृत्यर्थे ततो वासमाह्वयः ।
एवं मन्त्रमिदं लब्ध्वा सम्यग्गुरुमुखात् स्वयम् ॥
गुरुशुश्रूषणपरः सर्वमन्त्राणि साधयेत् ।
आराध्य परया भक्त्या नारायणमनन्यधीः ॥

श्री प्रश्न संहिता, 52·36-40

2. **ईश्वर संहिता**, 24·334-359
3. द्रष्टव्य, **पराशर संहिता**, 10·14-15, 11·9-10 और 13·21-27
4. नारायण. शंखपद्मगदाचक्रधरः स्मृतः ।

—**पाद्म संहिता**, क्रियापाद, 16·31अ

5. द्रष्टव्य, तत्रैव, 18·46-71.
6. **वृहद् ब्रह्म संहिता**, प्रथम पाद, 4·1-55.

आदि के साथ उनके स्वरूप का अतीव सुन्दर वर्णन किया गया है ।[1]

शेष संहिता में नारायण मंत्र का निर्देश है ।[2] सात्वत संहिता के विभव देवता ध्यान नामक द्वादश परिच्छेद में नारायण के ध्यान का वर्णन किया गया है ।[3] हयशीर्ष संहिता में भी नारायण की प्रशस्ति की गयी है ।[4] इसी संहिता में केशवादि विभिन्न नामों से देवताओं के प्रतिमा शास्त्रीय स्वरूप का स्मरण किया गया है, नारायण के स्वरूप का वर्णन भी इसी प्रसंग में मिलता है ।[5]

वास्तव में पाञ्चरात्र और नारायण दोनों ही शब्द मूलार्थ-अभिज्ञान की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं । इस सन्दर्भ में प्रोफेसर विश्वम्भर शरण पाठक द्वारा किये गये इन शब्दों के भाषा वैज्ञानिक विवेचन को समीचीन अस्तु उल्लेखनीय कहा जा सकता है । तदनुसार नारायण शब्द में जो प्रथम पद नारा हैं वह समूह का या वर्ग का बोधक है । विष्णु सहस्रनाम में प्रयुक्त नारायण

---

1. नारायणमथो वक्ष्ये श्रृणु नारद सत्तम् ।
कुन्दपुष्पनिभं वापि श्यामं वा रक्तमेव वा ॥
शंखचक्रगदापाणिं चतुर्बाहुं किरीटिनम् ।
पीताम्बरसमायुक्तं सर्वाभरणभूषितम् ॥
सर्वावयवसंयुक्तं सर्वालंकारशोभितम् ।
सर्वदेवमयं सूक्ष्मं त्रैलोक्याधिपतिं हरिम् ॥
एवं रूपं तु संचिन्त्य हेतिन्यासमथो श्रृणु ।
दक्षिणे तु करे चोर्ध्वे पद्मं मुकुलकं न्यसेत् ॥
अस्याधरे तु चक्रं स्यात् कालाग्निसदृशं मुने ।
वामोर्ध्वे तु गदां न्यस्य ह्यधोहस्तेम्बुजं न्यसेत् ॥
—**विष्वक्सेन संहिता**, 11·153-157

2. शेष संहिता, 57·6-7, 61·12-14

3. अथ नारायणं देवं ध्यायेत् कुमुदपाण्डरम् ।
बद्धब्रह्मांजलिं शान्तु हृत्पद्मार्पितमानसम् ॥
युंजानं च स्वमात्मानं परस्मिन्नव्यये पदे ।
कमण्डलुधरं ध्यायेत् कांचनाभमतो हरिम् ॥
विष्टराविष्टपाणिं च क्रियाकाण्डप्रदर्शकम् ।
पठन्तमनिशं शास्त्रं पञ्चरात्रपुरस्सरम् ॥
—**सात्वत संहिता, परिच्छेद** 12·142-144

4. **हयशीर्ष** संहिता, (आदिकाण्ड) 19·5-6, 21·11, 22·5

5. **तत्रैव**, 22·5

शब्द पर शंकराचार्य ने जो टीका की है उससे भी इस बात की पुष्टि होती है। और अयन शब्द अय् धातु से निष्पन्न होता है जिसका अर्थ है चलना—"**अयतीति अयनः** ।" इस अयन शब्द का जो अर्थ-विकास होता है वह ध्यान देने योग्य है। यह अपने पहले चरण में संचरण, दूसरे में मार्ग और अन्ततः गन्तव्य स्थान को व्यक्त करता है। नारायण शब्द में यही अंतिम अर्थ सन्निहित है।

इस प्रकार नारायण कहने मात्र से समग्र समष्टि के प्रतीकत्व का बोध होता है। तथैव कहा जा सकता है कि समग्र समष्टि नारायण की प्रतीक है। यह स्थिति "पाञ्चरात्र" से अभिव्यक्त होती है। पाञ्च का अर्थ है—सर्व का, विश्व का अथवा समग्र का और "रात्र" शब्द "रात्" धातु से निष्पन्न हुआ है जिसका प्राथमिक अर्थ है शिक्षा देना और दूसरा है उपासना करना, "रात्र" का अर्थ है उपासना। इस प्रकार पाञ्चरात्र का अर्थ हुआ सर्वस्व की उपासना। अस्तु सर्वस्व की उपासना के माध्यम से नारायण सर्वस्व का प्रतीक है।

पाञ्चरात्रागम में वासुदेव—पाञ्चरात्र परम्परा में उपास्य ब्रह्म वासुदेव स्वरूप है। नारायण के बाद वासुदेव नाम ही अत्यन्त प्रख्यात है। षाड्गुण्य ब्रह्म के रूप में वासुदेव के स्वरूप एवं महत्व आदि पर हमने व्यूह एवं विभव शीर्षक अध्याय में विचार किया है। यहाँ इतना ही ध्यातव्य है कि वासुदेव की चर्चा एक प्रत्यय-विमर्श में महर्षि पाणिनि ने की थी। पाणिनि के एक सूत्र (4·3·98)—**वासुदेवार्जुनाभ्यां वुञ्** में वासुदेव एवं अर्जुन शब्द का उदाहरण दिया गया है। वुञ् (=अक्) वासुदेव से जुड़ कर भक्ति के भाव में वासुदेवक शब्द बनाती है जिसका अभिप्राय है वासुदेव के भक्त। महर्षि पतंजलि ने पाणिनि के इस सूत्र की व्याख्या में आदरपूर्वक—संज्ञैषा तत्र भवतः क्षत्रियस्य, टिप्पणी की है[1]—जो वस्तुतः क्षत्रिय वासुदेव की याद दिलाती है। इस आधार पर कुछ विद्वानों की धारणा है कि उन दिनों वासुदेव की प्रतिष्ठा एक वीर के रूप में थी। यद्यपि महाभाष्य की टिप्पणी पर ध्यान देते हुए कैयट ने वासुदेव को शाश्वत परम ब्रह्मस्वरूप माना है—"**नित्यः परमात्मा देवता विशेष इह वासुदेवो गृह्यत इत्यर्थः** ।"[2] ज्ञातव्य है कि श्रीमद्भगवतगीता में वासुदेव को सर्वव्यापक ब्रह्म के अर्थ में प्रस्तुत

---

1. **पाणिनिकालीन भारतवर्ष**
2. **महाभाष्य** (पाणिनि) 4·3·98, **बम्बई संस्करण**, 1·2·13, 1942 डा० पी० पी० आप्टे, **पाञ्चरात्र : नेम एण्ड ओरिजिन**, पृ० 99 पर **उद्धृत**।

किया गया है[1]—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सदुर्लभः ।।

इस प्रकार ऐसा प्रतीत होता है कि वासुदेव महर्षि पाणिनि के युग के पूर्व ही परम ब्रह्म के रूप में प्रतिष्ठित हो गये थे। पुनः हेलियोडोरस के विदिशा अभिलेख से उन्हें देवताओं में सर्वश्रेष्ठ (देवदेवस वासुदेवस) संज्ञा मिली। इस अभिलेख में यवन राजदूत हेलियोडोरस अपने को भागवत कहता है और अपने आराध्य के देवताओं का देवता वासुदेव। ई० पू० की शताब्दियों से ही, इस तरह, साहित्यिक एवं पुरातात्विक साक्ष्यों के आधार पर, वासुदेव परमात्मा के रूप में प्रतिष्ठित दिखाई देता है। पाञ्चरात्रागमों में व्यूह वासुदेव रूप में विभिन्न संहिताओं, यथा—ईश्वर, पराशर, वृहद् ब्रह्म, मार्कण्डेय, विश्वामित्र, विष्णु, विष्वक्सेन, हयशीर्ष (आदिकाण्ड) इत्यादि में उसकी प्रतिष्ठा वर्णित है।[2] आगमों एवं अन्य साक्ष्यों के साथ हमने अन्यत्र (चतुर्थ अध्याय में) इस विषय पर विस्तृत प्रकाश डाला है।

पाञ्चरात्रिक—भगवद्भक्त : भागवत

पाञ्चरात्र आगमों में विष्णु-भक्त के लिए सामान्यतः वैष्णव शब्द प्रयुक्त है और पाञ्चरात्र वैष्णव धर्म का विशिष्ट सम्प्रदाय है। लेकिन ब्राह्मण परम्परा के जिस वैष्णव धर्म की हम बात करते हैं, प्रारम्भ में उसके लिए वैष्णव शब्द का प्रयोग नहीं होता था। इस धर्म के लिए ई० पू० की शताब्दियों में जो शब्द प्रचलित रहे हैं, उनमें भागवत, सात्वत, ऐकान्तिक और पाञ्चरात्रिक शब्द विशेष महत्व के हैं। महर्षि पाणिनि की अष्टध्यायी के एक सूत्र (1·3·98) में वासुदेव और अर्जुन शब्द का उदाहरण प्रस्तुत किया गया है तदनुसार "वासुदेवक व "आर्जुनक" शब्द मिलते हैं। "वासुदेवक" शब्द स्पष्टतः यहां वासुदेव भक्त के लिए प्रयुक्त है। इस तरह पाणिनि के काल में (लगभग 500 ई०पू० के आसपास) इस धर्म और भगवान वासुदेव के भक्त को वासुदेवक कहा जाता रहा होगा। वासुदेवक की तरह

---

1. **भगवद्गीता**, 7·19
2. द्रष्टव्य **ईश्वर संहिता**, 24·72-83, 117-119; 133, 238-243, **पराशर संहिता**, 13·99; **वृहद् ब्रह्म संहिता**, 1·111, 100-103; **मार्कण्डेय संहिता**, 5·24, 8·1-2; **विश्वामित्र संहिता**, 4·5-8; **विष्णु संहिता**, 6·64-65, **विष्वक्सेन संहिता**, 11·8-14; 20·138, **हयशीर्ष संहिता**, आदिकाण्ड, 21·1-4.

ही ऐकान्तिक व पाञ्चरात्रिक भी पुरातन नाम हैं, क्योंकि उत्तर वैदिक साहित्य में एकान्तियों और पाञ्चरात्र-मतानुयायियों की प्रकारान्तर से चर्चा है। भागवत शब्द भी इस सन्दर्भ में प्राचीन है। क्योंकि ई० पू० की दूसरी शताब्दी के यवन राजदूत हेलियोडोर द्वारा विदिसा में स्थापित गरुड़ध्वज-स्तम्भ-लेख द्वारा सर्वप्रथम भगवान विष्णु के भक्त के लिए वासुदेवक शब्द का प्रयोग किया गया है जहां वासुदेव को देवदेवस (देवाधिदेव) बताया गया है।[1]

इस विशिष्ट धर्म के लिए वैष्णव शब्द का पहली बार उल्लेख महाभारत के स्वर्गारोहणपर्व (6·97) में हुआ है। महाभारत के इस पर्व की रचना लगभग 300 ई० माना जाता है।[2] जैसाकि हमारे शोध-प्रबन्ध के द्वितीय अध्याय : नाम, निर्वचन एवं प्रामाण्य से स्पष्ट है। एकान्तिन, सात्वत, पाञ्चरात्रिक जैसे अनेक नाम एक ही विशिष्ट सम्प्रदाय—पाञ्चरात्र सम्प्रदाय के बोधक हैं। पाञ्चरात्र आगम ई० पश्चात् के शताब्दियों में संकलित हुए। विद्वानों के विचार से सामान्य तौर पर इन आगमों का प्रणयन गुप्त युग से 17 वीं, 18वीं शताब्दी ई० तक होता रहा। किंतु पाञ्चरात्र आगम का स्रोत और भी पुरातन है बल्कि पाञ्चरात्र मत के प्रतिबिम्ब वैदिक वाङ्मय तक में देखे जा सकते हैं। जहां तक पाञ्चरात्र आगम-शास्त्रों का प्रश्न है, उनमें रत्नत्रय काफी पुराने हैं और सात्वत संहिता निःसन्देह सर्व प्राचीन है। इस तरह पाञ्चरात्र धर्म का विपुल वाङ्मय इस सम्प्रदाय के इतिहास के लिए तो अत्यन्त महत्वपूर्ण है ही, इसके साथ ही गुप्त काल से लेकर मध्यकाल तक की वैष्णव प्रवृत्तियों के वे अनुपम कोश हैं। पाञ्चरात्र धर्मानुयायियों के लिए पाञ्चरात्रागमों में अनेक प्रकार के सम्बोधन मिलते हैं, यथा —भागवत, पाञ्चरात्रिक, सात्वत, समयिन्, अर्चक, आचार्य, आराधक, सूरि अथवा नित्यसूरि, दीक्षित, एकान्तिन, कर्म सात्वत, जपनिष्ठ, चक्रवर्तिन, तापस, दास, पार्षद, पुत्रक, मूलक, यति, योगी, शास्त्रज्ञ, शास्त्र धारक, शिखी, सम्प्रवर्तिन जैसे शब्द अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। इसी तरह वैष्णव भगवद्-भक्तों के लिए वैखानस शब्द का प्रयोग सामान्य अर्थ में यत्र-तत्र हुए हैं।

पाञ्चरात्र संहिताओं में उक्त अनेक नामों के अतिरिक्त वैष्णव शब्द भी कहीं-कहीं प्रयुक्त हुआ है। उदाहरण के लिए बृहद् ब्रह्म संहिता में वैष्णव शब्द एकान्तिनों अथवा परमैकान्तिनों के सम्बन्ध में आया है।[3] पराशर संहिता में

1. द्रष्टव्य, सरकार, सलेक्ट इंसक्रिप्शन्स, पृ० 96
2. द्रष्टव्य, सुधाकर चट्टोपाध्याय, इवोल्यूशन ऑफ हिन्दू सेक्ट्स, पृ० 25
3. बृहद्ब्रह्म संहिता, 17·28-32

कहा गया है कि वैष्णव के लिए पंच संस्कार* आवश्यक है।[1] विश्वामित्र संहिता में दीक्षा-विधि नामक नवम् अध्याय में एकान्ती, पाञ्चरात्रिक, सूरि, भागवत, सात्वत, पाञ्चकालिक जैसे नाम एक साथ आये हैं। यहीं कहा गया है कि ज्ञान आदि षड्गुण को 'भग' कहा जाता है, उनसे जो युक्त है वही भगवान है और, उस भगवान के भक्त को भागवत कहा जाता है।[2]

पाञ्चरात्र मतानुयायियों के लिए भागवत शब्द का प्रयोग नारदीय, परम, पाद्म (चर्यापाद), पारमेश्वर, मार्कण्डेय, विश्वामित्र, विष्णु, सनत्कुमार आदि संहिताओं में हुआ है। परम संहिता में कहा गया है कि अर्चन की अष्टधा विधि के अनुसार जो भगवान की पूजा करता है वह भागवत कहलाता है।[3] यही बात पाद्म संहिता के चर्यापाद में कही गयी है।[4] विष्णु संहिता में भागवत शब्द को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि जो तत्वज्ञ है अर्थात्

---

* पञ्च संस्कार के अन्तर्गत शंख, चक्र, चिह्न, धारण, उर्ध्वपुण्ड्रादि की विधि, वैष्णव सम्प्रदाय की दीक्षा, उसका माहात्म्य आदि को वैष्णव सम्प्रदाय के बालक का पञ्च संस्कार बताया गया है।

1. पराशर संहिता, 22·26-29

2. स एतैर्नामभिर्वाच्य एकान्ती पाञ्चरात्रिक.।
सूरिर्भागवतश्चैव सात्वतः पाञ्चकालिकः॥
अन्याख्याभिर्न वाच्योऽयं यथैव प्राकृतो जनः।
समयोऽथ समा (दा) चारः स्वाध्यायद्रव्यसंग्रहौ॥
शुद्धिः पूजा स्तुतिर्ध्यानं विधिरित्यष्टधा मतः।
यो नेन विधिना तिष्ठेत् स भागवत इष्यते॥
ज्ञानादिषड्गुणगणो भग इत्युच्यते द्विज।
स यस्मिन्नस्ति भगवान् स एव भगवान् हरिः॥
तदीये यः सुनिरतः स भागवतनामभाक्॥
—विश्वामित्र संहिता, 9·90-94

3. समयऽग्रे सदाचारः स्वाध्यायो द्रव्यसंग्रहः।
शुद्धिर्यागस्तुतिर्ध्यानमित्येवं विधिरष्टधा॥
विधिना नेन यस्तिष्ठेत् स भागवत उच्यते।
जन्मान्तरकृतैः पुण्यैर्नरो भागवतो भवेत्॥
—परम संहिता, 3·37-38

4. पाद्म संहिता, 2·90-92 अ. —यह श्लोक परम संहिता से अक्षरशः मिलता है।

सत्य का ज्ञाता है, वह भागवत है।[1] इसी संहिता में अन्यत्र भागवत को सर्वश्रेष्ठ कहा गया है।[2] मार्कण्डेय संहिता में पाञ्चरात्र विधि से सम्बद्ध व्यक्ति को भागवत कहा गया है।[3] पारमेश्वर संहिता के वचनानुसार अर्चक होने के लिए सर्वोत्तम है भागवत।[4] सनत्कुमार संहिता के इन्द्ररात्र में वर्णन आया है कि किस प्रकार भगवान सात्वत अथवा कृष्ण रूप में संसार को सात्वत अथवा भागवत यानी पाञ्चरात्र धर्म का उपदेश देते हैं।[5] इस तरह भागवत शब्द पाञ्चरात्रिकों के लिए प्रसिद्ध रहा है।

पाञ्चरात्र शास्त्र को "सात्वत शास्त्र" भी कहा गया है और जैसा कि हमने अन्यत्र उल्लेख किया है महाभारत में भगवान संकर्षण द्वारा उद्गीत सात्वत विधि की चर्चा है। इस सात्वत शास्त्र के अनुयायी को सात्वत कहा जाता था। ईश्वर[6] और विष्णु[7] से यह बात स्पष्ट है। जयाख्य संहिता[8] में इन्हें कर्म सात्वत संज्ञा मिली है।

विष्णु के आराधक अथवा भक्त के लिए एक बड़ा ही महत्वपूर्ण शब्द मिलता है—अर्चक। वास्तव में इस शब्द का प्रयोग मन्दिरों में अर्चना करने वाले भक्त के लिए ही प्रायः हुआ है। अनिरुद्ध संहिता में कहा गया है कि

---

1. विष्णु संहिता, 2·1-11
2. नित्यमातोद्यवाद्यैस्तु पूजका ब्रह्मारिणः।
   विप्रा भागवता ज्ञेयाः सर्वोत्कृष्टतमास्तु ते॥
   —विष्णु संहिता, 2·39
3. मार्कण्डेय संहिता, 12·4
4. भवतैर्भागवतैरेवं प्रासादे च प्रतिष्ठितः।
   समर्चनीयो नित्यादौ राजराष्ट्रसमृद्धये॥
   —पारमेश्वर संहिता, क्रियाकाण्ड, 19·567
5. सनत्कुमार संहिता (इन्द्र रात्र), 3·73-83
6. ईश्वर संहिता, 1·17-43
7. विष्णु संहिता, 2·29-31
8. मुख्यत्वेन क्रियार्थं यः कुटुंबस्य च पालने॥
   आत्मनो भरणे चापि इत्यु (उद्यु०) क्तश्चोपसर्पति।
   वृत्यर्थमपि राजानं स विप्रः कर्मसात्वतः॥
   —जयाख्य संहिता, 22·15-16

अविवाहित व्यक्ति अर्चक नहीं हो सकता ।[1] इसी तरह परम पुरुष संहिता में विस्तारपूर्वक अर्चक की योग्यता, उसके कर्त्तव्य अधिकार आदि की चर्चा है ।[2] ऐसा प्रतीत होता है कि किसी अर्चक ने ही इसकी रचना की हो । पाद्म क्रिया[3] और पारमेश्वर[4] में मन्दिर एवं गृह में अर्चक होने की योग्यता आदि के निर्देश हैं, साथ ही उसे भट्टाचार्य भी कहा गया है । पौष्कर संहिता[5] में अर्चक के लिए पंच संस्कारों की अपेक्षा पर बल दिया गया है । विष्णु तिलक[6] और श्रीप्रश्न[7] में भी अर्चक के विषय में पर्याप्त प्रकाश डाला गया है ।

अर्चक के लिए ही एक शब्द मिलता है "साधक" । संहिताओं में इस शब्द का प्रयोग उस व्यक्ति के लिए किया गया है जो बिना किसी त्रुटि के ईश्वर की प्रतिमा की अर्चा करता है । जयाख्य[8], पौष्कर[9], विष्णु[10], और सनत्कुमार

---

1. अमन्त्रपूजने चैव तथा त्वस्थानपूजने ।
   अनाचारार्चनै चैव तथा विधुरपूजने । —अनिरुद्ध संहिता, 29·17
2. परमपुरुष संहिता, 2·1-100
3. पाद्म संहिता (क्रिया काण्ड), 2·61-66
4. पारमेश्वर संहिता, 19·553-572
5. पौष्कर संहिता, 3·124-128
6. विष्णु तिलक संहिता, 6·58-61
7. श्रीप्रश्न संहिता, 16·4-13
8. हृस्टस्तुष्टः प्रसन्नात्मा कालोक्तजपमारभेत् ।
   ईदमाचरमाणस्तु प्रत्यहं मुनिसत्तम ॥
   निशाक्षये तु शयनात्स्मृत्वा नारायणं विभुम् ।
   उत्थाय दक्षिणांशेन वामपादं न्यसेद्भुवि ॥
   गुरुं प्रसाद्य देवं च शास्त्रं चालोक्य यत्नतः ।
   तन्त्रज्ञो मन्त्रवद्धीरो द्वाभ्यां चैव द्विजोत्तमः ॥
   —जयाख्य संहिता 17·28, 29, 45
9. तदा सौ साधकत्वेन योक्तव्यो गुरुणा तथा ।
   तृतीयमण्डले चेष्ट्वा तत्र तं च प्रवेशयेत् ॥
   तद्बुद्धिदर्पणोपेतान् हृदयस्थं तु सर्वगम् ।
   सर्वाभासमनाभासं चित्सदानन्दलक्षणम् ॥
   —पौष्कर संहिता, 1·18,40 एवं आगे
10. प्रदर्श्य मण्डलं हुत्वा मन्त्राग्नौ यथा विधिः ।
    दीक्षयेद् यं गुरुः शिष्यं साधकः स तु मन्त्रभाक् ॥
    —विष्णु संहिता, 2·43

संहिताओं में साधक सम्बन्धी विवरण प्राप्य हैं। सनत्कुमार संहिता में उसे आचार्य के चार प्रकारों में से एक माना गया है।[1]

सामान्यतः स्वीकृत पाञ्चरात्र रीति को मानने वाला समयिन कहलाता है। जयाख्य संहिता में कहा गया है कि जो अपने गुरु का आदर करता है, योगाभ्यास करता है, विष्णुतिलक धारण करता है और पवित्र तिथियों में व्रत, उपवास करता है वह समयिन कहलाता है।[2] पौष्कर संहिता में एक समयिन के लिए विशिष्ट दीक्षावधि का वर्णन है।[3] विष्णु संहिता में कहा गया है कि जो मण्डल की रचना कर सके और उसमें निहित ईश्वर की आराधना करे वह समयिन है।[4] इसी प्रकार अन्यत्र सात प्रकार के समयिन बताये गये हैं एवं उनके आचार का वर्णन प्राप्त होता है। सनत्कुमार संहिता के ब्रह्म रात्र[5], इन्द्र रात्र[6] एवं ऋषि रात्र[7] में समयिन के सन्दर्भ में विस्तार से चर्चा है। वस्तुतः पाञ्चरात्र धर्म में जो लोकप्रिय आचार पक्ष है उसे समय कहा जाता था और उसके कर्ता समयिन कहलाते थे।

दीक्षा प्राप्त व्यक्ति दीक्षित कहलाता था। विष्णु संहिता[8] में समयिन के विभिन्न प्रकार बताये गये हैं, इसी संहिता (29-7) में चार प्रकार के दीक्षित बताये गये हैं। वास्तव में इसी संहिता में पांच प्रकार के दीक्षित कहे गये हैं, वे हैं—समयिन, पुत्रक, साधक, देशिक एवं गुरु। ईश्वर संहिता[9] और पौष्कर संहिता[10] में दीक्षित के विवरण हैं तथा नारदीय संहिता[11] में अभिषेकों की संख्या

---

1. सनत्कुमार संहिता, ब्रह्म रात्र, 5·118
2. जयाख्य संहिता, 16·301-336 तथा 17·3-11
3. पौष्कर संहिता 1·1-32 एवं आगे।
4. मण्डलं विधिनालिख्य परिवारवर्दाचितम्।
   दर्शयेद् यमिहाचार्य समयी नाम स स्मृतः॥
   —विष्णु संहिता, 2·41, 29·1-109
5. सनत्कुमार संहिता (ब्रह्म रात्र), 4·1-82
6. सनत्कुमार संहिता (इन्द्र रात्र), 4·53-55
7. तत्रैव, (ऋषि रात्र), 8·1-186
8. विष्णु संहिता, 29·1-3
9. ईश्वर संहिता, 22·1-67
10. पौष्कर संहिता, 1·1-32
11. नारदीय संहिता, 10·17-20

के आधार पर विभिन्न प्रकार के दीक्षित बताये गये हैं। इसी संहिता[1] में उनके सात प्रकार बताये गये हैं।

ध्यातव्य है कि दीक्षा के द्वारा मलयुक्त आत्मा का संस्कार होता है। शास्त्र में स्पष्ट रूप से प्रकाश डालते हुए कहा गया है—

दीयते ज्ञानसद्भावः क्षीयते पशुवासना।
दानक्षपणसंयुक्ता दीक्षा तेनेह कीर्तिता॥

अर्थात् जिसके द्वारा ज्ञान दिया जाता है और पशुवासना का नाश होता है, ऐसी दान और क्षपणयुक्त क्रिया को दीक्षा कहते हैं। वास्तव में पूजा-अर्चा के लिए आवश्यक गुणों से युक्त व्यक्ति को ही दीक्षा प्राप्त होती थी, उसे पंच संस्कार में में अभिज्ञ होना अनिवार्य था। इसके अतिरिक्त मंत्र, जप, यज्ञ, व्रत, उत्सव आदि तथा शास्त्र के विभिन्न व्यावहारिक पक्षों में दीक्षित होने के कारण उसे दीक्षित कहा जाता था।

जयाख्य संहिता के वैष्णावाचार लक्षण में शास्त्र धारक[2] शिखी[3], शास्त्रज्ञ[4],

---

1. नारदीय संहिता, 11·16-23.
2. श्रद्धया यः समुच्चित्य यत्र कुत्रचिदागमम्।
ब्रह्म ध्यायंस्तथा पश्चात्सन्धारयति यत्नतः॥
पूजयत्यर्घ्यपुष्पाद्यैश्शास्त्रापीठं क्रमेण तु।
ददाति वैष्णवानां च गोपयत्यकृतात्मनाम्॥
अन्यदर्शनभक्तानां विद्धि तं शास्त्रधारकम्।
इत्येतत्कथितं विप्र वैष्णवानां च लक्षणम्॥
—जयाख्य संहिता, 22·54-56
3. स्फुरत्यविरतं यस्य वैष्णवं यजनं हृदि।
प्राधान्येनाथ पित्र्यादि तदर्थं कृषिपूर्वकम्॥
समाचरति वै कर्म शिखी साक्षाद्विजोत्तमः।
मय्यपेक्षावशेनैव यद्यप्युत्कृष्टतां गतः॥
तथापि चातुराश्रम्यं सर्वेषां विहितं सदा। तत्रैव, 17.19अ
4. पुराणं धर्मशास्त्राणि इतिहासांश्च वैष्णवान्॥
वेत्ति वेदान्तसिद्धान्तान् श्रुणुयाद्व्याकरोत्यपि।
प्रणष्टपाठवाक्यानां कृत्वा वस्तुविचारणम्॥
तज्ज्ञैस्सह प्रयत्नाद्वै ह्यागमं संस्करोति यः।
अतन्द्रितः सदा विद्धि तं शास्त्रज्ञं हि वैष्णवम्॥ —तत्रैव, 51ब-53

समप्रवर्तिन[1] जैसे शब्दों के प्रयोग वैष्णव अथवा पाञ्चरात्रिक अर्थ में हुए हैं। इस प्रकार पाञ्चरात्रानुयायियों अथवा पाञ्चरात्र आगमविदों के लिए पाञ्चरात्र संहिताओं में अनेक नाम उनके कार्य, महत्व आदि के वर्णन मिलते हैं।

1. श्रद्धया ये प्रवर्तन्ते स्वयं संपूजने हरेः।
अमार्गेण तु विप्रेन्द्र विद्धि तान्संप्रवर्तिनः ॥
लिङ्गैरेतैस्तु बोद्धव्यास्सदैवाप्तादयो मुने।
अथातो योगिपूर्वाणां वैष्णवानां समासतः ॥
विप्रादिमौद्गलान्तानां लक्षणं चावधारय ॥ —तत्रैव, 36-38

प्रथम अध्याय

पाञ्चरात्र : नाम, निर्वचन एवं प्रामाण्य

1. पाञ्चरात्र—नाम

पाञ्चरात्र के लिए इस परम्परा के विपुल शास्त्र-ग्रन्थों में अन्य अनेक नाम भी मिलते हैं। यहां पाञ्चरात्र से हमारा अभिप्राय पाञ्चरात्र-शास्त्र है। भारतीय वाङ्मय के इतिहासज्ञ एम० वितरनित्ज[1] का यह कहना है कि 'संहिता' पद वैष्णवों के लिए, 'आगम' शैवों के लिए और 'तंत्र' शाक्तों के लिए ही व्यवहृत होता रहा है, सर्वथा अनुपयुक्त प्रतीत होता है क्योंकि पाञ्चरात्र वाङ्मय में न केवल ये सभी पद (संहिता, आगम और तंत्र) व्यवहृत होते रहे हैं अपितु एतदर्थ शास्त्र, सिद्धान्त, वेद अथवा मूलवेद जैसे शब्द भी अनेक संहिताओं में देखे जा सकते हैं।

पौष्कर संहिता[2] का एक महत्वपूर्ण वचन यहाँ ध्यान देने योग्य है जहां इस मत के द्विषट्सहस्र पर्यन्त—बारह हजार (12000) ग्रन्थों का संकेत है जिसे संहिता रूप में ख्यात सत् आगम कहा गया है—'द्विषट्सहस्रपर्यन्त संहिताख्यं सदागमम्'। इससे इतना तो स्पष्ट है कि संहिता और आगम न केवल एक हैं अपितु सम्प्रदाय विशेष के सन्दर्भ में संहिता ही सदागम=सत् आगम है। उल्लेखनीय है कि द्वैतवादी माधवाचार्य[3] के नाम से विख्यात श्री आनन्द तीर्थ ने इन आगमों की प्रामाणिकता को सम्यक् रूप से स्वीकार किया है और इन्हें 'सदागम' कहा है—**ऋगाद्या भारतं चैव पञ्चरात्रमथाखिलं······ सर्वे ते च सदागमः।**

---

1. प्राचीन भारतीय साहित्य (हिन्दी संस्करण), भाग 1, ख० 2, पृ० 245 (प्रकाशक : मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, सन् 1966 ई०)
2. पौष्कर संहिता, 39. 8
3. **विष्णुतत्वनिर्णय**, पृ० 2; **आगम प्रामाण्य ऑफ यामुनाचार्य** की संपादकीय (अंग्रेजी) भूमिका, पृ० 5, पा० टि० में उद्धृत।

आगम और तंत्र शब्द तब और संहितार्थक लगते हैं जब ईश्वर संहिता (21. 560-566) पाञ्चरात्र के चार वर्गों[1] का संकेत करती हैं वे हैं—आगम मंत्र, तंत्र, तत्रान्तर—

चतुर्धा भेदभिन्नोऽयं पाञ्चरात्राख्य आगमः ।
पूर्वमागमसिद्धान्तं द्वितीयं मंत्र संज्ञितम् ।
तृतीयं तन्त्रमित्युक्तं अन्यतंत्रान्तरं भवेत् ।।

सिद्धान्तों का यह चतुर्वर्ग अन्यत्र भी निर्दिष्ट है । 'पाञ्चरात्र रक्षा' के प्रथम अधिकार में कालोत्तर संहिता का वचन उद्धृत है जो ईश्वर संहिता के उक्त वचन के समान ही है—

अनेकभेदभिन्नं च पाञ्चरात्राख्यमागमम् ।
पूर्वमागमसिद्धान्तं मन्त्राख्यं तदनन्तरम् ।
तन्त्रं तन्त्रान्तरं चेति चतुर्धा परिकीर्तितम् ।

ज्ञातव्य है कि हयग्रीव संहिता में इन चारों सिद्धान्तों के फल भी निर्दिष्ट हैं—

आगमाख्यं हि सिद्धान्तं सन्मोक्षैकफलप्रदम् ।
मन्त्रसंज्ञं हि सिद्धान्तं सिद्धिमोक्षप्रदं नृणाम् ।।
तन्त्रसंज्ञं हि सिद्धान्तं चतुर्वर्गं फलप्रदम् ।
तन्त्रान्तरं तु सिद्धान्तं वाञ्छितार्थं फलप्रदम् ।।

संहितादि उक्त पदों के अतिरिक्त पाञ्चरात्र को एकायन (एकान्तिक), श्रुति, सात्वत, भागवत, वेद, तंत्र आदि संज्ञाओं से सम्बोधित किया जाता रहा है । इनमें सबसे महत्वपूर्ण एवं प्राचीन नाम पाञ्चरात्र है जिसके अर्थ और निर्वचन पर हम अगले पृष्ठों में विचार करेंगे । पाञ्चरात्र नाम की महत्ता के कारण ही इस परंपरा को पाञ्चरात्र कहते हैं ।

इसके लिए जिन उपर्युक्त नामों का संकेत हमने किया, उन्हें ध्यान में रखते हुए पाञ्चरात्र वाङ्मय की जो सामग्री उपलब्ध है, उसका संक्षिप्त विवेचन यहां अपेक्षित है ।

---

1. **ईश्वर संहिता**, 21.5601-561; **पाद्म संहिता** में प्रथमतः "मन्त्र" तदुपरान्त "आगम" का निर्देश है तथा तीसरे और चौथे यथोक्त है—

प्रथमं मंत्र सिद्धान्तं द्वितीयं चागमाभिधम् ।
तृतीयं तंत्रसिद्धान्तं तुर्यं तंत्रान्तरं भवेत् ।।

पाद्म सं०, चर्यापाद, 19

इस सन्दर्भ में ईश्वर के समान द्रष्टव्य है—

पारमेश्वर संहिता, 19.552-523

2. **लक्ष्मी तंत्र धर्म और दर्शन**, पृ० 37 पर उद्धृत ।

श्रुति मूलमिदं तन्त्रम्

पाञ्चरात्र की श्रुतिमूलकता के प्रसंग में प्राय: निम्नलिखित वचन उद्धृत किया जाता है जिसमें इसे न केवल श्रुतिमूलक कहा गया है, अपितु इसे कल्प को सूत्रवत् तंत्र बताया गया है—**श्रुतिमूल मिदं तन्त्रं प्रमाणम् कलसूत्रवत्** न्याय परिशुद्धि (शब्द, द्वि० पृ० 138) के इस वचन को मार्कण्डेय संहिता (1.38) और विष्वक्सेन संहिता (8.6-7) में भी देखा जा सकता है जहां **तन्त्रं प्रमाणम्** की जगह **शास्त्रं प्रमाणम्** मिलता है। श्रुति-सन्दर्भ में ही ध्यातव्य है कि कश्मीर के दसवीं शताब्दी के आचार्य उत्पल ने अपनी कृति 'स्पन्द प्रदीपिका' में '**पाञ्चरात्र श्रुति**' तथा '**पाञ्चरात्र उपनिषद्**' से अनेक उद्धरण प्रस्तुत किया है।[1]

स्पष्ट है कि पाञ्चरात्र श्रुति और पाञ्चरात्र उपनिषद् जिसे एकायन शाखा के ग्रन्थों से सम्बद्ध किया जाता है एतदर्थ श्रुति और उपनिषद् जैसे शब्द भी दसवीं शताब्दी तक स्मृति में विद्यमान रहे हैं। आचार्य बलदेव उपाध्याय ने इसी आधार पर कहा कि उत्पल कृत निर्देशों की यदि समीक्षा की जाय तो पता चलता है कि उस समय तक अर्थात् दशम् शतक तक पाञ्चरात्र तंत्र के ग्रंथ तीन विभागों में विभक्त थे[1]—

1. पाञ्चरात्र श्रुति
2. पाञ्चरात्र उपनिषद्
3. पाञ्चरात्र संहिता

श्री प्रश्नसंहिता की विदुषी सम्पादिका सीतापद्मनाभन् ने उत्पलाचार्य के उक्त सन्दर्भ की चर्चा करते हुए कहा है कि हमें संहिताओं में इस प्रकार के त्रिविध भेद (श्रुति, उपनिषद् एवं संहिता) नहीं मिलते हैं।[3] जबकि इस बात का खण्डन करते हुए भार्गव तंत्र के सम्पादक राघव प्रसाद चौधरी का कथन है कि किन्हीं-किन्हीं पाञ्चरात्रागम ग्रंथों की विद्यमान पुष्पिकाओं के अवलोकन से

---

1. पाञ्चरात्र श्रुतावपि-यद्वत् सोपानेन प्रासादमारुहेत्, प्लवेन वा नदीं तरेत् तद्वत् शास्त्रेण हि भगवान् शास्ता अवगन्यव्य:।
—**स्पन्दप्रदीपिका** (विजयानगरम् संस्कृत सीरिज) पृ० 2
2. आचार्य बलदेव उपाध्याय : **वैष्णव सम्प्रदायों का साहित्य और सिद्धान्त,** पृ० 77
3. **श्री प्रश्न संहिता**, भूमिका, पृ० 15-16

आचार्य उत्पलोक्त 'त्रैविध्य' युक्ति संगत प्रतीत होता है।[1] ध्यान देने योग्य है कि विश्वामित्र संहिता के कुछ अध्यायों में 'उपनिषद्' शब्द प्रयुक्त है। इसी तरह पौष्कर एवम् पाद्म संहिता के अध्यायों में महोपनिषद् शब्द का प्रयोग देखा जा सकता है। वाराहसंहिता की पुष्पिका में महोपनिषद् शब्द प्रयुक्त हैं।[3] संहिता शब्द तो सर्वत्र प्रसिद्ध है ही, नारदीय, श्रीप्रश्न तथा अनेक पाञ्चरात्र-ग्रंथों में सर्वत्र पुष्पिकाओं में संहिता शब्द निर्दिष्ट हैं। पौष्कर एवं ईश्वर संहिता की पुष्पिकाओं में श्रुति शब्द प्रयुक्त हैं वहाँ आगम सिद्धान्त के लक्षण निरूपण-क्रम में इस शास्त्र को श्रुतिस्वरूप कहा गया है। इस प्रकार स्पष्ट है कि पाञ्चरात्र शास्त्र उक्त त्रिविध (श्रुति, उपनिषद् एवं संहिता) रूपों में हमारे समक्ष विद्यमान है। लेकिन हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि इन तीनों में कोई भेद नहीं है। जो भेद दिखाई देता है वह दूसरे प्रकार का है और अवान्तरकालीन है। उदाहरण के लिए ईश्वर संहिता में इस शास्त्र को दो कोटियों में विभक्त किया गया है— (1) दिव्य (2) मुनिभाषित। तदनुसार सात्वत, पौष्कर एवं जयाख्य—इस रत्नत्रय या संहितात्रय को दिव्य शास्त्र की कोटि में रखा गया है।[3]

परम्परानुसार इन दिव्य शास्त्रों को भगवान वासुदेव ने संकर्षण को उपदिष्ट किया था और संकर्षण ने इनको लोक में प्रवर्तित किया। ध्यातव्य है ईश्वर संहिता में नारद-वचन —

श्रुयतामभिधास्यामि सर्वलोकहितैषिणः।
पुरैवं भगवानेव समालोच्य हरिस्स्वयम्॥
परित्यज्य परं धर्मं मिश्रधर्मं मुपेयुषाम्॥
भूयस्तत्पदकाङ्क्षाणां श्रद्धाभक्ती उपेयुषाम्॥
अनुग्रहार्थं वर्णानां योग्यताऽऽपादनाय च।
तथा जनानां सर्वेषामभीष्टफलसिद्धये॥
मूलवेदानुसारेण छन्दसाऽऽनुष्टुभेन च।
सात्वतं पौष्करं चैव जयाख्येत्येवमादिकम्॥
दिव्यं सच्छास्त्रजालं तदुक्त्वा संकर्षणादिभिः।
प्रवर्तयामास भुवि सर्वलोकहितैषिभिः॥
एवं दिव्यानि शास्त्राणि शण्डिल्योऽपि महामुनिः।
संकर्षणाद्भगवतः श्रुत्वा अध्यापयन् मुनीन्॥

11933

1. **भार्गवतन्त्रम्, उपोद्घात,** पृ० 'छ'
2. **वाराहसंहिता,** मातृका—552, के० सं० विद्यापीठ, तिरुपति
3. **द्रष्टव्य ईश्वर संहिता,** 1.64-66

मलयाचलनिष्ठाश्च पुरा रामस्य चाऽऽज्ञया ।
प्रथमं सात्वतं शास्त्रं सम्यगध्यापिता मया ।।
वासुदेवेन यत्प्रोक्तं शास्त्रं भगवता स्वयम् ।
अनुष्टुप्छन्दोबन्धेन समासव्यासभेदतः ।। 1.47-54 ।।

पाञ्चरात्र संहिताओं के वर्गीकरण के सन्दर्भ तथा पाञ्चरात्र ग्रंथों की संख्या के प्रसंग में हम अन्यत्र विचार करेंगे। यहाँ विचारणीय है विवेच्य शास्त्र के नाम तथा उनके स्रोत-सन्दर्भ ।

वेद एकायन नाम:

पाञ्चरात्र मत की परम्परा के अनुसार यह शास्त्र श्रुतिमूलक है और इसका स्रोत वैदिक एकायन शाखा है। नागेश ने इसकी पहचान शुक्लयजुर्वेदीय काण्व शाखा से स्थापित की है।[1]

एकायन शब्द सर्वप्रथम छान्दोग्यउपनिषद्[2] में आता है जहां नारद सनत्कुमार से कहते हैं कि उन्होंने एकायन शास्त्र का अध्ययन वेदों के साथ किया है। इससे ऐसा लगता है कि प्राचीन काल में कोई एक ऐसा शास्त्र था जिसे पाञ्चरात्र मतानुयाइयों ने वेदों के समान आदर दिया और उसे अपने चिन्तन का आधार बनाया। श्रीप्रश्नसंहिता में कहा गया है कि एकायन वेद वेदों के शीर्ष पर स्थित है। यह पाञ्चरात्र शास्त्र मोक्ष-प्रदायक है[3]—

वेदमेकायनं नाम वेदानां शिरसि स्थितम् ।
तदर्थकं पाञ्चरात्रं मोक्षदं तत्क्रियावताम् ।।

---

1. द्रष्टव्य, एक अर्वाचीन लेखक नागेश कृत **काण्डव शाखा महिमासंग्रह** की एक पाण्डुलिपि, मद्रास गर्वमेन्ट ओरियन्टल लाइब्रेरी, ट्रिनिएन्नियल कैटलॉग वाल्यूम 3 भाग 1-बी, पृ० 3211 पर उद्धृत; **जयाख्य संहिता**, फोरवर्ड, पृ० छ
2. ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्यं राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्यां सर्वदेवजनविद्यामेतद् भगवोऽध्येमि ।
—**छन्दोग्य उपनिषद्**, 7. 1-2, तत्रैव, 1-4, 2-1, 5-2, 7-1 भी द्रष्टव्य है; शंकराचार्य ने अपने भाष्य में एकायन का अर्थ नीति शास्त्र किया है जो कि उपयुक्त प्रतीत नहीं होता, यहाँ वस्तुतः एकायन शाखा की ओर संकेत है—विस्तार के लिए द्रष्टव्य कालिया, **लक्ष्मी तंत्र धर्म और दर्शन** पृ० 24-25 एवं आगे ।
3. **श्रीप्रश्नसंहिता**, 2.38.39

यस्मिन्नेको मोक्षमार्गः वेदे प्रोक्तः सनातनः ।
मदाराधनरूपेण तस्मादेकायनं भवेत् ॥

एकायन वेद संज्ञक शास्त्र के अवतरण और उसके मूल उद्‌गाताओं की ओर संकेत करते हुए ईश्वरसंहिता में बड़ा ही सुन्दर वर्णन किया गया है कि किस प्रकार शाण्डिल्य ने तोदाद्रि शिखर पर कठिन तपस्योपरान्त द्वापर युग के अन्त और कलियुग के आदि काल में संकर्षण से साक्षात्कार करके एकायन वेद संज्ञक ज्ञानराशि प्राप्त की और तदुपरान्त सुमन्तु, जैमिनि, भृगु, औपगायन आदि ने उनसे (शाण्डिल्य से) इसका अध्ययन किया । इस प्रकार यह एकायन वेद समस्त भूमण्डल में प्रख्यात है—

पुरा तोदाद्रिशिखरे* शाण्डिल्योऽपि महामुनिः ।
समाहितमना भूत्वा तपस्तप्त्वा महत्तरम् ।
अनेकानि सहस्राणि वर्षाणां तपसोऽन्ततः ॥
द्वापरस्य युगंस्याऽन्ते आदौ कलियुगस्य च ।
साक्षात्सङ्कर्षणाल्लब्ध्वा वेदमेकायनाभिधम् ॥
सुमन्तुं जैमिनिं चैव भृगुं चैवौपगायनम् ।
मौञ्ज्यायनं च तं वेदं सम्यगध्यापयत्पुरा ॥
एष एकायनो वेदः प्रख्यातस्सर्वतो भुवि ।
दुर्विज्ञयो दुष्करश्च प्रतिबुद्धैर्निषव्यते ॥ 1.38-41,43 ॥

जयाख्य संहिता में वर्णन आया है कि जिस पाञ्चरात्र परम्परा का उत्थान एकायन शाखा से हुआ, वह परमपावन है ।[1] पारमेश्वर संहिता में भी ईश्वर संहिता (21.531) के समान इस शाखा को 'रहस्याम्नाय' संज्ञा प्राप्त है ।[2] इसी संहिता में अन्यत्र इसे 'मूल-वेद' व 'सात्वत-वेद' कहा गया है ।[3] पाद्‌म संहिता के क्रिया पाद के प्रथम अध्याय में भी इस शास्त्र का संकेत है ।[4] पौष्कर संहिता एवं श्रीप्रश्नसंहिता में भी ऐसे संकेत प्राप्त हैं ।[5]

---

* तोदनात्सर्वपापानां तोदाद्रिरिति कथ्यते ।

1. एकायनीय शाखोत्थान्मन्त्रान् परमपावनान्—**जयाख्य संहिता**, 20.269
2. श्रुत्वैवं प्रथमं शास्त्रं रहस्याम्नायसंज्ञितम्
दिव्यतन्त्रक्रियोपेतं मोक्षैकफललक्षणम् ॥—**पारमेश्वर संहिता**, (ज्ञानकाण्ड) 1.16-17
3. **तत्रैव**, 10.134
4. **पाद्‌मसंहिता**, क्रियापाद, 1.5-6
5. **पौष्कर संहिता**, 38.305; **श्रीप्रश्नसंहिता**, 2.38-39, 23.185

छान्दोग्य उपनिषद् में उल्लिखित जिस एकायन शास्त्र की हमने आरम्भ में चर्चा की है वह एकायन विद्या कालान्तर में पाञ्चरात्र श्रुति के रूप में ख्यात हुई। इसी शास्त्र का प्रवर्तन औपगायन, कौशिक, शाण्डिल्य, भारद्वाज, मौञ्जायन ने किया।[1] तदनुसार एकायन शाखा काण्वी शाखा है। सम्भवतः इसी का संकेत पूर्वोक्त ईश्वर संहिता में निर्दिष्ट है। इसके अतिरिक्त मद्रास राजकीय ग्रन्थावली सूची (पृ० 33) द्रष्टव्य है, जिसकी मातृका संख्या 2389 है। यहां काण्वी शाखा के औपगायन व कौशिक को प्रपत्ति शास्त्र में निष्णात (1-109) कहा गया है, साथ ही यह भी कि जयाख्य संहिता उनके द्वारा तत्सम्पत है।[2]

ज्ञातव्य है कि पाञ्चरात्र-रक्षा में वेदान्तदेशिक ने मध्यकालीन पाञ्चरात्र प्रणेताओं द्वारा निर्दिष्ट एकायन ब्राह्मण के उद्धरण से यह स्पष्ट संकेत किया है कि इस वेद के ब्राह्मण-साहित्य का अस्तित्व रहा है। यह देव-विद्या महाभारत में भी उल्लिखित है, जहां पाञ्चरात्र परम्परा के इस महत्त्वपूर्ण शब्द एकायन के सगोत्र एकान्तिन और एकान्त धर्म मिलते हैं। एकान्ति शब्द का अभिप्राय एक ईश्वर को समर्पित व्यक्ति कहा जा सकता है—तथैव एकान्ति धर्म वह धर्म है जो अन्य सभी देवताओं को छोड़कर एक देवता की भक्ति का उपदेश देता है। यहाँ पी० पी० आप्टे का यह कथन समीचीन लगता है कि एकायन के सम्बन्ध में जो स्रोत हमें छान्दोग्य उपनिषद् में मिलता है वैसा महाभारत में नहीं।[3]

एकायन वेद के स्वरूप और महत्व का पी० पी० आप्टे ने जो निष्कर्षजन्य रेखाचित्र प्रस्तुत किया है वह समीचीन लगता है। तदनुसार एकायन वेद वैदिकजनों के एक समूह की उस भक्ति के लम्बे इतिहास को प्रतिबिम्बित करता है जहां एक परमोच्च देवता की अभिव्यक्ति ऋग्वेदीय मन्त्रों में हुई है।[4] निम्नलिखित सन्दर्भों से एकायन वेद नाम और उसके प्रारम्भिक स्वरूप के साथ पाञ्चरात्र के मूलस्रोत पर जो प्रकाश पड़ता है वह इस प्रकार है—

---

1. **जयाख्य संहिता,** (पृ० 15) में निम्नलिखित अधिक पाठ द्रष्टव्य है—
   "काण्डवी शाखामधीयानावौपगायन कौशिकौ।
   शाण्डिल्यश्च भरद्वाजो मुनिर्मौञ्जायनस्तथा॥
2. इयं शुक्लयजुः शाखा प्रथमेत्यभिधीयते।
   मूलशाखेति चाप्युक्ता तथा चैकायनीति च॥—**आगम-मीमांसा,** पृ० 10
3. आप्टे, **एकायन वेद,** पृ० 146 (सी० ए० एस० एस० स्टडीज, नं० 1)
4. तमिद्गर्भं प्रथमं दध्र आपो यत्र देवा समगच्छन विश्वे।
   अजस्य नाभावध्नेकमर्पितं यस्मिन विश्वानि भुवनानि तस्थुः॥
   —**ऋग्वेद,** 10. 82.6

1. कम से कम छान्दोग्य उपनिषद् के रचना काल तक एकायन नाम के किसी धार्मिक ग्रन्थ का अंश अस्तित्व में था जिसके प्रथम प्राप्तकर्ता नारद थे। दूसरा नाम ऋषि सनत्कुमार का ज्ञात होता है। ये दोनों ही ऋषि पाञ्चरात्र से सम्बद्ध हैं और इस दर्शन तथा धर्म के प्रवर्तक दिखाई देते हैं।

2. महाभारत के एकान्ति धर्म के आधार पर एक ऐसी परम्परा का परिचय मिलता है, जिसके सर्वोच्च देवता विष्णु थे। अहिंसा उसका एक मूल गुण था। और इस धर्म की ग्राहकता विशेषकर स्त्रियों और शूद्रों के प्रति औदार्य सम्बन्धी सार्वभौमिक दृष्टिकोण प्रचलित करना था।

3. एकान्तिन, सात्वत व भागवत—ये सभी विष्णु भक्ति से सम्बन्धित जन थे लेकिन आवश्यक नहीं कि इन्हें एक ही मान लिया जाय। अवश्य ही इनके विचार मिलते-जुलते थे। अत: वे पाञ्चरात्र धर्म के एक मंच पर सम्मिलित हुए।

4. सात्वत-विधि मूर्तिपूजन का एक महत्वपूर्ण मार्ग था और एकान्ति धर्म सम्भवत: योगियों के लिए साधना का मार्ग। कालान्तर में इन दोनों ने पाञ्चरात्र सम्प्रदाय के स्वरूप-निर्माण में प्रभावी भूमिका अदा की। इस दृष्टि से एकायन, धार्मिक पद्धति के भाव में, दो स्तरों में दिखाई देता है। पहला चरण वैष्णव जनों के साथ वैदिक जनों का एक समूह रूप में ज्ञात होता है जो याज्ञिक धर्म के परिपालन के साथ विष्णु को ही सर्वस्व मानता था, और उन्हें अन्न की बालें प्रदान करता था। दूसरे चरण में भक्ति और मूर्ति-पूजा ने धीरे-धीरे यज्ञीय धर्म का स्थान ग्रहण कर लिया। एकायन की पहली धारा में विष्णु यज्ञ-वाचक था—एक (=विष्णु)+अयन (=मार्ग=निवास)। दूसरी धारा में एकायन मोक्ष का मार्ग था—एक (=मोक्ष)+अयन (=मार्ग)।

5. ईश्वरसंहिता और पारमेश्वर संहिता द्वारा ज्ञात श्वेत द्वीप सम्बन्धी ऐतिहासिक महत्व के विवरण एकायन की उत्पत्ति के स्रोत प्रतीत होते हैं। नारद एवं अन्य ऋषि इस परम्परा के प्रवर्तक रहे हैं। इस एकायन का उत्कर्ष पाञ्चरात्र संहिताओं में कम-से-कम ईश्वर और पारमेश्वर (लगभग 800 ई०) के सन्दर्भों में अभिव्यक्त है।

6. एकायन की मूल वेद रूप में स्वीकृति संदिग्ध प्रतीत होती है; क्योंकि प्रमुख संहिताओं में ऐसे विवरण नहीं मिलते। ईश्वर और पारमेश्वर के काल तक एकायन को एक वैदिक शाखा माना जाता रहा। यह शाखा कुछ रूढ़िवादी ब्राह्मण कुलों से सम्बद्ध थी। यह बात छान्दोग्य उपनिषद् के प्रमाण से भी स्पष्ट है। लेकिन एकायन की परम-पावन सत्ता तथा ऋग्वेदादि से उसकी श्रेष्ठता को सम्प्रदाय भाव से स्वीकार किया जा सकता है। इस प्रकार का

प्रवृत्ति, कि पाञ्चरात्र अवैदिक है, अस्तित्व में नहीं रही है। पाञ्चरात्र सम्प्रदाय के अनुयायी अपने शास्त्र को श्रेष्ठतर प्रमाणित करते रहे।

अन्ततः यही दृष्टिकोण समीचीन प्रतीत होता है कि एकायन वेद के स्रोता अत्यन्त पुरातन हैं। कालान्तर में विष्णु का इस परम्परा के मूल देवता नारायण से समीकरण होता गया। पाञ्चरात्र संहिताओं में एकायन मन्त्रों के अस्तित्व के सन्दर्भ और वेदान्त देशिक द्वारा पाञ्चरात्र-रक्षा में एकायन ब्राह्मण सम्बन्धी सन्दर्भों के महत्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है।[1]

पञ्चरात्रं महातन्त्रम्

पाञ्चरात्र शास्त्र विभिन्न संहिताओं में तन्त्र नाम से भी जाना जाता है। किन्तु विचारणीय है 'तन्त्र' का मूलार्थ। तन्त्र शब्द '**तन्यते विस्तार्यते**' के भाव में विस्तार करने अथवा फैलाने के अर्थ में तन् धातु से निष्पन्न हुआ है जिसमें 'स्त्रन्' (त्र) प्रत्यय संयुक्त है। वाचस्पति, आनन्दगिरि तथा गोविंदानन्द आदि मनीषियों ने तन्त्र शब्द को 'तत्रि' धातु से व्युत्पादित अथवा ज्ञान के भाव में निष्पन्न माना है। गणपाठ में अवश्य ही 'तत्रि' का अभिप्राय 'तन्' विस्तार करने' के समान ही है।[2] एक अन्य व्युत्पत्ति के अनुसार तन्त्र शब्द 'तन्' एवं 'द्व' से निष्पन्न है जिसमें तन् धातु का अर्थ है ज्ञान का विस्तार करना—'**तन्यते विस्तार्यते ज्ञानं अनेन, इति तन्त्रम्**' और त्र का तात्पर्य है—बचाना, त्राण किन्तु यह वस्तुतः व्युत्पत्ति नहीं वरन् निर्वचन है जिसके लिए तन्त्रज्ञों ने बार-बार निम्नलिखित शैव सिद्धान्त के कायिक आगम (तन्त्रांतर पटल) के श्लोक को उद्धृत किया है—

---

1. एकायन वेद के सन्दर्भ में हमने प्रस्तुत ग्रन्थ के आरम्भ में भी, मूल स्रोत के प्रसंग में विमर्श किया है। 'एकायन' वेद, नाम और उसके महत्व में पी० पी० आप्टे का लेख एकायन वेद सी० ए० एस० एस० स्टडीज, नम्बर 1 पृ० 14`-155 द्रष्टव्य है।
2. द्र० सर जॉन उडरफ : शक्ति एण्ड शाक्त, पृ० 52, तंत्र को शाक्त-सन्दर्भ से जोड़ना वस्तुतः अत्यन्त भ्रामक व त्रुटिपूर्ण है क्योंकि वैष्णव व शैव आगमों के अनेक तन्त्रों (शास्त्रों) का हमें ज्ञान है। द्र० तत्रैव, पृ० 53। ज्ञातव्य है कि श्रीमद्भागवत् पुराण (10.9034) में वैष्णवागम या पाञ्चरात्र को 'सात्वत तंत्र' कहा गया है—

   तेनोक्तंग सात्वतंग तंत्रं यत् ज्ञात्वा मुक्तिभाग् भवेत्।
   यत्र स्त्री शूद्रदासानाँग संस्कारो वैष्णवः स्मृतः॥

तनोति विपुलानर्थान् तत्वमन्त्रसमन्वितान् ।
त्राणं च कुरुते यस्मात् तन्त्रमित्यभिधीयते ।।

नारदीय संहिता में गौतम के प्रश्न की जिज्ञासा के समाधान में नारद ने वैखानस, शैव और पाशुपत आदि तन्त्रों की चर्चा करते हुए पाञ्चरात्र को महा-तन्त्र[1] कहा है—

वैखानसं च शैवं च तन्त्रं पाशुपतं तथा ।
पञ्चरात्रं महातन्त्रं तन्त्राण्येतानि सुव्रत ।।

इसी प्रसंग में आगे (25.342 में) पाञ्चरात्र विधि द्वारा पूजन की चर्चा की गयी है। पाद्म संहिता के ज्ञानपाद के अन्तर्गत छः प्रकार के तन्त्रों का निर्देश है और उन्हें परस्पर विरुद्ध बताया गया है ।[2] ईश्वर संहिता में कहा गया है कि जब एक संहिता का उपयोग पूजा के लिए किया जाय तो दूसरी का समा-नान्तर उपयोग पाप है ।[3] इसके आगे के श्लोकों[4] और अगस्त्य संहिता के दशम् परिच्छेद में 'तन्त्र' शब्द के दोनों ही अर्थ प्रतिध्वनित हैं।[5] नारदीय विधान के अनुसार चतुर्विध तांत्रिक परम्पराओं के नाम ज्ञात होते हैं । इस प्रसंग में दोष मुक्ति के लिए प्रायश्चित्त-विधान मिलता है।[6]

अहिर्बुध्न्य संहिता के प्रथम अध्याय में सांख्य-योगादि शास्त्रों की चर्चा करते हुए उनके तन्त्र-भेद भी इंगित हैं। यथा-योग शास्त्र के स्वरूप-वर्णन में इसे विष्णु संकल्प रूप और महत् योगानुशासनम् (11.31) और उसके दो भेद निरोध संहिताख्य तथा कर्म संहिताख्य (1.32) बताये गए हैं। इनमें प्रथम निरोध संहिता के जिन द्वादश भेदों की आगे चर्चा है वे तन्त्र कहे गये हैं। पराशर संहिता में तन्त्रों के सात्विक भेद का वर्णन है।[7]

1. **ना० सं०**, 25. 337
2. **पाद्म** सं०, ज्ञान पाद, 1. 47-54
3. **ई० सं०**, 19. 455- 457
4. **तत्रैव**, 21. 559-587, 23. 1-50.
5. **ना० सं०**, 25. 332-342
6. संहिता तु निरोधाख्या तत्र द्वादशधा स्मृता ।।
अङ्गतन्त्रमथाद्यं तु दोषतन्त्रमतः परम् ।
उपसर्गाभिधं तन्त्रं तथाधिष्ठानकं परम् ।।
आधारतन्त्रं योगं च बहिस्तच्चाधिकारवत् ।
रिक्तयोगाख्यतन्त्रं च पूर्णयोगाख्यमेव च ।
सिद्धियोगाख्यंया त्रीणि मोक्षतन्त्रमतः परम् ।
इति द्वादशभेदास्ते निरोधायाः प्रकीर्तिताः ।।
—अहि० सं०, भाग-1, अ० 12. 33-36
7. **पराशर संहिता**, 1. 27

पारमेश्वर संहिता के अनुसार इस तन्त्र में प्रतिष्ठा पूजा के भाव निहित है ।[1] विष्णु संहिता में तन्त्र नाम से इस शास्त्र की महिमा का विवेचन है कि किस प्रकार व्यक्ति इसके माध्यम से भय-मुक्त होते हैं । पुनः शास्त्र रूप तन्त्रों को वेद सम्मत कहा गया है ।[2] इसके अतिरिक्त विष्णुतिलक, विष्वक्सेन एवं सात्वत संहिताओं में भी तन्त्र निर्दिष्ट है ।[3]

उपर्युक्त अधिकांश ग्रन्थों में तन्त्र सांकर्य दोष और तन्त्र सांकर्य निषेध तथा प्रायश्चित्त आदि का यथा प्रसंग विस्तार से वर्णन है ।

पाञ्चरात्रमिदं शास्त्रम्

शास्त्र शब्द का सामान्य अर्थ है जो सत्य कथन करे अथवा जो शासन (अनुशासन) प्रदान करे—शंसनाद् शासनाद्वा शास्त्रम् ।[4] पाञ्चरात्र-सन्दर्भ में शास्त्र शब्द का प्रयोग इसी भाव से विभिन्न संहिताओं में किया गया है । जयाख्य, पौष्कर एवं सात्वत—त्रिरत्न संहिताओं में भी शास्त्र शब्द बड़े आदर के साथ प्रयुक्त हुआ है । जयाख्य संहिता में शास्त्रावतरण की व्यापक चर्चा है ।[5] पौष्कर संहिता में शास्त्रांतर्गत मंत्र सिद्धान्त, एवं तन्त्रान्तर सिद्धान्त का उल्लेख मिलता है ।[6] सात्वत संहिता में कहा गया है कि शास्त्र एवं शास्त्रार्थ में सांकर्य नहीं होना चाहिए ।[7]

अनिरुद्ध संहिता में भगवद् कृतित्व के सन्दर्भ में भृगु से श्री भगवान का कथन ध्यातव्य है[8] —

---

1. **पारमेश्वर सं०**, 19. 516-517
2. **विष्णु तन्त्र**, 2.10-11 तथा 11-19
3. **विष्णु तिलक**, 1. 53 एवं 8.339; **विष्वक्सेन सं०**, 10.141-146; **सात्वत सं०**, 25.283-290
4. शास्त्रम् (शिष्यतेऽनेन इति) ।
5. **जयाख्य सं०**, 1.1-79
6. **पौष्कर सं०**, 38.295-302
7. न शास्त्रार्थस्य शास्त्राणां बुद्धिपूर्वं उपप्लवः ।
   आचर्तव्य इहाज्ञानात् पारम्पर्यक्रम बिना ॥—**सात्त्वत सं०**, 21.47; द्र० अलशिंग भट्ट की टीका, **तत्रैव**, पृ० 425; **श्री पाञ्चरात्ररक्षा** में भी यही भाव द्रष्टव्य है—अस्खलित पारम्पर्यप्रत्याभिज्ञानेषु स्थानेषु परिदृश्यमानप्रमाणमूलान्याचार-परम्परागृहीतानि च कर्माणि न मात्रयापि परिहाप्यानि, न च तद्विरुद्धान्युपादेयानीत्युक्तं भवति ।—**श्री पाञ्चरात्र रक्षा**, प्रथमोधिकारः, पृ० 5
8. **अनिरुद्ध संहिता**, 1. 41-43

पञ्चरात्रमिदं शास्त्रं भुक्तिमुक्तिप्रदायकम् ।
मच्छासनामिदं शास्त्रंमिदं गृह्णीष्व सादरम्।।
मत्प्रसादाद्विशेषेण शास्त्रपारंगतो भव ।
इत्युक्त्वा देवदेवेशस्तत्रैवान्तरधीयत ।।
अहं शास्त्रं समादाय गमिष्यामि ममाश्रमम् ।
एतच्छास्त्रमुपाश्रित्य मुक्तिमार्गः प्रसिध्यति ।।

इस प्रकार पाञ्चरात्र को भुक्ति-मुक्ति प्रदायक शास्त्र कहा गया और इसे ईश्वर प्रोक्त शास्त्र संज्ञा प्राप्त है। कहा गया है कि इस शास्त्र के प्रति आश्रित होकर मुक्ति मार्ग प्राप्त किया जा सकता है।

अहिर्बुध्न्य संहिता में पाञ्चरात्र का नाम-निर्देश पंचविधि शास्त्रों (वेद, सांख्य, योग, पाशुपत एवं पाञ्चरात्र) के रूप में इस निर्देश के साथ किया गया है कि सभी के स्रोत ब्रह्म की सुदर्शन शक्ति में निहित हैं।[1]

भारद्वाज संहिता में पाञ्चरात्र का विलक्षण निर्वचन किया गया है। यहाँ वस्तुतः पाञ्चरात्र पंचविध रात्र के रूप में निर्दिष्ट है—1. ब्रह्मरात्र, 2. शिवरात्र, 3. इन्द्ररात्र, 4. नागरात्र और 5. ऋषि रात्र।[2]

प्रथम ब्रह्मरात्रं तु द्वितीयं शिवरात्रकम् ।
तृतीयमिन्द्ररात्रं तु चतुर्थं नागरात्रकम् ।
पञ्चममृषिरात्रं तु पञ्चरात्रमिति स्मृतम् ।।

यहां जिन पांच नामों का निर्देश है, वह सनत्कुमार संहिता के पांच भागों (रात्रों) से तुलनीय है। जो ब्रह्मरात्र, शिवरात्र, इन्द्ररात्र, ऋषिरात्र इन चार रात्रों में विभक्त हैं और पांचवां रात्र अस्तित्व में नहीं है। अन्तःसाक्ष्य (सनत्कुमार संहिता, ऋषिरात्र, 2.98) के आधार पर यह वृहस्पतिरात्र हो सकता है। पृथक्-पृथक् श्रद्धाशास्त्रों की चर्चा विहगेन्द्र[3] संहिता में आई है—

आदौकृतयुगे प्राप्ते केशवने प्रसादिताः ।
अनन्तो गरुडश्चैव विश्वक्सेनः कपालभृत ।।
ब्रह्मा इत्येव पचैते शृण्वन्ति पृथगीरितम् ।
अनन्तं प्रथमे रात्रौ गरुडश्च द्वितीयके ।।

---

1. **अहि० सं०**, 1. 12. 1-55
2. **भारद्वाज संहिता**, 2. 12-13
3. **विहगेन्द्र संहिता**, 1.34-37

तृतीयरात्रे शेनेशश्चतुर्थे वेधसा श्रुतम् ।
रुद्रः पञ्चमरात्रं च श्रद्धाशास्त्रं पृथक्-पृथक् ।।

डेनियल स्मिथ ने प्रत्येक रात्र को प्रत्येक रात्र से सम्बद्ध देवता द्वारा प्रति-रात्रि में किए गए पूजा-विधान इस तरह क्रमशः पाञ्चरात्र की उत्पत्ति को स्वीकार किया है।[1] किन्तु यह यथार्थ बोधक प्रतीत नहीं होता। उपरिनिर्दिष्ट 'रात्र' शिक्षा अथवा ज्ञान वाचक शब्द है अस्तु यहाँ पाञ्चरात्र को दिव्य ज्ञान की क्रमिक अवतारणा का प्रतिफल कहा जा सकता है। दूसरे शब्दों में यह (रात्र) क्रमशः ज्ञान की प्रक्रिया में पाञ्चरात्र बना। इस प्रकार पञ्चविध शास्त्रों की भगवान के प्रति निष्ठा यहां अभिव्यक्त है[2] **निष्ठा त्वेकेन शास्त्राणामेतेषां पञ्चवर्त्मनाम। शास्त्रं सुदर्शनं नाम तदर्थो विष्णुरव्ययः।**

उल्लेखनीय है कि अहिर्बुध्न्य के इसी अध्याय के अन्तिम कुछ श्लोक में पाञ्चरात्र-स्वरूप का वर्णन है, जहां विष्णु के सौदर्शन स्वरूप को सात्वत नाम प्रदान किया गया है और उसके दस भेद बताये गये हैं। इस प्रकार यहां सात्वत शास्त्र के दस संहिता भेद सनातन काल से बताये गये हैं—

भगवत्संहिता त्वाद्या तथान्या कर्मसंहिता।
विद्यामयी तृतीया च चतुर्थी कालसंहिता ।।
कर्तव्यसंहिता त्वन्या षष्ठी वैशेषकी क्रिया ।।
सप्तमी गदिता तत्र पूज्या संयमसंहिता।
अष्टम्यधिकृते चिन्ता नवमी मार्गसंहिता ।।
सात्वती गीयते शुद्धा दशमी मोक्षसंहिता ।।
एतावत सात्वतं शास्त्रमाविरासीत् सनातनात्।
एतानि पंच शास्त्राणि मूलभूतानि वैमुने।
युगे-युगे विभज्यन्ते विष्णु संकल्पचोदितैः ।। 12.45-49 ।।

ईश्वर संहिता में भी पाञ्चरात्र को सात्वत शास्त्र कहा गया है।[3] अन्यत्र इसे वेदमेकायनाभिधम् (1.18) कहते हुए बताया गया है कि यह एक मात्र मोक्ष मार्ग है—**मोक्षायनाय वै पन्था एतदन्यो न विद्यते। तस्मादेकायनं नाम प्रवदन्ति मनीषिणः।** (1·19)। इस संहिता के प्रथम अध्याय में शास्त्रावतार का विस्तार से वर्णन है। इसी संहिता के 23 वें अध्याय में आगम-श्रुति-

1. डैनियल स्मिथ, **तत्रैव**, भाग 2, पृ० 321
2. **अहि० संहिता**, I. 12. 54
3. मुनयो ह्यत्र तिष्ठन्ति प्रार्थनात हरेः पदम्।
एतेषां सात्वतं शास्त्रं मुपदेष्टुं त्वमर्हसि ।। —**ईश्वर सं०**, 1.9

मूलत्व के प्रसंग में इस शास्त्र की चर्चा है।[1] पराशर संहिता में वैष्णव शास्त्रों की प्रशंसा तथा मायावाद एवं बौद्ध शास्त्र का खण्डन किया गया है।[2] पारमेश्वर संहिता में भी शास्त्र-परम्पराओं का निर्देश है।[3]

शाण्डिल्य संहिता में शास्त्र का सात्विक वर्गीकरण दिखाई देता है।[4] श्रीप्रश्न संहिता में द्विज द्वारा निर्मित किये गये विष्णु अथवा लक्ष्मी के मन्दिरों को सात्विक शास्त्रानुकूल माना गया है।[5] इस प्रकार विभिन्न संहिताओं में पाञ्चरात्र ग्रन्थों को यथा प्रसंग शास्त्र नाम से अभिहित किया गया है।

आगम एवं संहिता

आगम शब्द की अर्थवत्ता एवं उसके अभिप्राय पर हमने अन्यत्र विचार किया है।[6] पाञ्चरात्र शास्त्र के लिए कभी-कभी किसी एक ग्रन्थ विशेष के लिए भी आगम शब्द का प्रयोग होता रहा है। साधारणतया आगम स्वभावतः विभिन्न धार्मिक परम्पराओं के शास्त्रों के लिए व्यवहृत होता है यथा—शैवागम, पाञ्चरात्रागम एवं वैखानस आगम।

आगम की तरह ही संहिता भी पाञ्चरात्र साहित्य के लिए प्रयुक्त पद का नाम है। संहिता का अभिप्राय है—**परः सन्निकर्षः संहिता स्यात्।** अनेक पाञ्चरात्र ग्रन्थ संहिता नाम से जाने जाते हैं। बल्कि अधिकांश ग्रन्थ संहिता वाचक हैं। रत्नत्रय के नाम से ख्यात तीनों ही ग्रन्थ संहिता कहलाते हैं। इसी प्रकार अहिर्बुध्न्य, ईश्वर, पारमेश्वर, शाण्डिल्य, विश्वामित्र इत्यादि सहिताओं के रूप में विख्यात हैं। इन संहिताओं में बहुधा इनके लिए संहिता के अलावा आगम, तंत्र, पाञ्चरात्र, वेद, शास्त्र और सिद्धान्त जैसे शब्दों के प्रयोग भी हुए हैं। प्रस्तुत सन्दर्भ में पाञ्चरात्र ग्रन्थों में आगम सम्बन्धी सन्दर्भ श्रोत विचारणीय हैं। पौष्कर संहिता में त्रिविध आगमों—सात्विक,

---

1. द्र०, **ईश्वर सं०**, 23.3-33
2. **पराशर संहिता**, 1. 27
3. **पारमेश्वर संहिता**, 10.334-386 तथा 19.522-572
4. सात्विकेषु च शास्त्रेषु कल्पे कालेऽधिकारिणि।
   संस्तुतो भगवान विष्णुरोजसेषु परे सुराः॥
   —**शाण्डिल्य संहिता**, अंश 3. अ. 1 श्लोक 35 एवं आगे
5. स्वयंव्यक्तालये दिव्यतमाख्यं देवकल्पिते।
   सैद्ध प्रकल्पिते धाम्नि दिव्यतमाख्यं देवकल्पिते॥
   —**श्रीप्रश्न संहिता**, 29. 224
6. देखिये, प्रस्तुत ग्रन्थ, पृ० 1-3

राजस एवं तामस की चर्चा है। साथ ही यहां पारमेश्वर को सर्व प्राचीन और सात्वत को सर्वाधिक प्रामाणिक कहा गया है।[1]

यहां पर पाद, कल्प और संहिता जैसे पद की व्याख्या की गई है।[2] पुरुषोत्तम संहिता में आगम शब्द को पाञ्चरात्र का पर्याय बताया गया है।[3] भारद्वाज संहिता के प्रथम अध्याय के अन्त में 108 तन्त्रों के नाम उनके आचार्य शास्त्राओं के नाम दिये गये हैं और इन्हें आगम कहा गया है। सात्वत संहिता में पारमेश्वर, पौष्कर, वराह और प्राजापत्य नामों का निर्देश है।[4] अन्यत्र आगम के त्रैविध्य—दिव्य, मुनिभाषित एवं पौरुष—का संकेत मिलता है।[5]

सिद्धान्त संज्ञा…सार्थका

किसी विशिष्ट आगमिक परम्परा की विशेष शिक्षा को पाञ्चरात्र साहित्य में आगम सिद्धान्त कहा गया है। पाञ्चरात्रागम के जो चतुर्विध भेद (आगम, मंत्र, तंत्र एवं तन्त्रान्तर) बताये जाते हैं वे वस्तुतः सिद्धान्त हैं। लेकिन इन सिद्धान्तों का महत्व अलग-अलग है। शास्त्रानुसार किसी भी स्थिति में इनका सांकर्य दोषपूर्ण कहा जायेगा। पौष्कर के 38वें (अधिकार निरूपण नामक) अध्याय के अन्त में सिद्धान्त-लक्षण दिये गये हैं और सिद्धान्त संज्ञा की सार्थकता व्यक्त की गई है। तदनुसार कहा गया[6] है—

सिद्धान्त संज्ञा विप्रास्य सार्थका अतएवहि।
पुराणं वेद वेदान्तं तथान्यत्साङ्ख्ययोगजम्॥
पंचप्रकारं विज्ञेयं यत्र रात्रायतेऽब्जज।
फलोत्कर्ष वशेनैव पंचरात्रमिति स्मृतम्॥

भारद्वाज संहिता में भी चतुर्विध सिद्धान्त-नाम तथैव मिलते हैं।[7]

1. आद्यं सर्वागमानां च पारमेश्वरमागमम्।
प्रमाणपरिशुद्धं च हितमब्जज सात्वतम्॥ —**पौष्कर संहिता, 39.** 18
2. "……सर्वेषां संहिता संज्ञा बोधव्या कमलोद्भव"।
—**पौष्कर संहिता**, 39.9, विस्तार के लिए द्र० 39. 1-11
3. **पुरुषोत्तम संहिता**, 1. 9-12
4. यः स्थितस्त्रिविधे सर्गे विभवः पारमेश्वरः॥
पौष्कराख्ये च वाराहे प्राजापत्ये महामते।
सूक्ष्मत्वेन च निश्शेषं प्रत्येकस्मिन् हि वर्तते॥
—**सात्वत संहिता**, परिच्छेद 9. 132-133
5. **सात्वत संहिता**, 22. 47-55
6. **पौष्कर संहिता**, 38. 307-308
7. **भारद्वाज संहिता**, 111. 41

ईश्वर संहिता तथा पाद्म संहिता के चर्यापाद में चतुर्विध सिद्धान्तों का वर्णन है ।[1] पारमेश्वर संहिता में चतुर्विध सिद्धान्तों को चतुर्युगों से सम्बद्ध किया गया है ।[2] साथ ही यहां सिद्धान्त शब्द का विलक्षण निर्वचन प्रस्तुत किया गया है[3]—

ये जन्मकोटिभि: सिद्धास्तेषामन्त्रोऽत्र जन्मन: ।
यस्मात्तस्माद्विवे दैषसिद्धान्ताख्यो यथार्थत: ॥

वैष्णवान्दोलन सामान्यतया पाञ्चरात्र नाम से प्रचलित है यद्यपि कभी-कभी सिद्धान्त रूप में भी इसकी मान्यता रही है । पौष्कर संहिता में सिद्धान्त शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त है **तामद्वय च सिद्धान्त पंचरात्रेति पौष्कर** (38·303) डॉ० पाठक के विचार से यह सिद्धान्त अथवा वैष्णव सिद्धान्त सम्भवत: मध्य एवं दक्षिण भारत के शैव सिद्धान्त का अनुकरण है ।[4]

वेद

पाञ्चरात्र वाङ्मय में कभी-कभी वेद शब्द परमोच्च धर्म ग्रन्थ के रूप में स्वीकार किया गया है। कुछ महत्वपूर्ण संहिताओं से पाञ्चरात्र वाङ्मय के लिए ही वेद शब्द का प्रयोग किया गया है । अनिरुद्ध संहिता के अध्ययनोत्सव विधान नामक 26वें अध्याय में इस तन्त्र (वाङ्मय) को वेद कहकर ईश्वर के समक्ष उसके श्रवण का निर्देश है ।[5]

अगस्त्य संहिता में वेद का अभिप्राय पाञ्चरात्र शिक्षाओं से है क्योंकि वहां कहा गया है कि यह पाञ्चरात्र शास्त्र वेदों पर आधारित है अत: सात्वत है । इसके विपरीत वैखानस असात्वत परम्पराओं से सम्बद्ध है ।[6] ईश्वर संहिता में

---

1. **ईश्वर सहिता**, 21. 559-587; **पाद्म संहिता**, ज्ञानपाद, 1 80-82,86, चर्यापाद, 19. 110-132, 21. 184
2. **पारमेश्वर संहिता**, क्रियाकाण्ड, 19. 521-543
3. **पारमेश्वर संहिता**, 19. 544
4. विश्वम्भर शरण पाठक : **दि अर्ली वैष्णव पैंथियान**, जे० यू० पी०एच०एस० XXIV-XXV, 1951-52, पृ०211, उक्त सिद्धान्त पंचविधि विभक्त है—(1) वैखानस, (2) सात्वत, (3) एकान्तिन, (4) शिखी और (5) मूलपाञ्चरात्र । विस्तार के लिए द्र०पाठक—तत्रैव, पृ०211-12 एवं आगे
5. वाचिकं स्तोत्रमित्युक्तं तन्त्रे स्मिन् विष्णुना पुरा ।
   वेदान्यास्त्यपरं स्तोत्रं तस्माद्वेदांस्तु श्रावयेत् ॥
   —**अनि० सं०**, 36. 20
6. **अगस्त्य सं०, अ०** 10.

वेद सम्मत शास्त्र को ही सात्वत शास्त्र माना गया है और स्वीकार किया गया है कि इस पाञ्चरात्र वाङ्मय के स्रोत वेद हैं—

महतो वेद वृक्षस्य मूलभूतो महानयम् ।
स्कन्धभूता ऋगाद्यास्त शाखाभूताश्च योगिनः ॥ 1.24 ॥

नारदीय संहिता में पाञ्चरात्र की वैदिक प्रकृति का संकेत है।[1] तदनुसार पाञ्चरात्र में जिन मंत्रों का प्रकाश किया गया है वे सभी मंत्र वैदिक समझे जाने चाहिए और उनका रहस्य निश्चित ही वैदिक है। पाञ्चरात्र नाम से ख्यात वेद सम्मत इसका रहस्यपूर्ण ज्ञान इस वाङ्मय में अभिव्यक्त है। पौष्कर संहिता में आधारासन, देवतालक्षण नामक अध्याय में वेदों के सम्पूर्ण नर लक्षणों का अतिशय सुन्दर वर्णन किया गया है—

तुहिनाच्छोपलस्वच्छमुक्ताफलशशिप्रभाः ॥
मृगेन्द्रस्कन्धवन्दना धर्मं ज्ञानादयश्चतः ।
पद्मरागप्रवालादिसद्दाडिमफलोज्जवलाः ॥
अन्तर्दयोपरक्ताश्च राजराजेश्वरोपमाः ।
द्विरष्टवर्षवद्विद्धि चत्वारो धर्मपूर्वकाः ॥
हेमचम्पकखद्योतहरितादलोज्ज्वलाः ।
वाजिवक्त्रा स्मृताः वेदास्सम्पूर्णनरलक्षणाः ॥ 24.32-35 ॥

वृहद् ब्रह्म के अनुसार नैतिक शिक्षा के लिए वेदों का ज्ञान परमावश्यक है।[2] इसी संहिता में अन्यत्र कहा गया है कि वैष्णव धर्म का उदय वेदों से हुआ।[3] ज्ञातव्य है कि लक्ष्मी तन्त्र में पाञ्चरात्र और वेद विषयक विलक्षण वचन मिलते हैं[4] जिनके अनुसार पाञ्चरात्र वेदों से श्रेष्ठतर है। यहां वेद का आशय वैदिक संहिताओं (प्रथम तीन वेद) से है। यहां कहा गया है—

उत्तमाः पञ्चरात्रस्था मध्यमास्तुत्रयी मयाः ।
तन्त्रान्तरस्था विज्ञेया अधमाः शास्त्रचक्षुसाः ॥ 22.36 ॥

विष्णु संहिता[5] में पाञ्चरात्र के वेद मूलकत्व को स्वीकार किया गया है—

इति तंत्रस्या तन्त्रत्वं तत्त्रयाः परिचक्षते ।
वेदमूलतया तन्त्रमाप्तमूलतयाथवा ॥ 2.11 ॥

---

1. नारदीय संहिता, 29. 39-40
2. बृहद् ब्रह्म सं०, 1. 1. 31 एवं आगे
3. तत्रैव, 1. 7. 10
4. विस्तार के लिए द्र०, ल०त०, 22.32-37
5. विस्तार के लिए द्र०, विष्णु सं०, 2.11-19

शाण्डिल्य संहिता में कहा गया है कि वेदों में शासित (उपदिष्ट) ज्ञान के समान पाञ्चरात्र शास्त्र में सदाचरण एवं भक्ति सनक आदि मुनियों द्वारा उपदिष्ट है ।[1] श्री प्रश्न संहिता के अनुसार पाञ्चरात्र वेदों के समान ही शाश्वत है क्योंकि इसमें एकायन वेद की व्याख्या और उसका भाष्य संकलित हैं ।[2]

इस प्रकार उपर्युक्त सन्दर्भों से यह स्पष्ट है कि पाञ्चरात्र वाङ्मय में इस शास्त्र को या तो सीधे वेद कह दिया गया है अथवा यत्र-तत्र इसके वेद-मूलकत्व का प्रतिपादन किया गया है ।

सात्वत

सात्वत शब्द की व्युत्पत्ति बहुत स्पष्ट तो नहीं है परन्तु इस शब्द के जो निर्वचन मिलते हैं वे इस नाम के शास्त्र विशेष अथवा भक्त के अर्थ की निष्पत्ति करते हैं । भक्त अथवा अनुयायी अर्थ में 'सात्वताः' की चर्चा पाञ्च-रात्र संहिताओं में अनेकत्र हुई है । यहाँ पाञ्चरात्र शास्त्र अर्थ में सात्वत (शास्त्र) का जो परिचय दिया जाता है, वह ध्यातव्य है तदनुसार इसकी दो व्याख्यायें प्रायः निम्नवत दी जाती हैं[3]—

1. सत् ब्रह्म सत्वं वा तद्वन्तः सात्वन्तः ब्रह्मविधाः
   सात्विका वा, तेषामिदं कर्म शास्त्रं वा सात्वतम्
   तत्कुर्वाणास्तदाचक्षणाश्च वा ।
2. सातयति सुखयत्याश्रितान् इति सात् परमात्मा, स एतेषामस्तीति वा
   सात्वताः सात्वन्तो वा, महाभागवताः ।

इस प्रकार सत् का आशय सत्व अर्थात् ब्रह्म और तत्सम्बद्ध होने के कारण जो सात्वन्तः अथवा सत्विकाः कहे जाते हैं वे हैं—ब्रह्मविद । उनका यह कर्म अथवा शास्त्र शाश्वत है । दूसरी व्याख्या के अनुसार सात्वत शब्द सात् धातु से सुख देने के अर्थ में निष्पन्न बताया गया है । तदनुसार जो परमात्मा (सात्)

---

1. विस्तार के लिए द्र०, **शाण्डिल्य संहिता**, प्रथम अध्याय
2. **श्रीप्रश्न**०, 2.38-46
3. द्र० **पराशर कृत विष्णु सहस्र नाम-भाष्य** (वेंकटेश्वर प्रेस संस्करण) विष्णु सहस्र नाम (श्लोक 67) में आये 'सात्वतां पति' की व्याख्या में शंकराचार्य ने लिखा है—सात्वतं नाम तंत्रम्, 'तत करोति तदाचष्टे' (चुरादिगणसूत्रम्) इति णिचि कृते क्विप् प्रत्यये णिलोपे च कृत पदं सात्वत्, तेषो, पतिः योगक्षेमकर इति । द्र० **विष्णु सहस्र नाम** (गीताप्रेस गोरखपुर-संस्करण) पृ० 137

के आश्रितों (भक्तों) को सुख प्रदान करे, ऐसा शास्त्र है—**सात्वत और इसके** अनुयायी सात्वत अथवा भागवत कहलाते हैं। शंकर के शारीरक भाष्य[1] एवं यामुनाचार्य के आगम प्रामाण्य[2] में पाञ्चरात्र एवं भागवत का समीकरण इंगित है तथा महाभारत एवं स्पन्दप्रदीपिका में पाञ्चरात्र एवं सात्वत एक ही है, इस प्रकार का संकेत मिलता है। पाञ्चरात्र शास्त्र के लिए भागवत और सात्वत दोनों ही नाम मिलते हैं। इस सम्बन्ध में पाद्म संहिता (IV·ii·88) उद्धरणीय है—

सूरिःसुहृद्भागवतः सात्वतः पञ्चकालवित्।
ऐकान्तिकः तन्मयश्च पाञ्चरात्रिक इत्यपि॥

विष्णु पुराण (5·17·16) में आया है—**वासुदेवश्च सात्वतः।** यहाँ सात्वतों को वासुदेव का उपासक अस्तु पाञ्चरात्र को वासुदेव मत के रूप में याद किया गया है। भगवान[3] एवं वासुदेव में बहुत कम अन्तर दिखाई देता है। भगवान कहने से षड्गुणों से युक्त एक देव (ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य एवं तेज नामक छः गुणों से युक्त—भग + वान् = ब्रह्म) का बोध होता है तो इसी प्रकार पौराणिक परम्परा में वासुदेव का षाड्गुण्य भी ज्ञातव्य है—**'एवमेष महाशब्दो भगवानिति सत्तम। परब्रह्मभूतस्य वासुदेवस्य नान्यतः।**[4]

महाभारत के भीष्म पर्व में आया एक श्लोक बहुत प्रसिद्ध हुआ है—**सात्वतं विधिमास्थाय गीतः संकर्षणेन यः।**[5]

यहाँ सात्वत विधि निश्चिय ही उस शास्त्र की ओर संकेत है जो संकर्षण

---

1. यदपि भागवता मयन्ते।
2· तदिह भागवतं गतमत्सराः मतमिदं विमृशन्तु विपश्चितः—यामुनाचार्य ने अपने **आगम प्रामाण्य** नामक ग्रंथ के प्रारम्भ में ही विद्वानों से पाञ्चरात्र धर्म में यथार्थ विमर्श का अनुरोध किया है।
3. भगवान का मूलार्थ है भग युक्त। भग एक ऋग्वेदीय देव नाम भी है, किन्तु भगवान या भगवत (भागवत) में भग का यहाँ अभिधार्थ है—तेजस्तत्व और ये तत्व गुणात्मक कहे गये हैं। विश्वामित्र संहिता में षड्गुणों की अवधारणा मान्य है अस्तु भगवान है—षाड्गुण्य ब्रह्म का नाम वस्तुतः इन्हीं षड्गुणों में ही ब्रह्म की सर्वातिशायिनी शक्ति उपन्यस्त है।

—द्र० **विश्वामित्र संहिता**, 4.1-8
4. **विष्णु पुराण**, 6. 5. 76; इस सन्दर्भ में अहिर्बुध्न्य **6.25 भी द्रष्टव्य है** जहाँ—'षाड्गुण्य विग्रहं देवं' का उल्लेख है।
5. **महाभारत**, भीष्म पर्व, 66. 40

द्वारा प्रणीत पाञ्चरात्र ही हो सकता है। स्पन्द प्रदीपिकाकार (आचार्य उत्पल) ने 'श्री सात्वता' कहकर पाञ्चरात्र व सात्वत का समीकरण किया है।[1] महाभारत के परम भागवत राजा वस्तु उपरिचर की जो कथा नारायणीयोपाख्यान-(335-337) में मिलती है तदनुसार यह राजा नारायण का भक्त था और काम्य व नैमित्तिक सब अनुष्ठान सात्वत विधि से करता था।[2]

सात्वत संहिता समस्त पाञ्चरात्रागमों में बल्कि त्रिरत्नों में भी सर्व प्राचीन मानी जाती है।[3] सात्वत संहिता के प्रसिद्ध भाष्यकार अलशिंग भट्ट ने इस ग्रन्थ के अपने भाष्य के आरम्भ में ही पच्चीस लक्षणों से युक्त सात्वत तन्त्र का स्मरण किया है।[4] उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि पाञ्चरात्र श्रुति, एकायन, तन्त्र शास्त्र, आगम, सिद्धान्त, वेद और सात्वत आदि कई नामों से गुणानुरूप ख्यात रहा है। इनमें सर्वाधिक प्रसिद्ध नाम पाञ्चरात्र है जिसके मूलार्थ, निर्वचन आदि पर विचार करना समीचन होगा।

2. पाञ्चरात्र : निर्वचन

वर्तमान शताब्दी के आरम्भ में जर्मन विद्वान एफ० ऑट्टो श्रेडर[5] (1916) तत्पश्चात् शताब्दी के उत्तरार्द्ध में जे०ए० वान बुतानिन[6] (1962),

---

1. **स्पन्द प्रदीपिका**, पृ० 20
2. विस्तार के लिए द्रष्टव्य **आगम और तन्त्र शास्त्र** पृ०, 49-50
3. विस्तार के लिए द्रष्टव्य, **उपोद्घात** (सम्पादकीय), **सात्वत सं०**, वाराणसी संस्करण, विक्रमाब्द 2039, पृ० 5-6
4. "अत्र तावद् भगवान् भगवच्छास्त्रविशारदो नारदो महामुनिः साक्षाद् वासुदेवेन संकर्षणादयोपदिष्टं स्वेन संकर्षपाल्लब्धरहस्याम्नायसंज्ञितैकायनश्रुतेः सूत्ररूपं भगवत्प्राप्त्यैकोपायभूताभिगमनोपादानेज्यास्वाध्याययोगरूपकर्म-विचारैः पर व्यूहविभवरूपब्रह्मविचारैश्च गर्भितं पञ्चविंशतिलक्षणं सात्वतं तन्त्रमुपदेक्षयन् आदौ सदवतारक्रमं दर्शयति-विष्णोरिति।"

   —**सात्वत संहिता** 1.1 पर अलशिंगभट्ट का भाष्य; **सात्वतीयोयोग**: उप शीर्षक में पं० ब्रजवल्लभ द्विवेदी ने अपने ग्रंथ 'आगम मीमाँसा' में एतत्सम्बन्धी जो विवेचन किया है प्रसंगवश वह भी द्रष्टव्य है। —पृ० 23 एवं आगे
5. श्रेडर, एफ० ऑट्टो : **इन्ट्रोडक्शन टु दि पाञ्चरात्र एण्ड दि अहिर्बुध्न्य संहिता।**
6. वी० राघवन, "**दि नेम पाञ्चरात्र विथ एन एनलसिस ऑफ़ दि सनत्कुमार संहिता इन मैन्युस्क्रिप्ट**"।

वी० राघवन[1] (1965), पी० पी० आप्टे[2] (1972), एच० डेनियल स्मिथ[3] (1973) एवं अन्य विद्वानों ने 'पाञ्चरात्र' नाम की अर्थवत्ता स्पष्ट करने का स्तुत्य प्रयास किया है। तथापि यह शब्द एक प्रहेलिका की तरह आज भी विद्वज्जनों के लिए प्रश्न चिन्ह बना हुआ है? इनमें अद्यतन विमर्श प्राप्य है उनका डॉ० स्मिथ के शोध-पत्र में एतत्सम्बन्धी प्राय: सभी विचारों का समाहार किया गया है। स्मिथ और आप्टे दोनों ही 'पाञ्चरात्र' नाम की अर्थवत्ता पर विस्तारपूर्वक विचार करने के बाद भी किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुंचते। अन्ततः स्मिथ[4] का यह कथन समीचीन लगता है कि 'पाञ्चरात्र' सम्प्रदाय का वाङ्मय विपुल है और इस मत के सम्प्रदाय सम्बन्धी शास्त्रों और अन्य स्रोतों का तुलनात्मक सर्वेक्षण एवं उनका विश्लेषण अद्यावधि नहीं हुआ है अस्तु 'पाञ्चरात्र' का मूलार्थ अस्पष्ट है। इस सन्दर्भ में यथेष्ट निष्कर्ष के लिए प्रस्तुत प्रकरण के अन्त में हम यथासम्भव प्रयास करेंगे। पाञ्चरात्र के मूल अभिप्राय एवं उसके अर्थ-विकास को सम्यक् रीति से समझने के लिए इस मत की प्राचीनता एवं इसके ऐतिहासिक अभ्युदय पर किंचित् विमर्श के साथ ही पाञ्चरात्रागमों एवं इतर वैष्णव वाङ्मय में उपलब्ध स्रोत अन्वेषणीय एवं विवेचनीय प्रतीत होते हैं किन्तु हमारा प्रतिपाद्य पाञ्चरात्रागमों की स्रोत-सामग्री का अध्ययन है अस्तु एतदर्थ हम इसी लक्ष्य से विचार करेंगे।

पाञ्चरात्र नाम और निर्वचन के अध्ययन के प्रसंग में, निश्चय ही, मूल स्रोत पाञ्चरात्र शास्त्र हैं। इसमें भी अब तक प्रकाशित वाङ्मय को हमने आधार बनाया है अस्तु इसके पूर्व कि पाञ्चरात्रागमों में एतद्विषयक विचारों का हम दोहन करें, आवश्यक है कि पाञ्चरात्र पद में 'पाञ्च' एवं 'रात्र' के मूलार्थ समझने का प्रयत्न करें। 'पाञ्चरात्र' शब्द में दो पद हैं, 'पाञ्च' एवं 'रात्र'। 'पाञ्च' वस्तुत: 'पञ्च' पद से ही बना है। अस्तु सर्वप्रथम 'पञ्च' का अर्थ : निर्वचन तदनन्तर 'रात्र' की अर्थ-मीमांसा अपेक्षित है।

पञ्च—पञ्च शब्द का उल्लेख अनेक ऋग्वेदीय मन्त्रों में भी हुआ है।[5]

1. वुतानिन, जे० ए० वी० वान, **दि नेम पाञ्चरात्र**
2. आप्टे, पी० पी०, **पाञ्चरात्र नेम एन्ड ओरिजिन**
3. स्मिथ एच० डेनियल, **ए टाइपोलॉजिकल सर्वे ऑफ डिफनिशन : दि नेम पाञ्चरात्र**
4. स्मिथ, **तत्रैव**, पृष्ठ 117,
5. **ऋग्वेद**, X. 53.5 (पञ्च-जना मम होत्रं); X. 13.4 (पञ्च पदानिरूपौ); 1.164. 12 (पञ्च पादं पितरं); 1.16413 (पञ्चारे चक्रे) तथा अन्य ऋग्वेदीय संदर्भों के लिए द्रष्टव्य ऋग्वेद—अनुक्रमणिका, विश्वेश्वरानन्द इंस्टीट्यूट प्रकाशन, होशियारपुर, 1966, पृ० 4365

संहिताओं से लेकर ब्राह्मण एवं आरण्यकों तक यह साधारणतया किसी-न-किसी समस्त पद यथा—'पञ्च-जनाः' या 'पाञ्च-जन्य' अथवा 'पञ्चमानवाः' का विशेषण रहा है।[1] निश्चय ही पञ्च यहां संख्यावाची है। ऋग्वेद के मन्त्र में संयोग से पञ्च-जन के प्रसंग में, पञ्च की व्याख्या की गयी है। ऋग्वेद (8.63.7) का एक मन्त्रांश है—'यत् पाञ्चजन्य या विशा'। निरुक्त (3.8) में इसकी व्याख्या की गयी—'**पञ्चजनीनयाविशो। पञ्च-पृक्ता संख्या-स्त्री-पुन्नपुंसकेष्व विशिष्टा**'। अर्थात् जो पांच जनों के रूप में (बसी हुई) प्रजा के द्वारा=पांच-जन वाली प्रजा के द्वारा। पांच सांझी संख्या है—स्त्री, पुरुष और नपुंसक (लिंग वाले पदार्थों) में भिन्न-भिन्न नहीं होने वाली। वास्तव में संस्कृत में एक से लेकर चार तक संख्यायें विशेष्य-निघ्न होती हैं। पांच ही सबसे पहली संख्या है, जो विशेष्य-निघ्न नहीं होती। **अतः यह सभी लिंगों वाले पदार्थों की सांझी संख्या है।** अस्तु पृक्ता <पृच्+त+टाप्=पञ्च। किन्तु यहां पञ्च का अर्थ-निर्वचन है, शब्द-निर्वचन नहीं।[2]

वैदिक छन्दों में एक है 'पङ्क्ति'। पञ्च संख्या से सम्बन्ध के कारण यह छन्द 'पङ्क्ति' कहलाता है। इसमें पांच पाद होते हैं: 'पञ्च-पदा पङ्क्तिः' (ऐ० ब्रा० 5.18)। कुछ स्थलों पर इस छन्द को 'पञ्चाक्षरा' तथा 'पञ्च-पदा' दोनों बतलाया गया है। यथा—**सविता पञ्चाक्षरयाऽक्षर पङ्क्तिमुदजयत्। या ह्यक्षर-पङ्क्तिः, सा पङ्क्तिः। चतुर्धा ह्येतस्याः पञ्चपञ्चाक्षराणि** (मै० सं०, 1.11.10)।[3]

इन वैदिक सन्दर्भों से पञ्च शब्द संख्यावाची प्रतीत होता है। निश्चय ही

1. ए० ए० मैक्डानल एण्ड ए० बी० कीथ, **वैदिक इण्डैक्स**-भाग, 2 पृ० 466-468 पर "पञ्च-जनाः" समस्त पद की विस्तृत व्याख्या द्रष्टव्य है।
2. विस्तार के लिए द्रष्टव्य: पण्डित शिवनारायण शास्त्री, **निरुक्त के पांच अध्याय**, पृ० 307
3. **शतपथ ब्राह्मण** (13. 6. 1. 7) में पांक्त शब्द पञ्चरात्र सत्र के प्रसंग में आया है। यहाँ सफल कांक्षत्व की उपासना में कहा गया है—"स वाऽएष पुरुष मेधः। पञ्चरात्रो यज्ञक्रतुर्भवति पाँक्तो यज्ञः पांक्तः पशुः पंचर्तव संवत्सरो यत्किंच···।" तैत्तिरीय संहिता (7. 1. 10. 3-4) में 'पंचाक्षरा पंक्ति' का उल्लेख हुआ है। 'पञ्चरात्र' के प्रसंग में ही—'पञ्चरात्रो भवति पञ्च वा ऋतवः संवत्सर ऋतुषवेव संवत्सरे प्रतितिष्ठत्यथो पञ्चाक्षरा पंक्तिः, पांक्तो यज्ञो यज्ञमेवारुन्धे'।

यह पञ्च का विकसित अर्थ प्रतीत होता है। यही अभिधार्थ पाञ्चरात्रागमों में भी ध्वनित होता है जिसका विश्लेषण हम आगे करेंगे।

कुछ विद्वानों ने 'पञ्च' शब्द की निष्पत्ति पच् धातु (पच व्यक्तीकरणे अथवा डुपचष् पाके) से मानने की चेष्टा की है जो कि समीचीन नहीं लगता। पाणिनीय धातु पाठ में भी पच् धातु की समीक्षा के सन्दर्भ में 'पञ्च' विषयक कोई उद्धरण नहीं है। हां, वहाँ √पञ्च— (पचि व्यक्तीकरणे 1.171) के अन्तर्गत् √पच्—(पचि व्यक्तीकरणे), √पञ्ज्—(गतौ) और √पञ्च् (पचि विस्तार वचने) पर विमर्श अवश्य हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है 'पञ्च' शब्द पच् धातु (पचि विस्तार वचने) से निष्पन्न है।[1] तथापि इस शब्द के यथार्थ-अभिज्ञान के लिए भाषा-वैज्ञानिक विश्लेषण अपेक्षित है।

पञ्च : भाषा-वैज्ञानिक अर्थवत्ता—आधुनिक भाषा वैज्ञानिकों ने पञ्च शब्द की अर्थवत्ता पर यथेष्ट प्रकाश डाला है। इसमें ए० गॉत्ज, वि० वि० इवानोव, जोहन फ्रेडरिख, पोलोमे, जेमेरेन्यी आदि ने बीसवीं शती के उत्तरार्द्ध में 'पंकुस्-पञ्च' के व्याकरण और अर्थ-निर्धारण के विविध प्रयास किये। प्रो० पोलोमे के इस प्रस्ताव में पूरा वजन है कि पुराभारोपीय 'पेंक्वे-पञ्च' शब्द का अर्थ 'सम्पूर्ण' है और इस सम्पूर्णता का आधार है, हाथ में पांच ही अंगुलियां हैं और इसलिए 'पञ्च' का अर्थ 'सम्पूर्णता' है। नैषधकार श्री हर्ष ने अवान्तर काल में 'प्रपञ्चवाची खलु पञ्च शब्दः' में इसी की स्मृति का अनुगुंजन किया। पञ्चानन=सिंह का अर्थ विशाल होता है।[2]

इस प्रकार 'पञ्च' समग्रता का बोधक है और पञ्चरात्र अथवा पाञ्चरात्र शब्द में यही अर्थ निहित होना चाहिए। शतपथ ब्राह्मण में सर्वप्रथम प्रयुक्त 'पञ्चरात्र' के पञ्च का मूलार्थ सर्व, समग्र या सम्पूर्ण मान लेने पर 'पाञ्च' (समग्र या सम्पूर्ण के) 'रात्र' की बात स्पष्ट हो जाती है। प्रो० विश्वम्भर शरण पाठक ने 'पञ्च' पद के मूलार्थ पर प्रकाश डालते हुए इसके सगोत्र 'पेक्वे', 'पंकुस्', 'पेंदारखोस' आदि की चर्चा करते हुए कहा है कि पञ्च समग्र का बोधक सब होकर भी एक है, क्योंकि बिना एकत्व के समग्रता नहीं। प्रो०

---

1. यथा : ये के च कुरूपञ्चालानां राजानः—ऐ० ब्रा०, 8. 14; पञ्चालानाचक्षते—श० ब्रा०, 13. 5. 4. 7; पञ्चिका=न्यासः ; रागप्रायः प्रपञ्चः—कादम्बरी 151;—द्र० **पाणिनीयधातु पाठ समीक्षा**, पृ० 292
2. द्र० विनफ्रेड पी० लेहमन : लिंग्विस्टिक स्ट्रक्चर, **इण्डो-योरोपियन ऐण्ड इण्डो-योरोपियन्स**, पृ० 3-4; डा० सच्चिदानन्द मिश्र, **प्राचीन भारत में ग्राम्य जीवन**, गोरखपुर, 1984 पृ० 127, पाद टिप्पणी 2 पर उद्धृत।

पाठक के विचार से पोलोमे ने पञ्च सगोत्र शब्दार्थ—साम्य का अधार हाथ का पंजा इसीलिए माना है।[1]

रात्र—पाणिनीय धातुपाठ में 'रा' और 'ला' धातुओं का निर्देश है[2]—दानार्थक और अदानार्थक। वाल्देपॉकर्नी के अनुसार वैदिक रा से रात्रि, राम्या, राम आदि पद निष्पन्न हैं भारोपीय धातु 'ला' से।[3] पाञ्चरात्रागमों में सामान्यतः रात्र शब्द रा + त्र अर्थात् 'रा' धातु के साथ त्राणार्थक 'त्र' संयुक्त होकर निष्पन्न होता है। किन्तु यह निर्वचनार्थ है—व्युत्पत्यर्थ नहीं। वस्तुतः प्रस्तुत सन्दर्भ में विवेचनीय है भारतेरानी √रात्, जिसका अर्थ है उपासना करना।[4] प्रो० पाठक ने हमारा ध्यान आवेस्तिक 'रात' की ओर आकृष्ट करते हुए कहा है कि 'रात' के विवेचन से ज्ञात हुआ कि गुह्य विद्या और इससे सम्बद्ध उपासना एवं उपासक समूह आवेस्तिक 'रात्र' के द्वारा अभिहित है। 'रात्र' का यही अर्थ शतपथ ब्राह्मण में समीचीन प्रतीत होता है। 'रात्र' का लातीनी सगोत्र है 'लात्रिए' जिसका अर्थ है उपासक। 'पाञ्चरात्र' पद का मूलार्थ इस दृष्टि से हुआ समग्र की उपासना। समग्र का अभिप्राय है नर-समष्टि अस्तु पाञ्चरात्र का अर्थ है समग्र यानी नर-समष्टि की उपासना।[5]

पाञ्चरात्र : मूलार्थ

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि पाञ्चरात्र उस समग्र ज्ञान बल्कि उपासना का निर्देश करता है जो एक शास्त्र या आगम के रूप में प्रतिफलित हुआ। शतपथ ब्राह्मण में प्रथमतः उल्लिखित पञ्चरात्र-सत्र का मूल

1. प्रो० पाठक के एक अखिल भारतीय प्रसारण **"प्राचीन भारत में ग्राम-स्वराज्य"** (आकाशवाणी, नई दिल्ली, 17-8-87 को पहली बार प्रसारित तथा व्यक्तिगत वाक्-विमर्श से परिज्ञात। आपने हाल ही में 'पाञ्चरात्र' और "नारायण" जैसे विलक्षण शब्दों की भाषावैज्ञानिक अर्थवत्ता (व्युत्पत्ति एवं अर्थ-विकास) पर प्रामाणिक शोधपूर्ण लेख तैयार किया है जो अभी अप्रकाशित है।
2. **पाणिनीय धातु पाठ समीक्षा**, पृ० 497, एवं पृ० 420
3. वाल्दे पॉकर्नी, **तत्रैव**, भाग दो, पृ० 377-78
4. माता प्रसाद त्रिपाठी, **'रात्री : व्युत्पत्ति एवं अर्थवत्ता'** अप्रकाशित शोध-पत्र।
5. प्रो० विश्वम्भर शरण पाठक, द्वारा बातचीत से परिज्ञात उनके अप्रकाशित शोश-पत्र पर आधारित।

अभिप्राय इसी अर्थ को वहन करता है और नारायण[1] से सम्बद्ध होकर यह शास्त्र स्वतः अतिशय महत्वपूर्ण बन जाता है। डॉ० पाठक का निष्कर्ष है कि नारायण और पाञ्चरात्र पद शब्दशः और प्रसंगशः दोनों रूपों में सम्बद्ध हैं। पाञ्चरात्र है नर-समष्टि की उपासना और नारायण है नर-समष्टि का देवता।[2]

पाञ्चरात्रागमों में पाञ्चरात्र निर्वचन की परम्परा

पाञ्चरात्र वाङ्मय में 'पञ्च' के प्रयोग प्रायः प्रतीकात्मक अर्थ में हुए हैं।[3] ऐसा इसलिए है क्योंकि इस आगम का नाम भी 'पञ्च' युक्त है। इस सम्प्रदाय के अनुयायी को पाञ्चरात्रिक संज्ञा मिली है। अहिर्बुध्न्य संहिता, पौष्कर संहिता, सात्वत संहिता, विष्णु संहिता आदि में पञ्च सामान्यतया संख्यावाची है।[4] यथा—अहिर्बुध्न्य संहिता में पाञ्चरात्रेतर पांच मतों का एक साथ उल्लेख है—सांख्य, योग, पाञ्चरात्र, वेदान्त और पाशुपत।[5] इसी तरह पौष्कर संहिता[6] में पञ्चाङ्ग-पूजा का उल्लेख ब्रह्म की उपासना के प्रसंग

---

1. नाराथण शब्द में नार+अयन ये दो पद हैं। विष्णुसहस्रनाम (39) की टीका में शंकराचार्य ने नार का अर्थ किया है—नर आत्मा, ततो जातान्याकाशादीनि नाराणि कार्णाणि तानि अथ कारणात्मना व्याप्नोति, अतश्च तान्ययनमस्येति नारायणः। तदनुसार 'नार' का एक विशिष्ट अर्थ है—नर सम्बन्धी। अयन शब्द-अम् से निष्पन्न है जिसका अर्थ है चलना। अयन का अभिप्राय है पथ तथा निवास=गन्तव्य स्थान। नारायण में यही अर्थ अभिप्रेत है। नारायण वस्तुतः समग्र नर-समष्टि का प्रतीक है तथैव समग्र नर-समष्टि नारायण का प्रतीक है। —प्रो० विश्वम्भर शरण पाठक के एक प्रकाश्य शोध-पत्र तथा वाक् विमर्श से परिज्ञात।
2. **यथोपरि**
3. स्मिथ डैनियल, दि पाञ्चरात्रागम, भाग 2 पृ० 52
4. द्र०, अहि० सं०, 54.4-5 (यहां सांख्य, योग, पाञ्चरात्र, वेदान्त और पाशुपत—इन पञ्च सम्प्रदायों का निर्देश है। पौ० सं०, 26.1-60 में ब्रह्म की उपासना के 'पञ्चाङ्गपूजा' का संकेत है।
5. सांख्यानां परमं ज्ञानमिदमेव महामुने।
   इयं सोपानभूमिः सा योगिनां नियतात्मनाम्॥
   तदेतदयनं ह्येकं सात्त्वतानाम् महात्मनाम्॥
   एतत् त्रय्यन्तेसर्वस्वमेतत् पाशुपतं मतम्॥ —**अहि० सं०**, 54. 4-5
6. **श्री पौष्कर संहिता**, 26. 1-60 (**यहाँ ब्रह्म की उपासना की "पञ्चाङ्ग-पूजा" का संकेत है**)

में पञ्च-पदों के रूप में है। विष्णु संहिता[1] में पञ्च के रहस्य पर प्रकाश डाला गया है। सात्वत संहिता[2] भी यहां ध्यान देने योग्य है।

पञ्च शब्द पाञ्चरात्र के अतिरिक्त अन्य अनेक पदों से भी जुड़ा है यथा—पञ्चकाल,[3] पञ्चाङ्ग[4], पञ्चगव्य, पञ्च-संस्कार और पञ्चायुध आदि। पञ्चगव्य कर्मकाण्ड का एक प्रसिद्ध शब्द है इसमें गाय के पांच तत्व—गोमय, गोमूत्र,

---

1. वैखानसाः सात्वताश्च शिख्येकान्तिकमूलकाः ॥
गोचरास्तु समाख्याता वासुदेवाद्यजाश्रयाः ।
भिद्यन्ते पञ्चधैते तु गोचराः पारमार्थिकाः ॥
अर्चनं सर्वकालं तु देवदेवस्य नित्यशः ।
अयाचितोपपन्नेन कुटुम्बस्य च पोषणम् ॥
वृत्तिभेदः क्रिया चेति यत्र वैखानसं कुलम् ।
एककालं द्विकालं वा विष्णोराराधनं स्फुटम् ॥
क्षत्रवृत्योपपन्नेन कुटुम्बस्य च पोषणम् ।
नावर्तनं च सङ्ग्रामे सर्वशास्त्रेषुकौशलम् ॥
एतैस्तु लक्षणैर्युक्ताः सात्वतास्ते प्रकीर्तिताः ।
कृषिवाणिज्यगोरक्षा द्विकालं विष्णुपूजनम् ॥
एतच्च दृश्यते यत्र शिखिनस्ते प्रकीर्तिताः ।
शुश्रूषणं द्विजातीनां भैक्षवृत्या च वर्तनम् ॥
सकृच्चाराधनं येषां ते तथैकान्तिकाः स्मृताः ।
एककालं द्विकालं वां त्रिकालमथवा पुनः ॥
अर्चनं देवदेवस्य मनोवाक्कायकर्मभिः ।
अयाचितोपपन्नेन वर्तनं येषु दृश्यते ॥
स्वशिष्याद् वर्तनं वापि ते ज्ञेया मूलसंज्ञकाः ।
प्रत्येकं पञ्चभिर्भेदैस्तान्यासन् पञ्चविंशतिः ॥
—विष्णु संहिता, पटल, 2. 26-35

2. कृपया गुरुणा देयं समयाना तु पञ्चकम्
भक्तिरग्नौ गुरौ मन्त्रे शास्त्रे तदधिकारिणी ॥
नियतं पञ्चकस्यास्य यथावत् परिपालनात् ।
अनुष्ठानात् तु नान्येषां स्वातन्त्र्येण यथेच्छया ॥
—सात्वत संहिता, परिच्छेद 21.62-63

3. द्र० प्रस्तुत ग्रन्थ का अध्याय 5

4. तत्रैव

गोदुग्ध, गोघृत, एवं गोदधि आते हैं। नारदीय संहिता (27.41-44), पराशर संहिता (3.81) पाद्म, (चर्यापाद 8.117-135), पारमेश्वर (22.1-38, 39-119), मार्कण्डेय (30.14-37), विश्वामित्र (19.101-113), विष्णु (10.15-17), शेष (32.1-50), श्रीप्रश्न (21.51-63) आदि में 'पञ्च-गव्य' के वर्णन मिलते हैं।

श्री वैष्णवों के लिए जिन पञ्च संस्कारों का विधान था उनमें ताप, पुण्ड्र, नाम, मंत्र एवं योग—ये पांच बातें ज्ञात होती हैं। पञ्चसंस्कार के पर्याय रूप में 'समाश्रयण' शब्द भी प्रचलित रहा है (द्र० श्रीवैष्णव ब्राह्मपाज, पृ० 34-37)। पाञ्चरात्र संहिताओं में ईश्वर, जयाख्य, पराशर, बृहद्ब्रह्म, भारद्वाज, मार्कण्डेय, विष्णुतिलक और श्रीप्रश्न में पञ्चसंस्कारों का न्यूनाधिक वर्णन आता है।[1]

पाञ्चरात्रागमों में भगवान विष्णु के पांच आयुधों का वर्णन मिलता है, वे हैं—चक्र, गदा, शंख, शार्ङ्ग, नंदक। अहिर्बुध्न्य संहिता (30.1-41) में राजाओं व उनके दैवी उत्पत्ति सम्बन्धी आयुधों का वर्णन है तो जयाख्य (30.1-11), पाद्म, क्रियापाद (32.85-104), पौष्कर (17), बृहद्ब्रह्म, (1.11.34-67, 111-119), विष्णु (6.69-73), विष्वक्सेन (11-15-16,17-18) और सात्वत (13.9-25) में प्रतिष्ठा, शंखलक्षण, चक्र एवं शंख तथा दैनिक उपासना से सम्बद्ध विविध आयुधों का वर्णन उनके महत्व के साथ प्रतिपादित है।

'पञ्च' की तरह 'रात्र' भी पाञ्चरात्रागमों में भिन्नार्थक दिखाई देता है। आचार्यों ने रात्र शब्द का भिन्न-भिन्न अर्थ-निर्वचन किया है। शाण्डिल्य संहिता के अनुसार दानार्थक 'रा' धातु के साथ त्राणार्थक 'त्र' के संयोग से 'रात्र' शब्द विद्या या ज्ञान अर्थ में निष्पन्न माना गया है।[2] इसी तरह ज्ञानामृत सार संहिता के प्रथम रात्र (परिच्छेद) में रात्र का अभिप्राय ज्ञान-वचन—**रात्रं च ज्ञानवचनं ज्ञानं पञ्चविधं स्मृतम्** (1.1.44)। विश्वामित्र संहिता में पकड़ने या ग्रहण करने के अर्थ में प्रयुक्त है और यहां पञ्च विषयेन्द्रिय भूतों की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है, यह शास्त्र पञ्च विषयेन्द्रियों का शमन करता

---

1. संदर्भ-स्रोत के लिए द्रष्टव्य—डैनियल स्मिथ, **ए डिस्क्रिप्टिव बिबिलियोग्राफी ऑफ दि प्रिंटेड टेक्स्ट ऑफ दि पाञ्चरात्रागम**

2. साख्यं योगश्च वैराग्यं तपो भक्तिश्च केशवे।
पञ्चार्थ दानतः त्राणात् विद्या सा पाञ्चरात्रिकी॥
—शाण्डिल्य संहिता, 1.4.78

है।[1] पाद्‌म संहिता में भी 'रात्र' ज्ञानार्थक है।[2] और त्रिरत्न में से एक पौष्कर संहिता भी इसी अर्थ को व्यक्त करती है।[3] हयशीर्ष संहिता के अनुसार 'रात्र' का तात्पर्य है—आत्म-तत्व। इस प्रकार इन संहिताओं तथा अन्य संहिता में 'रात्र' के जो अभिप्राय स्पष्ट किये गये हैं उसमें—विद्या, ज्ञान-वचन, आत्म-तत्व, शिक्षा अथवा प्रवचन जैसे अर्थ निहित हैं।

पाञ्चरात्र आगम की सहस्राब्दियों की परम्परा में इस नाम के अर्थ का विकास भी परिलक्षित है। सामान्यतः इस समस्त पद के पूर्वार्द्ध 'पञ्च' अथवा 'पाञ्च' को संख्यावाची ही माना गया है लेकिन 'रात्र' के अनेक विध अर्थ दिखाई देते हैं। भिन्न-भिन्न संहिताओं में रात के भिन्न-भिन्न अर्थ मिलते हैं। इस प्रकार कुछ संहिताओं में 'पाञ्चरात्र' शब्द से पांच रात्रियों तक चलने वाले सत्र का संकेत मिलता है तो कहीं पञ्च ऋषियों द्वारा प्रोक्त वचन अथवा शास्त्र की अभिव्यक्ति है, कहीं पांच प्रकार के शास्त्रों का निर्देश करते हुए इस आगम को उनसे श्रेष्ठतर प्रमाणित किया गया है तो कहीं पाञ्चरात्र पांच शास्त्रों में से एक है। अन्यत्र पञ्च तत्वों अथवा पञ्चविषयेन्द्रियों के प्रसंग में इस शास्त्र की महिमा उद्‌घोषित की गयी है। इस प्रकार पाञ्चरात्रागमों में पाञ्चरात्र-निर्वचन की एक विशिष्ट परम्परा मिलती है जो प्रत्यक्षतः अथवा परोक्षतः अपने आगम के वैशिष्ट्य को व्यक्त करने वाली है। ऐसे सन्दर्भ-स्रोत पाञ्चरात्र-आगम में भरे पड़े हैं जिनका परिचय विवेच्य प्रसंग में अपेक्षित है।

रात्रिभिः पञ्चभिः सर्वं पाञ्चरात्रमिति स्मृतम्

अनेक संहिताओं में पाञ्चरात्र शब्द पांच रातों के सत्रविशेष का उद्‌घाटन है। इनमें अहिर्बुध्न्य, अनिरुद्ध, मार्कण्डेय, भारद्वाज, परम् विष्णु, पाद्‌म के अतिरिक्त पौष्कर का भी नाम लिया जा सकता है।

मार्कण्डेय[4] संहिता के अनुसार भगवान विष्णु द्वारा पांच रातों में सार्धकोटि प्रमाण (श्लोकों) के द्वारा पाञ्चरात्र शास्त्र अभिव्यक्त किया गया—

सार्धकोटिप्रमाणेन कथितं तस्य विष्णुना।
रात्रिभिः पञ्चभिः सर्वं पञ्चरात्रमिति स्मृतम्॥

---

1. 'रा' इत्ययमपि प्रोक्तो धातुरादाय वाचकः।
बिषयेन्द्रियभूतानां अदातारश्च पञ्च राः॥
—विश्वामित्र संहिता, 23.4
2. पाद्‌म सहिता, भाग-1, ज्ञान पाद, अ० 1.72-74
3. श्री पौष्कर संहिता, 38.307-308
4. मार्कण्डेय सहिता, 1.19

यही श्लोक पुरुषोत्तम संहिता (1.6-7) में भी संकलित है। ध्यातव्य है कि मार्कण्डेय संहिता में 'पञ्चरात्रमतः' पद का प्रयोग है जबकि पुरुषोत्तम संहिता में 'पञ्चरात्रागमम्' उल्लिखित है। विहगेन्द्र संहिता[1] में पांच विभिन्न रात्रियों में पृथक-पृथक शास्त्रों और उनके उपदेशकों का निर्देश है। इसके अतिरिक्त कई महत्वपूर्ण संहिताओं में पञ्चविध शास्त्रों अथवा पञ्च शास्ताओं अथवा पञ्च विषयेन्द्रियों, पञ्च तत्वों के सन्दर्भ में पाञ्चरात्र शास्त्र का निर्वचन किया है जिनका विवेचन हम अलग से करना चाहेंगे।

पञ्चविध शास्त्रों के प्रसंग में पाञ्चरात्र-निर्वचन

पाञ्चरात्रागमों में पञ्चविध शास्त्रों की बहुशः अभिव्यक्ति हुई है। लेकिन मनोरंजक बात यह है कि भिन्न-भिन्न आगमों में भिन्न-भिन्न शास्त्रों का निर्देश है। शाण्डिल्य संहिता में पाञ्चरात्र की दार्शनिक व्याख्या इस प्रकार मिलती है—

सांख्यं योगस्तथा शैवं वेदाख्ये च पञ्चकम्।
प्रोच्यन्ते रात्रयः कान्ते आत्मानन्दसमर्पणात्॥
पञ्चानामीप्सितो योऽर्थं स यत्र समवाप्यते।
परमानन्दमेतेन प्राप्नोति परमात्मनः॥ 1.4.75-76॥

इस संहिता के अनुसार सांख्य, योग, शैव, वेद एवं आरण्यक—इन पञ्च शास्त्रों (रात्रयः) में जो आनन्द प्राप्त होता है पाञ्चरात्र अकेले ही उस परमानन्द को व्यक्त करता है। वास्तव में परमानन्द इस शास्त्र के अभिज्ञान का सारतत्व है।

विष्णु संहिता में इस तंत्र (प्रमाण) के प्रमाण को आप्त प्रोक्त बताते हुए इसे वेद प्रामाण्य से युक्त बताया गया है और शैव, वैष्णव, ब्राह्म, सौर एवं कौमार भेद के द्वारा पञ्चधा विभक्त करके मनीषियों द्वारा पाञ्चरात्र की व्याख्या की गयी है और कहा गया है कि जिस प्रकार वेद-वृक्ष की अनेक शाखाओं के भेद हैं उसी प्रकार मनीषियों के द्वारा (सूरिभिः) पञ्चरात्र समाख्यात है, यथा—

आप्तप्रोक्ततया तन्त्रं प्रमाणमिति ये विदुः।
वेदप्रामाण्यमप्याहुराप्तमूलतयैव ते॥
तच्छैववैष्णवब्राह्मसौरकौमार भेदतः।
पञ्चधा भिद्यते तन्त्रं वक्तृणां च विशेषतः॥
विष्णोर्धर्मप्रवक्तृत्वात् तत्प्रोक्तं मनुवाक्यवत्।
ब्रह्माविष्णु हि धर्माणां प्रवक्तारौ बुधैः स्मृतौ॥

---

1. विहगेन्द्र संहिता, 1.34-37

यथा तु वेदवृक्षस्य शाखाभेदा ह्यनेकशः ।
तथा भेदाः समाख्याताः पञ्चरात्रस्य सूरिभिः ॥ 2.19-22 ॥

वामन संहिता में बौद्ध, पाशुपत, कापाल, शैव और गाणपत्य पञ्चविध शास्त्रों की चर्चा की गयी है और उन्हें तामस संज्ञा प्रदान की है, और इन्हें पाञ्चरात्र निर्वचन के प्रसंग में पञ्चेतर कहा गया है।[1]

इस सन्दर्भ में सर्वप्राचीन संहिताओं में से एक पौष्कर के वचन का उल्लेख करना समीचीन होगा। जहां पुराण, वेद, वेदान्त, सांख्य एवं योग इन पञ्च शास्त्रों से पाञ्चरात्र को श्रेष्ठतर बताया गया है—

पुराणं वेदवेदान्तं तथान्यत्सांख्य योगजम् ।
पञ्चप्रकारं विज्ञेयं यत्र रात्रयायतेऽब्जज ।
फलोत्कर्षवशेनैव पञ्चरात्रमिति स्मृतम् ॥
—पौष्कर संहिता, 38.307-308

इसी प्रकार पाद्म संहिता ने भी 'पञ्चेतराणि शास्त्राणि' कहकर इस प्रकार से पौष्कर का अनुसरण किया है और यह उद्घोषित किया है कि जिस प्रकार दिवा लोक में चन्द्रतारा गण शोभा नहीं पाते तथैव पाञ्चरात्र की सन्निधि में इतर शास्त्र शोभा नहीं पाते। यथा—

पञ्चेतराणि शास्त्राणि रात्रीयन्ते महान्त्यपि ।
तत्सन्निधौ समाख्याऽसौ तेन लोके प्रवर्तते ॥
चन्द्रतारागणं यद्वत् शोभते नैष वासरे ।
तथेतराणि शोभन्ते पञ्च नैवास्य सन्निधौ ॥
पञ्चत्वमथवा यद्वद्दीप्यमाने दिवाकरे ।
ऋच्छन्ति रात्रयस्तद्वत् इतराणि तदन्तिके ॥ 1.1.72-74 ॥

ध्यातव्य है कि उक्त दोनों (पौष्कर एवं पाद्म) संहिताओं में एक विशिष्ट क्रियापद **रात्रायते** अथवा **रात्रीयन्ते** का प्रयोग है। इन दोनों ही पदों में पौष्करोक्त रात्रायते प्राचीन पद है, अस्तु विचारणीय है। आप्टे[2] ने इसे रात्र्यार्थक मानते हुए अंधकार अथवा मलीनता के भाव में इस पद को व्याख्यात किया है जो कि भ्रामक है। उनका कहना है कि यह शास्त्र पाञ्चरात्र इसलिए कहलाता है क्योंकि वह कथित इतर पञ्च शास्त्रों को अपनी आभा से मलिन कर देता है। यह बात तर्कसंगत इसलिए लगती है क्योंकि अन्य अनेक संहिताओं

---

1. **वामन संहिता**, 57-58
2. द्र० आप्टे, **पाञ्चरात्र : नेम एण्ड ओरिजिन**, सी० ए० एस० स्टडीज, नं० 2

से स्पष्टत: इसी प्रकार का निर्वचन प्राप्त भी है किन्तु ऐसा नहीं लगता कि मूल दृष्टि यही थी क्योंकि जैसा कि हमने 'पञ्च' एवं 'रात्र' के अर्थ विवेचन में, पूर्व पृष्ठों में देखा, 'रात्र' मूलत: उपासना और अंतत: ज्ञान, प्रवचन, शिक्षा अत: प्रकाश को ध्वनित करने वाला पद है, यह दृष्टिकोण अनेक संहिताओं में शास्त्रसम्मत भी है। यहां तक कि कतिपय संहिताओं का विभाजन रात्रों में हुआ है। दूसरे शब्दों में, अनेक अध्याय अथवा अनुच्छेद 'रात्र' कहलाते हैं जो निश्चय ही शास्त्र संज्ञक हैं। इस पृष्ठभूमि में **'रात्रायते'**, ऐसा प्रतीत होता है कि, प्रकाशित करने के अर्थ में प्रयुक्त है। अनिरुद्ध संहिता में भी पाद्म संहिता का ही अनुसरण है, बल्कि दोनों संहिताओं के सन्दर्भ समान हैं।[1]

ज्ञान अथवा ज्ञान-वचन को अभिव्यक्त करने वाले 'रात्र' के सन्दर्भ में नारद पाञ्चरात्र और ज्ञानामृत सार संहिता[2] में पञ्चविध ज्ञान का संकेत है—

> रात्रं च ज्ञान वचनं ज्ञानं पञ्चविधं स्मृतम्।
> तेनेदं भगवच्छास्त्रं पञ्चरात्रमिति स्मृतम्॥

प्रसंगवश 'उत्सव-संग्रह' में भी पञ्चशास्त्रों का निर्देश है। यद्यपि यह निर्देश एकमत नहीं है तदनुसार एक ओर पुराण, न्याय, मीमांसा, सांख्य और योग को पञ्च प्रकारबताया है तो दूसरी ओर आगम, भारत (महाभारत) शिल्प, वैद्यक और ज्योतिष को संयोग से पञ्च शास्त्रों में परिणत करते हुए, उसे पञ्चरात्र संज्ञा दी गयी है[3]—

> पुराणं न्यायं मीमांसे [तथान्यत्सांख्य योगत:।
> पञ्चप्रकारविज्ञेय: पञ्चरात्रमिति स्मृतम्॥
> आगमं भारतं शिल्पं वैद्यं ज्योतिषमेव च।
> पञ्च शास्त्राणि संयोगात् पञ्चरात्रमिति स्मृतम्॥

---

1. सांख्य योगादिशास्त्राणि रात्रीयन्ते महान्त्यपि।
   तत्सान्निधौ समाख्यासौ तेन लोके प्रवर्तते॥
   चन्द्रतारागणं यद्वच्छोभते नैव वासरे।
   तथेतराणि शोभन्ते पञ्च नैवास्य सान्निधौ।
   पञ्चत्वमथवा यद्वद्दीप्यमाने दिवाकरे।
   ऋच्छन्ति रात्रयस्तद्वदितराणि तदन्तिके॥
   —**अनिरुद्ध संहिता**, 1.35-38
2. ज्ञानामृत सार संहिता, प्रथम रात्र 1.1.44
3. **उत्सव संग्रह**, आड्यार लाइब्रेरी मैन्युस्क्रिप्ट, वाल्यूम 3, पृ० 15

पाञ्चरात्र-निर्वचन के प्रसंग में पुराण साहित्य भी प्रकाश डालते हैं। इस सन्दर्भ में अग्नि पुराण (39·1) ध्यातव्य है जहां इस शास्त्र की चर्चा है। इसके अतिरिक्त 'शक्ति संगम तन्त्र' में पञ्चरात्र विषयक चर्चा भी ध्यान देने योग्य है जहां इसे पञ्चरात्रि व्रत संज्ञा दी गयी, साथ ही यह निर्देश दिया गया है कि पञ्चक पर्यन्त अर्थात् पञ्चकालोपासना तक शैव (शिवोपासकों) पर दृष्टि नहीं डालनी चाहिए अर्थात् इन्हें नहीं देखना चाहिए।

इस प्रकार उपर्युक्त आगम-विवरण से पाञ्चरात्र-निर्वचन के प्रसंग में पाञ्चरात्र की एक शास्त्र के रूप में प्रतिष्ठा दिखाई देती है। विभिन्न संहिताओं में जिन भिन्न-भिन्न पञ्चेतर शास्त्रों की चर्चा की गई है, वे निश्चय ही रूढ़ नहीं रहे। अर्थात् एक ही प्रकार के पञ्चशास्त्रों की चर्चा सभी संहिताओं में नहीं हुई है। पाञ्चरात्र आगम जिन शास्त्रों की चर्चा करता है और उनसे पाञ्चरात्र को श्रेष्ठ बताता है, प्रकारान्तर से उन इतर शास्त्रों के अस्तित्व का हमें बोध भी हो जाता है। ये इस प्रकार हैं—ब्राह्म, शैव, कापाल, सांख्य, योग, कौमार, सौर, गाणपत्य एवं वैष्णव। अन्यत्र वेद, भारत, वैद्यक, शिल्प और ज्योतिष जैसे शास्त्रों का नाम-निर्देश है।

ध्यातव्य है कि पाञ्चरात्र वाङ्मय दीर्घकालावधि तक रचा जाता रहा। अस्तु विभिन्न कालों की संहिताओं में तत्कालीन प्रचलित अथवा प्रतिष्ठित शास्त्रों की चर्चा स्वाभाविक प्रतीत होती है। पाञ्चरात्रमतानुयायियों का सर्वाधिक विरोध शैवों से परिलक्षित होता है क्योंकि अधिकांश संहिताओं के इतर शास्त्रों में शैव शब्द सामान्यतः प्रयुक्त है।

पाञ्चरात्र—'पञ्च तत्व' : 'गोचराः पञ्चः'

परम संहिता की दृष्टि में पञ्च महाभूतों के रूप में पञ्चरात्र की व्याख्या की गई है—

> महाभूतगणाः पञ्च रात्रयो देहिनः स्मृतः।
> तद्योगाद्विनिवृत्तेर्वा पञ्चरात्रमिति स्मृतम्॥
> भूत मात्राणि गर्वश्च बुद्धिख्यक्तमेव च।
> रात्रयः पुरुषश्चोक्तं पञ्चरात्रमिदं ततः॥ 1.39-41॥

इसके अनुसार पञ्च महाभूतों अथवा उनकी तन्मात्राओं (उनके समूह) को 'रात्रयः' संज्ञा दी गई है और संकेत किया है कि देहधारियों के लिए उनके योग से जो विनिवृत्ति होती है वह 'पञ्चरात्र' है। ध्यातव्य है कि इस प्रकार की आध्यात्मिक दृष्टि श्रीमद्भगवद्गीता (7·4) में भी उपलब्ध

है जहाँ प्रकृति के इन प्रत्ययों का स्मरण किया गया है।[1]

विष्णु संहिता में 'रात्रयः' की व्याख्या 'गोचराः' के रूप में करते हुए शब्द, रूप, रस, स्पर्श एवं गन्ध—इन पञ्च महाभूतों के रूप में पाञ्चरात्र का निर्वचन प्रस्तुत किया गया है और कहा गया है कि यहां एतद्विषयक ज्ञान की प्राप्ति से जो परम तेज (परम ज्ञान) प्राप्त किया जाता है वही पञ्चरात्र है और वह सभी प्रकार के अज्ञान का विनाशक है—

रात्रयो गोचराः पञ्च शब्दादिविषयात्मिकाः।
महाभूतात्मका वाऽत्र पञ्चरात्रमिदं ततः॥
अवाप्य तु परं तेजो यत्रैताः पञ्च रात्रयः।
नश्यन्ति पञ्चरात्रं तत्सर्वाज्ञानविनाशनम्॥ 1.49-51॥

पूर्व विवेचित शतपथ ब्राह्मण (13·6·1·7-9) वचन (तत्रोक्त पञ्चरात्र-सत्र-विमर्श) तैत्तिरीय संहिता में भी उपलब्ध है।[2] तदनुसार "पञ्चरात्र होता है, ऋतुएं भी पांच होती हैं। ऋतुओं में ही संवत्सर होता है। पङ्क्ति शब्द में पांच अक्षर होते हैं। यज्ञ भी पांच अंगों वाला होता है। यज्ञ को ही अपने वश में करता है।" यह कथन अन्ततः, पञ्चतत्त्वात्मक प्रतीत होता है भले ही उनके सकल रूप को हम ब्रह्म स्वीकार करें।

विष्णु तंत्र में भी निर्वचन की यही परम्परा दिखाई देती है। यहां वायु, वह्नि, आपः, धरा और आकाश (पञ्च तत्वों) के कारण जो अविद्या (अज्ञान) है, उसके भोग से निवृत्ति दिलाने वाले शास्त्र का नाम पाञ्चरात्र है।[3]

कपिञ्जल संहिता ने भी इसी परम्परा का निर्वाह किया है। यहाँ पृथ्वी आदि पंचभूतों को आत्मा का बन्धन कहा गया है। इसमें मुक्तिजन्य ज्ञान

---

1. भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
   अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥ —**श्रीमद्भगवद्गीता**, 7.4
2. "पञ्चरात्रोऽभवति पञ्च व ऋतवः, सम्वत्सर ऋतुष्वेव सम्वत्सरे प्रतितिष्ठत्यथो पंचाक्षरा पंक्तिः, पांक्तो यज्ञो यज्ञमेवावरूंधे॥
   —**तैत्तिरीय संहिता**, 7.1.10.3-4
3. वियद् वायुश्च वह्निश्च आपश्चैव धरा तथा॥
   रात्रयो देहिनां प्रोक्ता अविद्यासंभवाः स्मृताः।
   तद्भोगाद्विनिवृत्तं तु कारयेयुर्यतस्ततः॥
   पाञ्चरात्रमिदं प्रोक्तं एतच्छास्त्रं मया तथा॥
   —**विष्णु तंत्र**, 1.74-76

पाञ्चरात्र बताया गया है—

> पृथिव्यादीनि भूतानि गुणाः पञ्च महामते ।
> रात्रयो जन्तवः प्रोक्ताः सर्वशास्त्रेषु निश्चिताः ।
> तद्भोगाद् विनिवृत्तिस्तु पाञ्चरात्रमिति स्मृतम् ॥ 1.31-32 ॥

हयशीर्ष संहिता (आदि काण्ड) के अनुसार आकाश, वायु, तेज, जल एवं वसुधा को पञ्चरात्रों के रूप में उल्लिखित करते हुए पञ्चरात्र शास्त्र द्वारा मुक्त होने की चर्चा की गयी है।[1]

ध्यातव्य है कि जहां-जहां **रात्रयः** की चर्चा है वह रात्रि शब्द का बहुवचन है। कहीं-कहीं पर रात्रि शब्द को स्पष्टतः अज्ञान अर्थ वाला पद बताया गया है और इनसे मुक्ति दिलाने वाले शास्त्र को 'रात्र' अस्तु पञ्चविध रात्रियों से मुक्ति दिलाने के कारण 'पाञ्चरात्र' पद का निर्वचन प्रस्तुत किया गया है। इस सन्दर्भ में श्री प्रश्न संहिता के एक वचन का उल्लेख किया जा सकता है—

> रात्रिरज्ञानमित्युक्तं पञ्चेत्यज्ञाननाशकम् ।
> तच्छास्त्रं पञ्चरात्रं स्यादन्वर्थस्यानुरोधतः ॥2.40 ॥

उल्लेखनीय है कि पञ्चतत्वों अथवा पञ्चगोचरों के समान ही विभिन्न संहिताओं में जहां पञ्चविध शास्त्रों की चर्चा की गई है वहां भी पञ्चरात्र का अभिधार्थ उक्त तत्वों अथवा शास्त्रों को प्रकाशित करने के अर्थ में अभिप्रेत है। अनिरुद्ध संहिता[2] का निम्न वचन ध्यातव्य है—**प्रणवं पञ्चसंभूतं पञ्चरात्रमिति स्मृतम्।**

पञ्च ऋषिप्रोक्त शास्त्र

ईश्वर संहिता में पाञ्चरात्र के निर्वचन का जो निर्देश है वह अत्यन्त महत्वपूर्ण कहा जा सकता है क्योंकि यहां शाण्डिल्य आदि पांच ऋषियों की परम्परा का संकेत है। ध्यातव्य है कि आधुनिक विद्वानों ने सामान्यतः यह स्वीकार किया है कि पाञ्चरात्र मत के मूल उद्गाता ऋषि थे शाण्डिल्य।[3] ये

---

1. आकाशवायुतेजांसि पानीयं वसुधा तथा।
   एता वै रात्रयः ख्याताः या चैतान्यस्तमोत्कटाः ॥
   रात्रीणामप्यथैतासां व्यतिरिक्तं निरञ्जनम्।
   स यदा बुध्यते तत्त्वं तदा मुक्तोऽनुकीर्त्यते ॥
   हयशीर्ष संहिता, (आदिकाण्ड) 4.2-3
2. **अनिरुद्ध संहिता,** 1.39
3. द्र०, सुधाकर चट्टोपाध्याय : **इवोल्यूशन ऑफ हिन्दू सेक्ट्स्**, पृ० 66 विस्तार के लिए द्रष्टव्य, तत्रैव, पृ० 65-66 एवं आगे।

पांच ऋषि हैं—शाण्डिल्य, औपगायन, मौञ्जायन, कौशिक एवं भारद्वाज।[1]

ब्रह्म के पञ्चविध रूपों में अभिव्यक्त शास्त्र : पाञ्चरात्र

अहिर्बुध्न्य संहिता में पर, व्यूह, विभव आदि रूपों में व्यक्त मोक्ष के प्रमुख फल-लक्षण-शास्त्र पञ्चरात्र तंत्र का उल्लेख है।[2] यहां पाञ्चरात्र संहिता के स्थान पर इसे तन्त्र कहा गया है जो उसके विस्तार का सूचक है। अहिर्बुध्न्य संहिता के आधार पर पाञ्चरात्र मत की भूमिका प्रस्तुत करने वाले विद्वान श्रेडर अहिर्बुध्न्य संहिता द्वारा प्रतिपादित पाञ्चरात्र निर्वचन को उपयुक्त मानते हैं। उनके विचार से शतपथ ब्राह्मण में उल्लिखित नारायण के "पाञ्चरात्र सत्र" (श०प०ब्रा०, 13·6·1) की दार्शनिक व्याख्या यहां प्रस्तुत है। तदनुसार ब्रह्म अपने को पञ्चविध रूपों में रूपान्तरित करता है। वे इस प्रकार हैं—**पर,व्यूह, विभव, अन्तर्यामी** एवं **अर्चा**।[3]

पाञ्चरात्र-प्रामाण्य

किसी वस्तु के यथार्थ रूप की अनुभूति 'प्रमा' कहलाती है। और प्रमा के साधन को प्रमाण कहते हैं—**'यथार्थनुभव: प्रमा तत्साधनं च प्रमाणम्'**।

---

1. पञ्चायुधांशास्ते पञ्च शाण्डिल्यश्चौपगायन: ।
मौञ्जायन: कौशिकश्च भारद्वाजश्च योगिन: ।
पञ्चापि पृथगैकैकं दिवारात्रं जगत्प्रभु: ।
अध्यापयामास यतस्तदेतन्मुनिपुंगवा: ॥
शास्त्रं सर्वजनैर्लोके पञ्चरात्रमितीर्यते ।
ईश्वर संहिता, 21.519, 532, 533
2. तत्रव्यूहविभवस्वाभावादिनिरूपणम् ।
पञ्चरात्राह्वयं तन्त्रं मोक्षैक फललक्षणम् ॥
अहि० संहिता, 11.63-64
3. "It appears, then, that the sect took its name from its central dogma which was the Pancaratra-sattra of Narayana interpreted philosophically as the five fold self-manifestation of God by means of his Para, Vyuha, Vibhava, antaryamin and arca forms."
—**Schrader, Introduction to the Pancaratra and Ahirbudhnya Samhita, P . 29**

आचार्य उदयन का प्रमाण सम्बन्धी यह विवेचन ध्यातव्य है। न्याय कुसुमाञ्जलिकार ने प्रमाण के अभिप्राय के उद्घाटन के लिए न्याय सूत्रकार गौतम[1] के मत का स्मरण किया है साथ ही स्वयं भी अपना दृष्टिकोण व्यक्त किया है।[2]

प्रमाण न्याय दर्शन के अनुसार चतुर्विध बताया गया है—प्रत्यक्ष, उपमान, अनुमान एवं शब्द।[3]

शंकराचार्य पाञ्चरात्र आगम को कुछ अंशों में प्रमाण एवं कुछ अंशों को अप्रमाण मानते हैं। यामुनाचार्य ने शंकराचार्य समेत अपने पूर्ववर्ती सभी महत्वपूर्ण आचार्यों के द्वारा किये गये पाञ्चरात्र प्रमाण्य के खण्डन का मण्डन अपने प्रसिद्ध ग्रंथ आगम प्रामाण्य में किया है। रामानुजाचार्य इसको पूरी तरह से प्रमाण मानते हैं जबकि मध्व, निम्बार्क, बलदेव विद्याभूषण के मत से इस अधिकरण में शाक्तमत समालोचित है।[4]

पाञ्चरात्रों और पाशुपतों के सन्दर्भ में कुमारिल भट्ट एवं शंकराचार्य की विरोधी उक्तियों के रहते हुए भी सभी धर्मशास्त्रीय निबन्धकारों ने एक निश्चित अंश में उनको प्रमाण माना है। पाञ्चरात्र आगम के प्रामाण्य पर विश्लेषण करने से पूर्व इस आगम की महत्ता किन्तु उसकी उपेक्षा को लक्षित करते हुए आचार्य ब्रजवल्लभ द्विवेदी का विचार प्रस्तुत करना समीचीन होगी—

"यह आश्चर्य की बात है कि जिन आगम ग्रंथों के सहारे आधुनिक हिन्दू धर्म के प्रतिनिधि विशाल पुराण एवं स्मृति—साहित्य का, धर्मशास्त्रीय निबन्ध ग्रंथों का, स्थापत्य कला, मूर्तिकला, चित्रकला और संगीत शास्त्र का विकास और

---

1. मितिः सम्यकपरिच्छित्तिस्तद्वता च प्रमातृता।
   तदयोगव्यवछेदः प्रमाण्यं गौतमे मते॥ **न्याय कुसुमांजलि**, 4.5
2. साक्षात्कारिणी नित्ययोगिनी परद्वारानपेक्षस्तौ।
   भूतार्थानुभवे निविष्टनिखिलप्रस्ताविवस्तु क्रमः॥
   लेशादृष्टिनिमित्तदृष्टि विगमप्रभ्रष्ट शंकातुषः।
   शंकोन्मेषकलंकिभिः किमपरैस्तन्मे प्रमाण शिवः॥
   न्याय कुसुमांजलि, 4.6
3. तच्चतुर्विध प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्द भेदात्।
   —द्र० **सर्वदर्शन संग्रह** में अक्षपाद न्याय-दर्शन
4. द्र० ब्रजवल्लभ द्विवेदी की पुस्तक **आगम और तंत्रशास्त्र** में ब्रह्मसूत्र का **पाञ्चरात्राधिकरण** शीर्षक निबन्ध।

पोषण हुआ, वह स्वयं उपेक्षित हो गया। वैष्णव और शैव आगमों का अध्ययन-अध्यापन स्वरूप मात्र में केवल दक्षिण भारत में ही बचा है।[1]

भारतीय दर्शन की विभिन्न धाराओं के अनुशीलन से ज्ञातव्य है कि प्रामाण्यवाद दर्शनाचार्यों के विमर्श का विषय रहा है। पाञ्चरात्र मत में प्रामाण्य का स्वरूप क्या था, यह इसके आगम से स्पष्ट है यद्यपि शंकराचार्य द्वारा एतत्सम्बन्धी खण्डन से खण्डन-मण्डन की एक परम्परा बनती गयी। पाञ्चरात्र संहिताओं में प्रामाण्यवाद के स्रोत रूप में विपुल साहित्य उपलब्ध है। अस्तु सर्व-प्रथम पाञ्चरात्र संहिताओं में एतत्सम्बन्धी प्राप्य स्रोत-सन्दर्भ, तदुपरान्त आचार्यों द्वारा खण्डन-मण्डन सम्बन्धी विवेचन प्रस्तुत करना समीचीन होगा।

पाञ्चरात्र-प्रामाण्य : पाञ्चरात्रागमों के स्रोत-सन्दर्भ

पाञ्चरात्र संहिताओं के सन्दर्भों से स्पष्ट होता है कि प्रारम्भ से ही पाञ्च-रात्र संहिताओं में एकायन श्रुति अथवा एकायन वेद अथवा इसकी वेद मूलकता के संकेत मिलते हैं। कालान्तर में भी इस बात का उल्लेख उत्तर-कालीन संहिताओं में हम प्राप्त करते हैं। स्पष्ट है कि पाञ्चरात्र मत वेदों के प्रामाण्य को स्वीकार करने वाला मत है भले ही शनैः-शनैः यथा समय इस मत ने अधिकांश अवैदिक तत्वों को न केवल ग्रहण किया अपितु उसका विकास करते हुए उसे अपनी स्वीकृति प्रदान की।

सात्वत संहिता में पाञ्चरात्र शास्त्र को विवेक प्रदान करने वाले विशिष्ट शास्त्र 'ब्रह्मोपनिषद् दिव्य मन्त्रक्रमोपेत' और एक मात्र मोक्षफलप्रदायक माना गया है—

विवेकदं परं शास्त्रं ब्रह्मोपनिषदं महत्।
दिव्य मन्त्रक्रमोपेतं मोक्षैकफललक्षणम् ॥2.5 ॥

यही बात ईश्वर संहिता (1.48-51) में भी उपवर्णित है जहां सात्वत, पौष्कर एवं जयाख्य आदि को दिव्य सत्-शास्त्र कहा गया और इसे मूलवेदा-नुसार अनुष्टुभ छन्द में प्रणीत बताया गया। अलशिंग भट्ट ने सात्वत संहिता के अपने भाष्य में सात्वत-तन्त्र को प्रथम दिव्य शास्त्र और इसे एकायन श्रुति के सारभूत तन्त्र रूप में व्यक्त किया है।[2]

जैसा कि पाञ्चरात्र शास्त्र के नाम विमर्श में हमने अन्यत्र इंगित किया है—पाञ्चरात्र आगमों ने एकायन वेद की सत्ता को स्वीकारा है।

---

1. **आगम और तन्त्रशास्त्र**, पृ० 13-14
2. **सात्वत संहिता**, 2.3-6 पर अलशिंग भट्ट का भाष्य (वाराणसी संस्करण, पृ० 11-12)

सात्वत संहिता (25.96) के ही एक वचन से सम्बद्ध है[1]-'**एकायनान् यजुर्मयानाश्रावितमनन्तरम्** । एकायन वेद को **रहस्य आम्नाय** भी कहते हैं । ईश्वर संहिता (21.531) में कहा गया है—**आद्यमेकायनं वेदं रहस्याम्नाय संज्ञितम्** । एकायन वेद नाम पर हमने अन्यत्र विचार किया है ।

यहां स्मरणीय है कि छान्दोग्य उपनिषद् में एकायन नामक जो देव-विद्या का संकेत है वह पाञ्चरात्राख्य एकायन का मूल स्रोत प्रतीत होता है । सम्भवतः इसी की स्मृति विभिन्न पाञ्चरात्र संहिताओं यथा ईश्वर संहिता,[2] सात्वत[3], श्री प्रश्न,[4] शाण्डिल्य संहिता[5] एवं जयाख्य संहिता[6] में प्रतिविम्बित

1. इस संदर्भ में **जयाख्य**, 20.265 भी द्रष्टव्य है ।
2. आद्यमेकायनं वेदं रहस्याम्नायसंज्ञितम् ।
   दिव्यमंत्रक्रियोपेतं मोक्षैकफललक्षणम् ॥21.531॥
3. एकायनान् यजुर्मयानाश्रावितमनन्तरम् ।
   अथास्त्रमन्त्रेण पुरा मांगल्यकलशाम्भसा ॥25.96॥
4. वेदमेकायनं नाम वेदानां शिरसि स्थितम् ।
   तदर्थकं पाञ्चरात्रं मोक्षदं तत्क्रियावताम् ॥
   नारायणमुखोद्गीतं श्रुत्वा श्रीमुनिपुंगवाः ।
   उपादिशत् पाञ्चरात्रं श्रीप्रश्नमितिसंज्ञितम् ॥2.38, 1.44॥
5. ऋचां च यजुषां चापि साम्नामांगिरसामपि ।
   साङ्ख्यानामपि योगानां सर्वोपनिषदां गिराम् ॥
   सर्वेषामपि शास्त्राणां सारभूतं हरेः प्रियम् ।
   रहस्यं पञ्चरात्राख्यं काले कालेऽभिलेभिरे ॥
   पञ्चरात्रं बहुविधं बहुधा भाषितं परैः ।
   प्रमाणानां विरोधेन तद्यथार्थं न चेदृशम् ॥4.56-57, 79॥
6. काण्वीं शाखामधीयानावौपगायनकौशिकौ ।
   प्रपत्तिशास्त्रनिष्णातौ स्वनिष्ठानिष्ठतावुभौ ॥
   जयाख्यतन्त्रमार्गेण दीक्षयित्वाऽब्जमण्डले ।
   आचार्यके चाभिषिच्य ताभ्यां पूजां प्रकल्पय ॥
   तद्गोत्रसंभवा एव कल्पान्तं पूज्यन्तु माम् ।
   जयाख्येनाथ पाद्मेन तन्त्रेण सहितेन वै ॥
   मूलव्याख्यानरूपाभ्यां समर्चयन्तु मां सदा ।

…क्रमशः

ज्ञातव्य है कि अन्य संहिताओं में भी ऐसे स्रोत-संदर्भ उपलब्ध हैं।[1]

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि एकायन नामक किसी देवविद्या का अस्तित्व था और पाञ्चरात्र संहिताओं में सर्व प्राचीन सात्वत संहिता[2] में इस मूलवेद का स्मरण था। पाञ्चरात्र धर्म में प्रतिष्ठा, स्नपन और पुण्याह वाचन जैसे विशुद्ध कर्मकाण्डों में एकायन वेद-मन्त्रों के उच्चारण का विधान है। कुछ ब्राह्मण परिवार वेदों से जुड़े हुए थे उसी प्रकार एकायन वेद से जुड़े हुए परिवारों का

न तन्त्रसंकरो दोषस्तन्त्रयोरनयोरिह ॥
आचार्यके तथाऽऽर्त्विज्ये पूजने वा ममाब्जज ।
तावेतौ गोत्रिणौ मुख्यौ मम पीत्तिकरौ मतौ ॥
परिचर्यासु तत्तासु योग्यान्निर्णीय चेतसा ।
दीक्षयित्वा च ते सत्र नियुज्यन्तां यथाविधि ॥
अत्राधिकार उभयोस्तयोरेव कुलीनयो: ।
शाण्डिल्यश्च भरद्वाजौ मुनिर्मौञ्जायनस्तथा ॥
इमौ च पञ्चगोत्रस्तथा मुख्या: काण्वीमुपाश्रिता: ।
श्रीपाञ्चरात्रतन्त्रीये सर्वेऽस्मिन् मम कर्मणि ॥
ऋङ्मन्त्रान्पाठयेत्पूर्वं वीक्ष्यमाणमुदग्दिशम् ।
यजुर्वृन्दं वैष्णवं यत्पाठयेद्देशिकस्तु तत् ॥
गोयेत्सामानि शुद्धानि सामज्ञ: पश्चिमस्थित: ।
भक्तश्चोदक्स्थितो ब्रूयाद्दक्षिणस्यो (णास्यो ?) ह्यथर्वणम् ॥
ब्राह्मणा: क्षत्रिया वैश्या: शूद्राश्च मुनिसत्तम् ।
एकायनीयशाखोत्थान्मन्त्रान्परमपावनान् ॥

जयाख्य संहिता, पटल 1.109-116, 20.262, 263, 269

1. श्रुत्वैवं प्रथमं शास्त्रं रहस्याम्नायसंज्ञितम् ।
दिव्यमन्त्रक्रियोपेतं मोक्षैकफललक्षणम् ॥

पारमेश्वर, ज्ञान काण्ड 1.16 ब, 1.7 अ

कपिंजल संहिता अध्याय 8 भी द्रष्टव्य है ।
नानाव्यूहसमेतं च मूर्तिद्वादशकं हि यत् ।
तथा मूर्त्यन्तरयुतं प्रादुर्भावगणं तु वै ॥

पौष्कर संहिता, 38.295 एवं आगे

भारद्वाज संहिता, 3.40.45 भी द्रष्टव्य है ।

2. द्र० **सात्वत संहिता**, परिच्छेद 25.234, 170, 53. 10 तथा 24.287-288

भी संकेत मिलता है। पौष्कर संहिता में एकायन ब्राह्मणों के 'मूर्ति संज्ञोपलसित' नाम का उल्लेख है। पुनः पौष्कर व सात्वत कतिपय चुने हुए कृत्यों की प्रतिष्ठा व पुण्याह वाचन में एकायन मन्त्रों के प्रयोग का निर्देश करते हैं— **'हये च विद्या ऋक्सूक्ता ब्रूयादेकायनं ततः'**।[1] उल्लेखनीय है कि ऋग्वेद के उन्हीं मन्त्रों का इस सन्दर्भ में महत्व दिखाई देता है जो विष्णु की स्तुति में कहे गये हैं। इस प्रकार इसका वैष्णवाधार स्पष्ट होता है।

पाञ्चरात्र की उत्तरकालीन संहितायें, जिसमें ईश्वर, पारमेश्वर, पाद्म प्रमुख हैं, मन्दिर प्रधान कर्मकाण्डों के महत्व का प्रतिपादन करती हैं। वहाँ प्रतिष्ठा तथा अन्य धर्म कृत्यों में प्रारम्भिक संहिताओं के समान ही एकायन तथा अन्य वैदिक मन्त्रों के प्रयोग का विधान था।[2]

पौष्कर के समान ही ईश्वर, पारमेश्वर, पाद्म संहिताओं में एकायन वेद से सम्बद्ध ब्राह्मणों के एक वर्ग का उल्लेख मिलता है। इन संहिताओं के अनुसार पाञ्चरात्र धर्म के मन्दिरों में इन्हें विशेष आदर प्राप्त था। उदाहरण के लिए ईश्वर संहिता का सन्दर्भ उल्लेखनीय है जिसके अनुसार वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध नामक चार एकायन ब्राह्मणों को एकत्रित करता है और उनको उचित सम्मान प्रदान करता है।[3] जयाख्य संहिता में वैदिक शाखाओं से सम्बद्ध ब्राह्मणों के लिए उनके स्थान का निर्देश करता है।[4]

इसके अतिरिक्त चार विभिन्न दिशाओं में वैष्णवों एवं उनके चारों वर्णों

---

1. **पौष्कर संहिता**, 42.188
2. "आ त्वा हार्षेति" स वै "प्रतिष्ठासी" ति पाठयेत्।
   "विश्वस्य मित्रामि" त्यादिमंत्रमेकायना द्विजाः॥
   एकायनैरभिज्ञाभिः स्वकीयाभिस्तु तत्समम्।
   एकायनांस्तदन्ते तु क्रमात्तान्पाठयेत्ततः॥
   ईश्वर संहिता, 18.425, 474, 475
3. चतुरो वासुदेवादिनाम्ना एकायनान् द्विजान्।
   ···एवमप्ययोगेन वाय्वादीशावसानकम्॥
   ऋग्वेदाद्यांस्तु चतुरः संस्कृत्यादौ तथा न्यसेत्॥
   वही, 18.240-42
4. ब्राह्मणाः क्षत्रियाः वैश्याः शूद्राश्च मुनिसत्तम।
   एकायनीयशाखोत्थमन्त्रानपरमपावनम्॥
   जयाख्य संहिता, पटल 10.269

के अनुयायियों के लिए भी यहाँ स्थान प्रदान किया गया है[1] जिससे कि वे एकायन शाखा के मन्त्रों का पाठ कर सकें। जयाख्य एवं ईश्वर संहिताओं में निर्दिष्ट उपर्युक्त स्थान-क्रम निम्नांकित रेखांकन द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है[2]—

(अ)

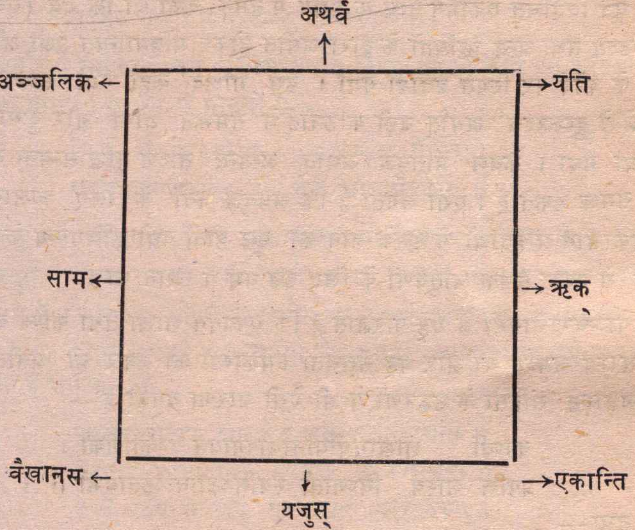

(ब)

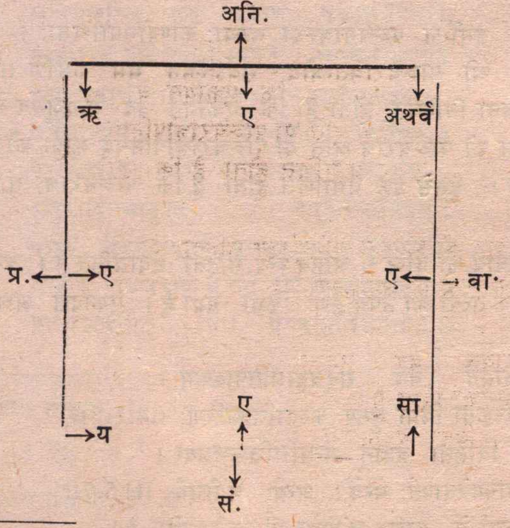

1. जयाख्य संहिता, 20.269 के आधार पर। द्र० आप्टे, एकायन वेद, पृ० 148
2. ईश्वर संहिता, 2.39-42 के आधार पर। द्र० आप्टे तत्रैव पृ० 150

पाद्म संहिता में तो एकायन संस्कार से सम्पन्न विप्रों को सद्ब्रह्म प्रतिपादक और मुख्य कल्पाधिकारी तक कहा गया है।[1]

पूर्व विवेचित एकायन नाम के प्रसंग में हमने देखा था कि यह (एकायन) शाण्डिल्य तथा अन्य ऋषियों के द्वारा अधीत होकर महिमान्वित हुआ और यही वेदों के शीर्ष पर स्थित बताया गया। इसे मोक्षद कहा गया साथ ही इसे दुर्विज्ञेयो दुष्करश्च' अर्थात् बड़ी कठिनाई से समझने योग्य और दुःसाध्य भी बताया गया। केवल प्रतिबुद्ध अर्थात् अत्यन्त तीक्ष्ण बुद्धि सम्पन्न लोग ही इसे समझ सकते हैं। ऐसा लगता है कि अप्रबुद्ध जनों के लिए कालान्तर में उत्तरकालीन संहिताओं में इसके ज्ञान की छूट होती गयी। जयाख्य के पूर्वोक्त वचन से स्पष्ट है कि चातुर्वर्णों के लिए इस धर्म में स्थान था।

पाञ्चरात्रागमों से यह परिज्ञात है कि एकायन शाखा तथा काण्व शाखा में कुछ साम्य अवश्य था और यह साम्यता कर्मकाण्डों को लेकर ही प्रतीत होती है। जयाख्य संहिता के उद्धरणों से भी ऐसी धारणा बनती है—

काण्वीं शाखामधीयानावौपगायन कौशिकौ।
प्रपत्ति शास्त्र निष्णातौ स्वनिष्ठानिष्ठितावुभौ॥ 1.109॥

तथा—

इमौ च पञ्चगोत्रस्था मुख्याः काण्वीमुपाश्रिताः।
श्री पाञ्चरात्रतन्त्रीये सर्वेऽस्मिन् मम कर्मणि॥ 1.116॥

इससे इतना निश्चित होता है कि एकायन वेद में यजुर्वेद के मन्त्र थे। एकायन शाखा को पाञ्चरात्र श्रुति या पाञ्चरात्रोपनिषद् कहने की परम्परा भी प्राप्त होती है।[2] इससे यह प्रमाणित होता है कि पाञ्चरात्र संहिता श्रुतिमूलक है।

प्रामाण्यवाद की दृष्टि से अहिर्बुध्न्य संहिता वेदविहित है। इस संहिता में यत्र-तत्र वैदिक तत्वों का उपबृंहण किया गया है। एकादश अध्याय कपिल

---

1. आद्यमेकायनं वेदं सद्ब्रह्मप्रतिपादकम्।
तेनैव संस्कृता विप्रा मुख्य कल्पाधिकारिणः॥4.1.5॥
प्रतिष्ठा विहिता ब्रह्मन् मन्त्रसिद्धिफलप्रदा।
एकायनाख्यबेदाक्तैः मन्त्रैः अन्यैः त्रयीमयैः॥15.7॥
इस सन्दर्भ में **राशर संहिता** भी उल्लेखनीय है।

2. **स्पन्द प्रदीपिका** (उत्पलकृत) पृ० 2 पंक्ति 16 तथा 39.27

हिरण्यगर्भ आदि के सन्दर्भ से इस शास्त्र के आविर्भूत होने की संकल्पना की गयी है ।[1] इस संहिता के वेद-उद्भूत होने का उल्लेख है[2]—

उद्भूत तत्र धीरूपमृग्यजुः सामसंकुलम् ।

अहिर्बुध्न्य संहिता[3] स्वयं प्रमाण रूप में विष्णु संकल्प रूपी इस शास्त्र को शब्दात्मक प्रामाण्य के रूप में मानती है —

विष्णु संकल्परूपोऽयं प्रमाणव्यूह ईरितः ।
शस्त्रशास्त्रविभेदेन किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ।।

अहिर्बुध्न्य संहिता में वैदिक प्रामाण्यवाद को अनेकत्र स्वीकार किया गया है ।[4] वस्तुतः पाञ्चरात्र संहितायें अपने स्वतः प्रमाण से वेद मूलकता को स्वीकारती हैं । अनिरुद्ध संहिता के द्वितीय अध्याय में इसके वेद प्रमाणवाद पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है जहां यह उद्घोष किया गया है कि पाञ्चरात्र शास्त्र से बढ़कर कोई शास्त्र नहीं ।[5]

पञ्चरात्रात्परं शास्त्रं न भूतं न भविष्यति ।
वेदानां सामवेदस्तु नराणां च नराधिपः ।।
तथा सर्वेषु शास्त्रेषु पञ्चरात्रं वरिष्ठकम् ।
श्रुतिमूलमिदं तत्रं प्रमाणं कल्पसूत्रवत् ।।
पञ्चरात्रं विशेषेण विष्णु भाषितं यथा ।
अतः प्रमाणं लोकेऽस्मिन् धर्म शास्त्रेषु सर्वशः ।।
धर्मशास्त्रेषु सर्वेषु आगमेषु विशेषतः ।
पुराणेष्वपि सर्वेषु पञ्चरात्रं प्रमाणकं ।।
चतुष्पादसमायुक्तं चतुर्वर्गफलप्रदम् ।
पंचमं वेदमाख्यातं पञ्चरात्रं तु पावनम् ।।
ब्राह्मणं पाञ्चरात्रं च वेदं विष्णुमुखोद्गतम् ।
पञ्चरात्रमिदं विप्र वेदवत्प्रतिभावयेत् ।।

---

1. **अहिर्बुध्न्य संहिता**, 11.53-56
2. **तत्रैव**, 11.58
3. **अहिर्बुध्न्य संहिता**, 11.65
4. **अहिर्बुध्न्य संहिता**, 12-14-15
5. **अनिरुद्ध संहिता**, 2.3, 5, 7, 8, 9, 12, 16

श्री पाद्म संहिता के ज्ञानपाद के शास्त्रावतार नामक प्रथम अध्याय में प्रामाण्य-विवेचन किया गया है। इस संहिता के वचनों से यह प्रमाणित होता है कि इसका प्रामाण्य श्रुतिमूलक है। पाद्म संहिता में अनिरुद्ध सहिता के वचन (2.7) को दुहराया गया है—'श्रुतिमूलमिदं तंत्रं प्रमाणं कल्पसूत्रवत्'।[1] पाद्म संहिता के ज्ञानपाद के ऋगादिभेदवत् विभाग में स्पष्टतः उल्लेख है कि यह संहिता चारों वेदों के सार तत्वों से समर्थित है। इसमें प्रतिपादित सिद्धांत वेद विहित है'—

ऋगादि संज्ञया वेदश्चतुर्धा भिद्यते यथा ॥ 1.76 ॥
तद्वत्सिद्धान्तभेदेन पञ्चरात्रं चतुर्विधम् ।
ऋगादयो यथा चैकं भिद्यते बहुशाखया ॥ 1.77 ॥
एक मूर्तिप्रधानं तु मंत्रसिद्धान्त मुच्यते ।
चतुर्मूर्तिप्रधानं तु यत्तदागमसंज्ञितम् ॥ 1.80 ॥
सिद्धान्तमुच्यते सद्भिर्द्वितीयं लोकविश्रुतम् ।
नवमूर्तिप्रधानं च तन्त्र सिद्धान्त मुच्यते ॥ 1.81 ॥
चतुर्वक्त्रे त्रिवक्त्रे वा देवे मत्राचंना विधिः ।
तंत्रन्त्रान्तरमिष्टं स्यात्तन्त्रमेतच्चतुर्विधम् ॥ 1.82 ॥
तन्मात्रान्तरमिष्टं स्यात् सर्वे सर्वफलप्रदाः ।
तेष्वयं मन्त्रसिद्धान्तः पाद्मसंज्ञिऽभिधीयते ॥ 1.86 ॥
संबन्धोऽपीष्यते सद्भिः साध्यसाधन लक्षणः ।
श्रुतिमूलमिदं तत्रं प्रमाणं कल्पसूत्रवत् ॥ 1.91 ॥
अर्थिभ्यो वाञ्छितं सर्वं प्रयच्छति गतिं बिना ।
पञ्चरात्रस्य शास्त्रं तु चतुर्वर्गफलप्रदं ॥ 1.93 ॥
सत्यं सत्यं पुनः सत्यं उद्धृत्य भुजमुच्यते ।
वेदशास्त्रात्परं नास्ति न दैवं केशवात् परम् ॥ 1.96 ॥

ईश्वर संहिता का स्वतः प्रामाण्यवाद वेदमूलकता को स्वीकारता है और उसका कथन है कि पाञ्चरात्र का उद्भव वेदों से हुआ है।[2] ईश्वर संहिता भी अपने लिए वेदमूलक होने की घोषणा करती है। अनेकत्र ईश्वर संहिता का यही कथन है कि सात्वत, पौष्कर, जयाख्य इत्यादि संहितायें मूलवेद के अनुसार तथा अनुष्टुभ् छन्दानुसार वेदों का ही उपबृंहण करती हैं—

1. ठीक-ठीक यही श्लोक मार्कण्डेय संहिता, पृ० 6 में अंकित है तथा विष्णु तंत्र में कहा गया है—

"श्रुतिमूलानि तान्येव पाञ्चरात्राणि पङ्कज। (1.36)

2. महतो वेदवृक्षस्य मूलभूतो महानयम् ।
स्कन्धभूता ऋगाद्यास्ते शाखाभूताश्च योगिनः ॥ 1.24 ॥

मूलवेदानुसारेण छन्दसाऽऽनुष्टुभेन च ।
सात्वतं पौष्करं चैव ज्याख्येत्येवमादिकम् ।। 1.50 ।।

ईश्वर संहिता में वैदिक प्रामाण्यवाद को स्वीकारते हुए कहा गया है[1]—

श्रृणुध्वं मुनयःसर्वे वेदमेकायनाभिधम् ।
तस्मादेकायनं नाम प्रवदन्ति मनीषिणः ।
मूलभूतम्तु महतो वेदवृक्षस्य यो महान् ।
सद्ब्रह्मवासुदेवाख्यपरतत्वैक संश्रयम् ।।
इत्युक्त्वा ध्याप्य योगीन्द्रान सज्जगादास्य वैभवम् ।
एष प्रकृतिधर्माख्यो वासुदेवैकगोचरः ।।

पाञ्चरात्रागमों की मूलभूत श्रुति का नाम एकायन श्रुति या एकायन वेद है। इसे शुक्ल यजुर्वेद की शाखाओं के अन्तर्गत समाहित किया जाता है। ईश्वर संहिता में इस वेद की महिमा का गायन किया गया है—

द्वापरस्य युगस्यान्ते आदौ कलियुगस्य च ।
साक्षात्संकर्षणाल्लब्ध्वा वेदमेकायनाभिधम् ।।
सुमन्तं जैमिनीं चैव भृगुं चैवौपगायनम् ।
मौञ्जायन च तं वेदं सम्यगध्यापयत्पुरा ।।
एष एकायनो वेदः प्रख्यातः सर्वतो भुवि ।। 1.40-43 ।।

विद्वानों का यह भी एकमत है कि काण्व शाखा ही एकायन शाखा है।[2] ईश्वर संहिता भी इस मत को स्वीकार करती है—

काण्वीं शाखामधीयानान् वेदवेदान्त पारगान् ।
संस्कृत्य दीक्षया सम्यक् सात्वतायुक्तमार्गतः ।। 25.94 ।।

इसी प्रकार एकायन वेद को रहस्य आम्नाय भी ईश्वर संहिता मानती है—

आद्यमेकायनं वेदं रहस्याम्नाय संज्ञितम् ।। 21.531 ।।

"रहस्याम्नाय" पद में "रहस्य" का क्या रहस्य है, यह विचारणीय है। पाञ्चरात्र—वाङ्गमय में रहस्य शब्द प्रयुक्त हुआ हो अथवा रहस्याम्नाय—दोनों एक ही अर्थ के वाचक है।[3] महाभारत (शांतिपर्व, मोक्षधर्म 261.21) में रहस्य शब्द आया है। पंडित भगवद्दत्त ने शास्त्रों में प्रयुक्त "रहस्य" को आरण्यक अथवा उपनिषद् बोधक माना है।[4] उन्होंने बौधायन धर्म सूत्र के मस्करीकाष्य (2.8.3) के "रहस्यं आख्ये पठितव्यो ग्रन्थो यः तं" और काठक

1. 1.18, 19, 20, 22
2. विस्तार के द्र०, लक्ष्मी तंत्र, उपदोद्घात, पृ० 6
3. द्र० कालिया : लक्ष्मीतंत्र—धर्म और दर्शन, पृ० 26
4. भगवद्दत्त : वैदिक वाङ्मय का इतिहास, द्वितीय भाग, पृ० 100

गृह्यसूत्र के देवपाल भाष्य (10.1) को इसका आधार प्रमाण माना है।

जहां तक "एकायन" के रहस्याम्नाय होने का प्रश्न है, इसे (एकायन को) पाञ्चरात्रश्रुति अथवा पाञ्चरात्रोपनिषद्, इसी तरह सात्वत आदि संहिता को महोपनिषद् संज्ञा प्राप्त है। अस्तु इस प्रसंग में डॉ० कालिया की यह बात समीचीन प्रतीत होती है कि "पाञ्चरात्र परंपरा" के अनुसार जब "सर्वे वेदास्सरहस्याः" कहा जाता है तो इसका अभिप्रायः यही है कि वेद शब्द से एकायन शाखा सहित वेदों का ही ग्रहण होता है न कि एकायन शाखा से रहित वेदों का। विश्वामित्र संहिता में भगवान का वचन है कि पाञ्चरात्र रूप से ख्यात अमृत वचन वेदार्थसार है और यही मेरे लिए प्रीतिकर, सर्वश्व है—

वेदार्थसार सर्वस्वं मम प्रीतिकरं परम्।
पञ्चरात्राख्यममृतं कथयामि शृणुस्व में॥ 1.77

इसी प्रकार इसी संहिता के द्वितीय अध्याय में विष्णु—अराधना, वासुदेव विष्णु द्वारा पाञ्चरात्र शास्त्र का कथन, नारायण द्वारा सर्वशास्त्रों में पाञ्चरात्र की श्रेष्ठता प्रतिपादन तथा पाञ्चरात्र विधि द्वारा पुरुषोत्तम की अर्चना तथा अर्चनाफल रूप में सांसारिक दुःखो से विमुक्ति का प्रतिपादन उसकी श्रुति-सम्मत-सिद्धि की ओर संकेत करता है—

शास्त्रं भगवतो विष्णोः मुखाम्बुज विनिर्गतम्।
पञ्चरात्राख्यममृतं पुण्यं पापविनाशनम्॥
यथा सर्वेषु देवेषु परो नारायणः स्मृतः।
तथा सर्वेषु शास्त्रेषु पञ्चरात्रं परं स्मृतम्।
पञ्चरात्रोक्तविधिना योऽर्चयेत् पुरुषोत्तमम्।
तस्य सांसारिकं दुःख न भवेन्नात्र संशयः॥ 2.11-13॥

सनत्कुमार संहिता के इन्द्ररात्र के तृतीय अध्याय में यह प्रतिपादित किया गया है कि वासुदेव ने कृष्ण के रूप में उपस्थित होकर सात्वत शास्त्र को स्वयं उपदिष्ट किया है—

उपदिष्टं पञ्चरात्रं तेन लोकहितैषिणा।
आहुकांस्तु समुद्दिश्य तेन सात्वतमुच्यते॥
ये तस्य शिष्यास्तद्भक्तास्ते सर्वे सात्वताः स्मृताः।
केचित् तान् सात्वतानाहुः केचिद्भागवतान् विदुः॥
केचिच्च वैष्णवानाहुः केचित् तान् पाञ्चरात्रिकान्।
इति नाम्ना तु भेदेन दीक्षिता वैष्णवाः स्मृताः॥

1. विस्तार के लिए द्रष्टव्य, कालिया, तत्रैव, पृ० 29-30

पूजयन्ति महाविष्णुं सदाविष्णुपरायणाः ।
एवं पुराणं सर्वं वः कथितं सात्वतं मया ।। 80-83 ।।

श्री प्रश्न संहिता के शास्त्रावतरण नामक प्रथम अध्याय में नारायण के मुख से उद्गीत पाञ्चरात्र के उपदेश को सुनकर श्रेष्ठ मुनियों ने इसकी वेद मूलकता को स्वीकारा है—

नारायण मुखोद्गीतं श्रुत्वा श्रीमुंनिपुंगवाः ।
उपदिशत् पाञ्चरात्रं श्री प्रश्नमिति संज्ञितम् ।। 1.44 ।।

पाञ्चरात्र आगमों की श्रुति (एकायन मूलकता) को श्री प्रश्न संहिता ने मोक्षदाता के रूप में माना है—

वेदमेकायनं नाम वेदानां शिरसि स्थितम् ।
तदर्थकं पाञ्चरात्रं मोक्षद तत्क्रियावताम् ।। 2.38 ।।

इसी तरह इसी संहिता में लोक अनुग्रह की कामना से पाञ्चरात्र शास्त्र की रचना वेद समर्थित कही गयी है—

कथं ज्ञातुं प्रवर्तन्ते तच्छास्त्रं वा तदर्थकम् ।
वेदं वापि महोदारसंसार पतिता इमे ।।
मयि प्रीतिस्तव यदि वेदं तच्छास्त्रमादितः ।
उपदिश हरे सर्वं लोकानुग्रहकाम्यया ।। 2.36-37 ।।

पारमेश्वर सहिता की श्रुति मूलकता स्वतः स्वीकृत प्रामाण्यवाद का उल्लेख करती है—

श्रेयस्तव विधास्यामि बलं तेजश्च सुव्रत ।
वेदं च मत्तो गृह्णीष्व सात्वतं नाम नामतः ।। 10.134 ।।

रहस्याम्नाय को एकायन वेद की संज्ञा से भी अभिहित किया गया है जो पाञ्चरात्र संहिताओं का एक विशिष्ट लक्षण है। पारमेश्वर संहिता मोक्ष फल लक्षण के कारण अपने को श्रुति सम्मत शास्त्र मानता है—

श्रुत्वैव प्रथमं शास्त्रं रहस्याम्नायसंज्ञितम् ।
दिव्यमन्त्र क्रमोपेतं मोक्षैकफललक्षणम् ।। 1.16 ।।

श्री पौष्कर संहिता के सिद्धान्त लक्षण में क्रमशः मंत्र सिद्धान्त, तंत्र सिद्धान्त, तन्त्रान्तर सिद्धांत तथा वेद, पुराण, इतिहास, प्रामाण्य सिद्धांत से इसकी श्रुति मूलकता प्रमाणित होती है—

"मन्त्रसिद्धांतसंज्ञं च शास्त्रं सर्वफलप्रदम्" ।। 38.297 ।।
तन्त्रसिद्धांत संज्ञं तच्छास्त्रं भोगापवर्गदम् ।
मुख्यानुवृत्तिभेदेन यत्र सिंहादयस्तु वै । 38.300 ।।

यच्छक्तयाराधितं सर्वं विद्धि तन्त्रातरं तु तत् ।
एवं नानागमानां च सामान्यं विद्धि सर्वदा ॥ 38.302 ॥
सेतिहासपुराणैस्तु वेदै र्वेदान्त संयुतैः ।
ये जन्मकोटि भिस्सिद्धास्तेषा मंत्रोऽत्र वै स्मृतः ॥ 38.307 ॥
पञ्चप्रकार विज्ञेयं यत्र रात्र्यायतेऽब्जज ।
फलोत्कर्ष वशेनैव पञ्चरात्रमिति स्मृतम् ॥ 38.308 ॥

पौष्कर ने श्रुतिमूलकता प्रामाण्य का कथन स्वयं किया है—

"प्रमाणमागमानां च ससंज्ञं परमेश्वर" ॥ 39.1 ॥
आद्यं सर्वागमानां च पारमेश्वरमागमम् ।
प्रमाणपरिशुद्धं च हितमब्जज सात्वतम् ॥ 39.18 ॥
सिद्धान्ते भगवत्तत्ववेदिनः परमार्थनः ।
क्रमागतश्च तैः प्राप्त मुक्तये भविनां तु वै ॥ 39.19 ॥

शाण्डिल्य संहिता के भक्ति खण्ड के चतुर्थ अध्याय में पाञ्चरात्र संहिताओं सहित स्वतः साक्ष्य से वेदमूलकता प्रमाणित करती है। शाण्डिल्य संहिता का वचन है कि यह संहिता वेद, उपनिषद्, सांख्य, योग आदि सभी शास्त्रों का सारभूत ग्रंथ है—

ऋचां च यजुसां चापि साम्नामांगिरसामपि ।
सांख्यानामपि योगानां सर्वोपनिषदां गिराम् ॥
सर्वेषामपि शास्त्राणां सारभूत हरे प्रियम् ।
रहस्यं पंचरात्राख्यं काले कालेऽभिलेभिरे ॥ 1.4.56-57 ॥

वेदमूलक प्रामाण्यवाद का समर्थन प्रकारान्तर से प्रायः सभी संहिताए, आगम और तंत्र करते हैं। कपिंजल संहिता का वचन है कि पाञ्चरात्र शास्त्र का उद्भव भगवान के मुख से हुआ।[1] पराशर संहिता अपनी पवित्रता और शास्त्रीय गुह्यता को श्रुति सम्मत मानकर सामान्य जनों से इसीलिए पृथक रखने की संस्तुति करते हैं कि यह एक पवित्र भगवद् प्रवचन है।[2] भारद्वाज संहिता अपने को श्रुति विभावन ग्रंथ मानता है।[3] मार्कण्डेय संहिता अपने को एक पवित्र शुभ एवं श्रुति सम्मत मानता है।[4]

नारदीय संहिता के 29वें अध्याय के वैदिकत्व प्रतिपादन प्रकरण में स्पष्टतः उल्लेख है कि पाञ्चरात्र संहिताओं में वर्णित विवरण वैदिक परम्पराओं

1. कपिञ्जल संहिता, अ० 8
2. पराशर संहिता, 2.116
3. भारद्वाज संहिता, 3.40
4. मार्कण्डेय संहिता, 1.37

से प्रमाणित, संस्तुत एवं प्रवर्द्धित हैं। नारदीय संहिता का कथन है कि पाञ्चरात्र में प्रकाशित यहां जो कुछ भी मंत्र प्रस्तुत हैं वे सभी वैदिक तत्वों और रहस्यों को व्यक्त करते हैं। इस प्रकरण के अंतिम श्लोक में यह स्वीकार किया गया है कि पाञ्चरात्र के सभी रहस्य वेदाधृत हैं और इसे पाञ्चरात्र नाम से प्रसिद्धि इसीलिए प्राप्त है कि इसमें वैदिक क्रियाओं के समस्त रहस्यात्मक श्रेष्ठ ज्ञान समाहित हैं। इस प्रकार नारदीय सहिता स्वयं को श्रुतिमूलक स्वीकार करती है—

> अत्र मन्त्रास्तु येकेचित् पञ्चरात्रे प्रकाशिताः।
> ते सर्वे वैदिकाः ज्ञेयाः रहस्यं वैदिकं त्विदम् ॥
> पाञ्चरात्रमिति ख्यातं वेदाद्व प्रकटीकृतम् ।
> एतद्रहस्यं परमं ज्ञानसर्वस्वमीरितम् ॥ 29.39-40 ॥

विष्णु संहिता के द्वितीय पटल में विस्तृत रूप से पाञ्चरात्र सहिताओं के वेद प्रामाण्य को स्वीकार करते हुए लिखा गया है कि तंत्रत्व तथा तंत्रज्ञता की परीक्षा स्वयं तंत्रों से होती है कि पाञ्चरात्र संहिताओं का मूल वेद है। क्योंकि तंत्र आप्त वचन है।[1] मनु आदि ऋषियों के वचनों के समान तथा पुराणों के समान प्रमाण में तंत्र स्वीकृत है पांच प्रकार के प्रमाणों—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द और अर्थापत्ति, से संहितायें प्रमाणित हैं। विष्णु संहिता के 13वें से 17वें श्लोक तक प्रत्यक्ष अनुमान, उपमानादि प्रमाणों से समर्थित वेद और तंत्र दोनों को स्वीकार किया गया है। 18वें एवं 19वें[2] में स्पष्टतः उल्लेख है कि तंत्र आप्त प्रोक्त हैं अतः ये स्वतः प्रमाणित है, क्योंकि आप्त वचन सदा श्रुति समर्थित परम्परानुसार मान्य हैं। क्योंकि वेद का प्रामाण्य ही आप्त वचन का मूल है। इसी आधार पर विष्णु संहिता अपने को वेद मूलक स्वीकारती है। पूर्वोक्त विवेचन के अनुसार शाण्डिल्य संहिता (भक्ति खण्ड, प्रथम भाग के चतुर्थ अध्याय) में वैदिक प्रामाण्य की परम्परा का उल्लेख करते हुए लिखा गया है कि ऋक्, यजुष् तथा साम आदि वैदिक वाङ्मय तथा अंगिरस आदि से समर्थित इस शाण्डिल्य संहिता को स्वीकार किया गया है। पाञ्चरात्र संहिता के रहस्य को विभिन्न कालों में सभी उपनिषदों, योग, सांख्य तथा सभी शास्त्रों

---

1. इति तन्त्रस्य तन्त्रत्वं तन्त्रज्ञाः परिचक्षते ।
   वेदमूलतया तन्त्रमाप्तमूलतयाथवा ॥
   पुराणवत प्रमाणं स्यात् तथा मन्वादिवाक्यवत् ॥ 2.11, 12अ ॥
2. आप्तप्रोक्त्या तन्त्रं प्रमाणमिति ये विदुः ।
   वेद प्रामाण्यमप्याहुराप्तमूलतयैव ते ॥ 2.19 ॥

के वचनों का सारभूत कहा गया है। इस प्रकार शाण्डिल्य संहिता के अन्तः-साक्ष्यों से भी यह ज्ञात होता है कि पाञ्चरात्र संहितायें अपने को वैदिक प्रामाण्य से समर्थित स्वीकारती है—

ऋचां च यजुषां चापि साम्नामांगिरसामपि ।
साङ्ख्यानामपि योगानां सर्वोपनिषदां गिराम् ॥
सर्वेषामपि शास्त्राणां सारभूतं हरेः प्रियम् ।
रहस्यं पञ्चरात्राख्यं काले कालेऽभिलेभिरे ॥

भक्ति खण्ड, I, 4.56, 57

इसी संहिता में अन्यत्र पाञ्चरात्र प्रामाण्य के रहस्य को वेद सम्मत कहते हुए इसे परम दिव्य, पवित्र एवं मंङ्गल कहा गया है—

प्रमाणपञ्चकैः पूर्णं पञ्चकार्थोपदेशनम् ।
प्रपञ्चातीतसद्धर्मं पञ्चरात्रमुदाहृतम् ॥
साङ्ख्यं योगश्च वैराग्यं तपो भक्तिश्च केशवे ।
पञ्चार्थदानतस्त्राणात् विद्या सा पाञ्चरात्रिकी ॥
पञ्चरात्रं बहुविधं बहुधा भाषितं परैः ।
प्रमाणां विरोधेन तद्यथार्थं न चेदृशम् ॥
एतत्सर्वप्रमाणानां रहस्यं वेदसम्मितम् ।
एतन्मे परम दिव्यं पवित्रं मङ्गलं शुभम् ॥

भक्ति खण्ड, 1.4.77-79, 80 अ, 81 अ

वृहद् ब्रह्म संहिता के प्रथम पाद के सप्तम अध्याय में स्पष्ट उल्लेख है कि श्रेष्ठ वैष्णव धर्म निश्चितत: वेद विहित हैं। यह सम्पूर्ण चराचर जगत की उत्पत्ति विष्णु से सम्बद्ध है और विष्णु वैदिक देवता हैं जिनसे वैष्णव धर्म निःसृत है। पाञ्चरात्र वैष्णव धर्म की एक प्रमुख शाखा भी है इसलिए वृहद् ब्रह्म संहिता (1.7.10)अपने को वैष्णव धर्म और वेद से समर्थित स्वीकार करती हुई वेद के प्रामाण्य को ग्रहण करती है—

वैष्णवो हि परोधर्मो वत्स वेदेषु निश्चितः ।
विष्णोः सकाशादुद्भूतं जगदेतच्चराचरम् ॥

पाञ्चरात्र-प्रामाण्य : विमर्श-परम्परा

पाञ्चरात्र आगम परम्परा के प्रामाण्य पर सातवीं शताब्दी अथवा कुछ पूर्व काल से ही खण्डन-मण्डन की परम्परा ज्ञात होती है। लगभग 800 ई० के महान मीमांसक कुमारिल भटट ने अपने ग्रंथ "तन्त्रवार्तिक"[1] में अवैदिक मतों

में पाञ्चरात्र की गणना करके जिस विवाद को जन्म दिया उसका बड़ा प्रभाव दिखाई देता है। पुनः शंकराचार्य के ब्रह्मसूत्र-पाञ्चरात्राधिकरण-भाष्य से यह विवाद और व्यापक भी होता गया। मीमांसकों, नैयायिकों और अद्वैत वेदान्तियों ने कतिपय तर्क वितर्कों के माध्यम से यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया कि पाञ्चरात्र (आगम) वेद सम्मत नहीं है। जिसकी कालान्तर में तीव्र प्रतिक्रिया हुई। फलतः यामुनाचार्य का 'आगम प्रामाण्य' और श्री रामानुजाचार्य का 'श्री भाष्य' रचा गया। इतना ही नहीं वेदान्त देशिक ने 'पाञ्चरात्र रक्षा' की रचना करके इस दिशा में विलक्षण कार्य किया। इनमें 'आगम-प्रामाण्य' सर्वाधिक उल्लेखनीय कृति है, इसके प्रणेता यामुनाचार्य का काल 918 ई० से 1038 ई० तक माना जाता है।

रोचक बात यह है कि यमुनाचार्य हों अथवा रामानुजाचार्य अथवा वेदान्त देशिक (वेंकटनाथ)—ये सभी आचार्य अनेक दार्शनिक सिद्धान्तों के ज्ञाता थे और इन्होंने एकाधिक सम्प्रदाय पर ग्रंथों की रचना की। उदाहरण के लिए यामुनाचार्य ने आगम-प्रामाण्य के अतिरिक्त 'स्तोत्र रत्न' 'कश्मीर आगम प्रामाण्य, गीतार्थ संग्रह, 'सिद्धित्रयं' (आत्म, ईश्वर, संवित्), 'आलवन्दार स्तोत्र श्री स्तुति' (चतुश्लोकी) और 'पुरुष निर्णय' (महापुरुष निर्णय) जैसे ग्रंथों की रचना की। इसी तरह वेदान्तदेशिक के नाम से प्रख्यात वेंकटनाथ ने' पाञ्चरात्र रक्षा के अतिरिक्त 'न्याय सिद्धाञ्जन' और 'न्याय परिशुद्धि' जैसे न्यायपरक शास्त्रों की भी रचना की। इनमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण कृति विवेच्य प्रसंग में आगम-प्रामाण्य है जो पाञ्चरात्र वाङ्मय के प्रामाण्य पर पूर्णतः आधारित है। यह कृति पाञ्चरात्र संहिताओं के वैदिक स्वरूप को व्यक्त करती है। वास्तव में यामुनाचार्य ने विभिन्न दार्शनिक मतों के आचार्यों द्वारा पाञ्चरात्र मत पर की गई आलोचना का सतर्क उत्तर दिया है। यामुनाचार्य ने

---

1. यद्धा यान्येतानि त्रयीविद्भिः न परीगृहीतानि किंचित्तन्मिश्र धर्मक चुकच्छाया पतितानिलोकोपसंग्रहलाभपूजाख्यातिप्रयोजनपराणि त्रयी विपरीतासंबद्धदृष्ट-शोभादिप्रत्यक्षानुमानोपमानार्थापत्तिप्राययुक्तिमूलोपनिबद्धानिसांख्ययोगपाञ्च-रात्रपाशुपत शाक्यनिर्गंथपरिगृहीतधर्माधर्मनिबन्धानानि विषचिकित्सावशी-करणोच्चारणोन्मादनादिसमर्थकतिपयमन्त्रौषधिकाराचित्कसिद्धिनिदर्शनबलना-हिंसासत्यवचनदमदानदयादिश्रुतिस्मृतिसम्पादिस्तोकार्थगन्धवासितजीविका-प्रायाप्रायार्थान्तरोपदेशीनि यानि च ब्राह्मतराणि म्लेच्छाचारमिश्रभोजना-चरणानि निबन्धनानितेषामेवैतच्छतिविरोधहेतुदर्शनाभ्यामनपेक्षणीयत्वं प्रति-पाद्यते।"

तंत्रावार्तिक प्रथम, तृतीय, चतुर्थ : पृ० 114-115।

मीमांसकों की आलोचना का उत्तर देते हुए पाञ्चरात्र आगमों को वेदों के समान ही प्रामाणिक माना है। सर्वप्रथम मीमांसकों ने ही पाञ्चरात्र आगमों एवं उनके अनुयायियों के वेदसम्मत होने में संदेह व्यक्त किया था। दूसरे आलोचक नैयायिक थे, जिनके दृष्टिकोण में यद्यपि कई बातों में यामुनाचार्य की समरूपता भी दिखाई देती है, यथा—ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति (सर्ग—सिद्धान्त), ईश्वर के अस्तित्व में आस्था, आगमों का दिव्य स्वरूप और उत्पत्ति पालन एवं विनाश कर्ता परम 'ब्रह्म' आदि ऐसे सिद्धान्त हैं जिनमें समानता देखी जा सकती है।

यामुनाचार्य मीमांसकों के उस मत से सहमत हैं कि वेद अपौरुषेय हैं और वे किसी व्यक्ति की रचना नहीं हैं। यामुनाचार्य को सबसे महत्वपूर्ण विचार करना पड़ा वेदान्तियों के पाञ्चरात्र सम्बन्धी प्रामाण्य पर।[1] अद्वैतवादियों के पाञ्चरात्र-प्रामाण्य सम्बन्धी खण्डन का मूल आधार बादरायण का ब्रह्मसूत्र है जिसका एक अधिकरण इस सन्दर्भ में महत्वपूर्ण माना जाता है। इस अधिकरण का नाम है 'उत्पत्यसंभवात्' अथवा पाञ्चरात्राधिकरण इसमें चार सूत्र हैं।[2]

शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्र के अपने भाष्य (2.2,42-45) में यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि स्वयं भगवान बादरायण ने इन आगमों की प्रामाणिकता को अस्वीकार किया है। यह स्वीकृति ब्रह्मसूत्र में न्याय और वैशेषिक के अवैदिक सिद्ध किए जाने के तुरन्त बाद प्रस्तुत है। इस प्रकार अद्वैतवादियों का दृष्टिकोण इस प्रसंग में महत्वपूर्ण प्रतीत होता है जब वे उक्त अधिकरण में पाञ्चरात्र को वेद-विरुद्ध प्रमाणित करते हैं।

शंकराचार्य द्वारा खण्डन

ज्ञातव्य है कि ब्रह्मसूत्र[3] के द्वितीय अध्याय का द्वितीय पाद तर्कपाद

---

1. द्रष्टव्य—आगम प्रामाण्य, यामुनाचार्य, पृ० 109-119
2. ब्रह्मसूत्र शंकरभाष्य : द्वितीय II. 42-45
3. आजकल ब्रह्मसूत्र के दस भाष्य उपलब्ध हैं—1. शांकर, 2. भाष्कर, 3. रामानुज, 4. श्री कंठ, 5. मध्व, 6. निम्बार्क, 7. श्रीकर, 8. विज्ञानभिक्षु, 9. बल्लभ, 10. बलदेवभाष्य। इसमें सर्वप्राचीन शांकरभाष्य है। शंकर के पूर्व के भाष्य अब लुप्त हैं।

कहलाता है। इसका अन्तिम अधिकरण ही पाञ्चरात्राधिकरण[1] कहलाता है। शंकराचार्य और रामानुजाचार्य ने इस अधिकरण को उत्पत्त्यसंभवात् अधिकरण कहा है जबकि विज्ञानभिक्षु उत्पत्त्यसंभवात् इत्यादि चार सूत्रों को पूर्व अधिकरण का ही अंग मानते हैं। इस तरह विज्ञानभिक्षु का मत उत्पत्त्यसंभवादधिकरण अथवा पाञ्चरात्राधिकरण की कोई सत्ता नहीं है। तथापि अधिकांश भाष्यकारों के मत से उक्त अधिकरण में पाञ्चरात्र मत की समालोचना की गई है। श्री कंठ ने तो पाञ्चरात्राधिकरण के ही नाम से इसकी व्याख्या की है।[2]

शंकराचार्य ने अपने भाष्य में इगित किया है कि पाञ्चरात्रागमों में जीवोत्पत्ति, अनेकेश्वर कल्पना तथा वेद की निंदा दिखाई देती है अस्तु इन आगमों का प्रामाण्य स्वीकार नहीं किया जा सकता। इस टिप्पणी के अनुसार चारों वेदों की उपासना से भी परमश्रेय की उपलब्धि न देखकर शाण्डिल्य ने पाञ्चरात्र शास्त्र को प्राप्त किया था। इस उद्धरण से पाञ्चरात्र की अपेक्षा वेदों के प्रति शिथिल दृष्टि का बोध होता है अस्तु यह कल्पना असंगत है—तत्र भागवता मन्यन्ते—भगवानेकौ वासुदेवो···वेद प्रतिषेधश्च भवति, चतुर्षु वेदेषु परं श्रेयो लब्धवा शाण्डिल्य इदं शास्त्रमधिगतवानिति इत्यादि वेदनिन्दादर्शनात् तस्मादसंगतैषा कल्पनेति सिद्धम्। ब्रह्मसूत्र, शांकरभाष्य, 2.2.42-45।

शंकराचार्य कहते हैं कि पाञ्चरात्र आगम के अनुसार परम ब्रह्म वासुदेव से संकर्षण नामक जीव की उत्पत्ति होती है, संकर्षण से प्रद्युम्न नामक मन की तथा प्रद्युम्न से अनिरुद्ध नामक अहंकार की उत्पत्ति होती है, उनका कहना है कि वासुदेव से संकर्षण नामक जीव की उत्पत्ति सर्वथा अप्रामाणिक है। इसमें अनित्यत्व आदि दोष आ जाते हैं। वासुदेव स्वयं परमात्मा हैं संकर्षण जीव,

---

1. यह अधिकरण : उत्पत्त्यसम्भवाधिकरण अत्यन्त विवादास्पद है। शंकराचार्य ने इसके चार रूपों की गणना ब्रह्मसूत्र के दूसरे अध्याय (तर्कपाद) में (द्वितीय II. ii. 42-45) की है रामानुज ने 39वें से 42वें तक।

   ब्रह्मसूत्र (II. ii) के चारों सूत्र इस प्रकार हैं—1. उत्पत्त्यसम्भवात्, 2. न च कर्तुः करणम्, 3. विज्ञानादिभावे वा तदप्रतिषेधः, 4. विप्रतिषेधाच्च।

2. द्रष्टव्य ब्रजवल्लभ द्विवेदी : आगम और तन्त्रशास्त्र नामक ग्रन्थ में ब्रह्मसूत्र का 'पाञ्चरात्राधिकरण' शीर्षक लेख। शंकर, भास्कर, रामानुज, बल्लभ और श्रीकंठ ने इसे पाञ्चरात्र-संदर्भ मानकर इसकी समालोचना की है। निम्बार्क, मध्व, बलदेव और श्री निवास यहां शावत दृष्टिकोण की बात करते हैं।

प्रद्युम्न मन एवं अनिरुद्ध अहंकार स्थानीय माने गए हैं। जीव की उत्पत्ति वैदिक सिद्धान्तों के विरुद्ध है और कर्तृभूत (जीव) संकर्षण से करणभूत (मन) प्रद्युम्न की उत्पत्ति लोकविरुद्ध भी है, क्योंकि कहीं भी कर्त्ता से करण की उत्पत्ति नहीं देखी जाती—

"न च कर्त्तुः करणम् इतश्च असंगतैषा कल्पना, यस्मान्न हि लोके कर्तुः देवदत्तादेः करण परश्वाद्युत्पद्यमानं दृश्यते। वर्णयन्ति च भागवताः" कर्तुर्जीवात् संकर्षणसंज्ञकात् करणं मनः प्रद्युम्नसंज्ञकमुत्पद्यते, कर्तुजाच्च तस्मादनिरुद्धसंज्ञको हंकार उत्पद्यते" इति। न चैतत् दृष्टान्तमन्तरेण अध्यवसातुं शक्नुमः। न चैवं भूतां श्रुतिमुपलभाम। (शांकरभाष्य, II. ii.43)।

शंकराचार्य की दूसरी आपत्ति पाञ्चरात्रागम में अनेकेश्वर कल्पना सबंधी दोष है। तदनुसार वासुदेव आदि चतुर्विध ब्रह्म तुल्य परिकल्पना अनर्थकारी है। कार्य-सिद्धि में एक ही ईश्वर की परिकल्पना होती है। अपना तर्क प्रस्तुत करते हुए शंकराचार्य कहते हैं—

अत्रोच्यते-एवमपि तदप्रतिषेधः, उत्पत्य संभवस्याप्रतिषेधः···यदि तावदयमभिप्रायः—परस्परभिन्ना एवैते वासुदेवादयश्चत्वार ईश्वरास्तुल्यधर्माणो नैषामेकात्मकत्वमस्तीति, ततोऽनेकेश्वरकल्पनानर्थक्यम्, एकेनैवेश्वरेण ईश्वरकार्यसिद्धेः। सिद्धान्तहानिश्च—भगवानेवैको वासुदेवः परमार्थतत्वमित्यभ्युपगमात्। अथायमभिप्रायः—एकस्यैव भगवत एते चत्वारो व्यूहास्तुल्यधर्माण इति, तथापि तदवस्थ एव उत्पत्यसम्भवः। न हि वासुदेवात् संकर्षणस्योत्पत्तिस्संभवति, संकर्षणाच्च प्रद्युम्नस्य, प्रद्युम्नाच्चानिरुद्धस्य, अतिशयाभावात्। भवितव्यं हि कार्यकारणयोरतिशयेन, यथा मृद्घटयोः। न हि असत्यतिशये कार्य कारणमित्यवकल्पते, न च पञ्चरात्रसिद्धान्तिभिः वासुदेवादिष्वेकास्मिन् सर्वेषु वा ज्ञानैश्वर्यादितारातम्यकृतः कश्चिद्भेदो भ्युपगम्यते। वासुदेवा एव हि सर्वे व्यूहा निर्विशेषा इष्यन्ते। न चैते भगवद्व्यूहाः चतुस्संख्यायामेव अवतिष्ठेरन् ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तस्य समस्तस्यैव जगतो भगवद्व्यूहत्वावगमात्।"—**शांकरभाष्य,** II.ii.44.

सर्वाधिक रोचक बात यह है कि शंकराचार्य ने पाञ्चरात्र आगम के एकदेश को अप्रामाणिक माना है वेद के अनुकूल भाग को वे प्रामाणिक मानते हैं—

तत्र यत्तावदुच्यते—योऽसो नारायणः परोऽव्यक्तात्प्रसिद्धः परमात्मा सर्वात्मा स आत्मनाऽऽत्मानमनेकधा।

व्यूह्यावस्थित इति, तन्न निराक्रियते, स एकधा भवति त्रिधा भवति (छा. 7.26.2) इत्यादिश्रुतिभ्य परमात्मनोऽनेकधाभावस्यधिगतत्वात्। भगवतोऽभिगमनादिलक्षणमाराधनमजस्रमनन्यचिन्ततयाऽभिप्रेयते, तदपि न प्रतिषिध्यते, श्रुति स्मृत्योरीश्वरप्रणिधानस्य प्रसिद्धत्वात्। (**ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य,** 2.2.42.)

शाण्डिल्य संहिता के अनुसार पाञ्चरात्र बहुधा अन्यों के द्वारा बहुविध भाषित है —

पञ्चरात्रं बहुविधं बहुधा भाषितं परैः ।
प्रमाणानां विरोधेन तद्यथार्थं न चेदृशम् ।। 1.4.79 ।।

उपर्युक्त वचन के अनुसार शकराचार्य ने पाञ्चरात्रागम को वेदनिन्दक ही सिद्ध करने का प्रयास किया है—

विप्रतिषेधश्चास्मिन् शास्त्रे बहुविध उपलभ्यते
गुण गुणित्वकल्पनादिलक्षणः । "ज्ञानैश्वर्यबलवीर्यतेजांसि गुणाः आत्मान एवैते भगवन्तो वासुदेवा" इत्यदिदर्शनातों वे विप्रति षेधश्च भवति—"चतुर्षु वेदेषु परं, श्रेयोऽलब्ध्वा शाण्डिल्य इदं शास्त्रमधिगतवानिति इत्यादिवेदनिन्दादर्शनात् ।"
(शांकरभाष्य, 2.2.45.)

इस प्रकार शंकराचार्य ने अपने भाष्य में पाञ्चरात्र-प्रामाण्य विषयक कतिपय आपत्तियों का निर्देश किया है । अस्तु वे पाञ्चरात्र-प्रामाण्य का खण्डन करते हैं जिसका एक ओर उनके अनुयायियों (अद्वैतवादी वेदान्तियो) द्वारा समर्थन किया गया है तथा दूसरी ओर यामुनाचार्य, रामानुजाचार्य और वेदान्त देशिक जैसे आचार्यों द्वारा शंकराचार्य के मत का खण्डन तथा पाञ्चरात्र-प्रामाण्य कामण्डन किया गया है ।

पाञ्चरात्र-प्रामाण्य का मण्डन :
आगम-प्रामाण्य, श्री भाष्य एवं पाञ्चरात्र रक्षा में

शंकराचार्य ने पाञ्चरात्राधिकरण के उक्त चार सूत्रों के अपने भाष्य में जीवोत्पत्ति सिद्धान्त और चतुर्व्यूह आदि भागवत शास्त्र के सिद्धान्तों से सम्बन्धित जो खण्डन किया है उसकी यामुनाचार्य ने आगम-प्रामाण्य में सतर्क समीक्षा प्रस्तुत की है ।

वास्तव में पाञ्चरात्र परम्परा की यामुनाचार्य[1] द्वारा की गई प्रामाणिकता और उसकी महिमा बाद में रामानुजाचार्य[2] तथा वेदान्त देशिक[3] के चिन्तन का

1. **आगम प्रामाण्य आफ यामुनाचार्य**, संपादक डॉ० एम० नरसिंहाचारी, ओरियन्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ोदा, 1976
2. **श्री भाष्य** (रामानुजाचार्य कृत), रामानुज ग्रंथ माला, संहिता प्रतिपादि-भयंकर अण्णंगाराचार्य, काञ्चीपुरम्, ग्रंथमाला ऑफिस, 1956
3. **श्री पाञ्चरात्ररक्षा ऑफ श्री वेदान्तदेशिक**, सम्पादक पंडित एम० दुराइ-स्वामी आयंगार एवं पं० टी० वेणुगोपालाचार्य, आड्यार, द्वितीय संस्करण, 1967

आधार बना। रामानुजाचार्य ने इन आगमों का प्रामाण्य पूर्णतः स्वीकार किया है और पौष्कर, सात्वत तथा परम संहिताओं से उद्धरण देकर इन आगमों को वेद सम्मत स्वीकार किया है तथा वे जीवोत्पत्ति सम्बन्धी शंकराचार्य की आपत्ति पर भागवत अवतारवाद की परम्परा की व्याख्या करते हुए पांचरात्रागम की प्रामाणिकता की पुष्टि करते हैं।

इन आचार्यों ने भी आगम प्रामाण्य के महत्व को क्रमशः श्री भाष्य एवं पाञ्चरात्र रक्षा में स्वीकार किया। इतना ही नहीं कश्मीर के जयन्त भट्ट[1] नाम के एक विख्यात नैयायिक अपनी कृति न्याय मंजरी में पाञ्चरात्र प्रामाण्य को स्वीकार किया। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि शैवागमों की तरह पाञ्चरात्र भी प्रामाणिक शास्त्र है क्योंकि इन आगमों में ऐसा कुछ नहीं मिलता जिससे कि इन्हें अप्रामाणिक कहा जा सके।

पाञ्चरात्र-प्रामाण्य की मण्डन-परम्परा का सर्व प्रमुख ग्रंथ यामुनाचार्य का आगम प्रामाण्य है। कालान्तर में रामानुज का श्री भाष्य, पाञ्चरात्राधिकरण समीक्षा के सन्दर्भ में यामुनाचार्य का ही अनुगमन करता है, तथा उनके विचारों को और भी विस्तार देता है। यामुन के समान ही रामानुज ने ब्रह्मसूत्र के उक्त चार सूत्रों में से प्रथम दो को पूर्व पक्ष और अंतिम दो को सिद्धान्त की संज्ञा दिया है। रामानुजाचार्य ने शंकराचार्य के इस मत का 'पाञ्चरात्र आगम वेद निन्दक है अस्तु अप्रमाणिक है का तीव्र विरोध किया है और यामुनाचार्य द्वारा आगम प्रामाण्य में निर्दिष्ट व्याख्या को ही आधार बनाया है। यामुन की तरह वे भी मानते हैं कि महाभारत के रचनाकार व्यास तथा ब्रह्मसूत्र के रचनाकार बादरायण—दोनों एक है।[2] इसी प्रकार रामानुजाचार्य, वेदान्त देशिक तथा कतिपय अन्य आचार्यों पर समान रूप से यामुनाचार्य का प्रभाव दिखायी देता है।[3]

आगम प्रामाण्य : यामुनाचार्य का अभिमत

यामुनाचार्य ने पाञ्चरात्र प्रामाण्य के सभी खण्डन कर्ताओं का उत्तर देते हुए पाञ्चरात्र-प्रामाण्य-समर्थन में सिद्धान्त निरूपण करते हुए प्रारम्भ में ही कहा कि पाञ्चरात्र वेद सम्मत है, क्योंकि यह तंत्र **'ज्योतिष्टोमादि**

1. पाञ्चरात्रेऽपि तेनैव प्रामाण्यमुपवर्णितम्।
   अप्रामाण्यनिमित्तं हि नास्ति तत्रापि किंचन ।।
   न्याय मंजरी, आह्निक iv, पृ० 265
2. **श्री भाष्य, 2.2.42**
3. **आगम प्रामाण्य इन्ट्रोडक्ट्री स्टडी, पृ०** 14-15

वाक्यवत्' प्रामाणिक है अर्थात् **'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत्'** इस वेद वचन की भांति पाञ्चरात्र तंत्र भी प्रामाणिक है[1]—

विवादाध्यासितं तन्त्रं प्रमाणामिति गृह्यताम् ।
निर्दोषिज्ञानजन्मत्वात् ज्योतिष्टोमादिवाक्यवत् ।।

यामुनाचार्य ने मीमांसकों, नैयायिकों और वेदान्तियों तथा समस्त दर्शनिक मतानुयायियों के खण्डन को अस्वीकारते हुए यह सिद्ध किया है कि पाञ्चरात्र प्रामाण्य में किसी प्रकार का दोष निर्देश नहीं किया जा सकता चाहे वह पक्ष सम्बद्ध हो या हेतु से। यामुनाचार्य इन सभी खण्डन कर्ताओं को सतर्क उत्तर देते हुए पाञ्चरात्र मत की प्रामाणिकता न केवल स्वीकार करते हैं अपितु एतदर्थ ही उन्होंने आगम-प्रामाण्य की रचना भी की।[2]

पाञ्चरात्रागमों को वासुदेव प्रोक्त माना गया है और उन्हें परम ब्रह्म माना जाता है। तथैव वेदों को अपौरूषेय माना जाता है जबकि सांख्य के उद्गाता कपिल और योग के उद्गाता पतंजलि मनुष्य थे। अतः मनुष्य होने के कारण उनसे त्रुटि सम्भव थी इसलिए पाञ्चरात्रागमों एवं अन्य मतों के वाङ्मय की तुलना अप्रासंगिक है। कुछ पुराणों का यह वचन है कि बुद्ध के रूप में भगवान वासुदेव ने लोगों को अवैदिक उपदेशों से व्यामोहित किया। लेकिन किसी भी पुराण में ऐसा कोई भी वचन नहीं मिलता कि भगवान वासुदेव ने पाञ्चरात्र को विश्व को व्यामोहित (व्यामोहार्थ) प्रस्तुत किया। पाञ्चरात्रागम वैदिक वचनों का उल्लंघन नहीं करते। अद्वैतवादियों की जीवोत्पत्ति ईश्वर विषयक कल्पना आदि शंकाओं और उनके कारण वेदान्तियों द्वारा पाञ्चरात्र-प्रामाण्य के खण्डन का उत्तर हम रामानुज के अभिमत के प्रसंग में अगले पृष्ठों में देगें। ही यहां ध्यातव्य है कि वासुदेव को समग्र विश्व का आदि स्रोत माना गया है। यद्यपि यही वासुदेव संकर्षण, प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध रूप में अवतरित होता है लेकिन इसका यह तात्पर्य नहीं कि वह अन्य तीन के समान ही है। वह तो इन सभी रूपों में अत्यधिक महत्वपूर्ण एवं सर्वोच्च माना जाता है। अहिर्बुध्न्य

---

1. द्रष्टव्य-**आगम प्रामाण्य**, पृ० 59, इसी पृष्ठ पर सम्पादक की निम्न टिप्पणी भी ध्यातव्य है—'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' इति वाक्यात् पञ्चरात्रतंत्रमपि निर्दोषज्ञानकारणत्वाद्धेतोः प्रमाणमेवेति स्वीक्रियतामित्याशयः।

2. विस्तृत बिमर्श के लिए द्र० डा० कृष्णमाचारी : **इंट्रोडक्टरी स्टडी : आगम प्रामाण्य**, पृ० 33 एवं आगे तथा आगम प्रामाण्य के अन्तर्गत पाञ्चरात्र प्रामाण्य समर्थन हेतु सिद्धान्त के लिए द्र० **आगम प्रामाण्य** पृ० 59 एवं आगे।

संहिता (36.65 ब) का 'गुण प्रधान भावस्तु रामादेरिवयुज्यते' उल्लेखनीय सन्दर्भ है। वास्तव में वासुदेव मुख्य स्वरूप है और अन्य उसके अंश हैं[1]—

व्यूहत्रयस्य भवति कालेन कलनं सदा ।
भगवान वासुदेवस्तु न व्यूहो नापि कालवान् ।।
व्यूहत्रयमपेक्ष्यैव कालव्यूहनिरूपणम् ।
कालेनामानतश्चायममितद्युतिरूच्यते ।।
व्यूहत्रितयपूर्वत्वात् प्रधानः परिपठ्यते ।
संकर्षणादिभूम्यन्तमशेष अशेषभुवनं यतः ।।
विभर्त्याधारभावेन व्याप्नोत्यन्तश्च तत् स्वयम् ।। 18 अ-19 ।।
संकर्षणादिरूपेण व्यूहात्मानं त्रिधा स्थितः ।
तत्तदाश्रितकार्याय यो विभुस्सर्वतोमुखः ।। 55.19 ।।

इस प्रकार स्पष्ट है पाञ्चरात्र का व्यूह सिद्धान्त ईश्वर के बहुवचनत्व को स्वीकार करता है ,सर्वथा निराधार है। वह वस्तुतः लीला भाव से अपने को चतुर्धा विभक्त करता है। उदाहरण के लिए विष्णु ही राम, लक्ष्मण, भरत एवं शत्रुघ्न रूप में प्रकट हुए थे।[2] पाञ्चरात्रियों का यह बड़ा ही महत्वपूर्ण तर्क माना जाता है। सबसे रोचक बात यह है कि शंकराचार्य ने पाञ्चरात्र-प्रामाण्य, विशेषतः इसके व्यूह सिद्धान्त का जो खण्डन किया उसे उनके ही अपने सभी मतानुयायी नहीं स्वीकार करते। अद्वैतियों का एक वर्ग जीव, मन आदि उत्पत्ति विषयक पाञ्चरात्र सिद्धान्त को गौण मानता है। इन आचार्यों में अमलानन्द सरस्वती का नाम सबसे महत्वपूर्ण है जो वाचस्पति मिश्र की टीका भामती के भाष्य कार थे।[3] और उनकी यह टीका वेदान्त कल्पतरु नाम से ख्यात है।

---

1. द्रष्टव्य अहिर्बुध्न्य संहिता, भाग दो, अ० 53. 11-13

2. इस संदर्भ में अहिर्बुध्न्य संहिता का निम्न संदर्भ (36.64-65) उल्लेखनीय है—

प्रतित्रेतायुगं देवः साधुत्राणकृते हरिः ।
रामलक्ष्मणशत्रुघ्नभरताद्यात्मना स्वयम् ।।
चतुर्धावस्थितस्तद्वच्चक्रात्मा हरिरेव हि ।
गुणप्रधानभावस्तु रामादेरिव उच्यते ।।

3. भामती शंकराचार्य के ब्रह्मसूत्र भाष्य की टीका है।

अमलानन्द[1] ने पाञ्चरात्रागम और उसके व्यूह सिद्धान्त को स्वीकार किया है उनके तर्क इस प्रकार हैं---

"पाञ्चरात्रकर्तुर्वासुदेवस्य वेदादेव सर्वज्ञत्वागमात् कपिल पतञ्जल्यादीनां च जीवत्वाद् पाञ्चरात्रस्य पुराणेषु बुद्धादिदेशनावत् व्यामोहार्थ ईश्वर प्रणीतत्वाश्रवणात्, न योगाद्यधिकरणगतार्थता···
सिद्धान्तस्तु···

बुद्धिपूर्वकृतिः पञ्चरात्रं, निस्स्वसित श्रुतिः ।
तेन जीवजनिस्तत्र सिद्धा गौणी नियम्यते ॥

यावद्धि एकदेशे वेदाविरोधादीश्वरबुद्धेः वेदमूलत्वं, वेदाद्वा सर्वविषयत्वं प्रमीयते, तावदेव स्वतः प्रमाणवेदात् जीवानुत्पत्ति प्रमितौतादृग्बुद्धिपूर्वेश्वर-वचनान्नजीवोत्पत्तिरवगंतु शक्यते, अतः प्रमाणापद्धतविषये गौणं तद्वचनं, न तु भ्रान्तं पूर्वपक्षयुक्तेरिति ।"

जैसा कि हमने कई बार इंगित किया है कि यामुनाचार्य ने आगम-प्रामाण्य की रचना हो इसीलिए की है कि वे पाञ्चरात्र-प्रामाण्य को प्रतिष्ठित कर सकें। उनका कालान्तर में बड़ा व्यापक प्रभाव दिखाई देता है। रामानुज का श्री भाष्य इस दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण कहा जा सकता है।

आगम-प्रामाण्य का प्रभाव

यामुनाचार्य के आगम-प्रामाण्य में उनके पश्चात्वर्ती आचार्यों एवं उनकी कृतियों पर गहरा प्रभाव दिखाई देता है। इनमें प्रमुखतः श्री भाष्य के रचनाकार रामानुजाचार्य और श्री भाष्य के टीकाकार 'सुदर्शन सूरि' तथा पाञ्चरात्र रक्षाकार वेदान्तदेशिक उल्लेखनीय हैं। पाञ्चरात्र-प्रामाण्य को ही ध्यान में रखते हुए बाद में 'बाधूल वरदाचारी' कृत 'पाञ्चरात्र कण्टकोद्धार' और 'भट्टारक वेदोत्तम कृत' तंत्र शुद्ध "अत्यन्त महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इनमें प्रथम कृति पाण्डुलिपि रूप में मद्रास में सुरक्षित है।[2] इसके नाम से स्पष्ट है कि इस कृति में पाञ्चरात्र विषयक विरोधियों की टिप्पणियों (कण्टकों) से पाञ्चरात्र के उद्धार का इसमें प्रयत्न है।[3] इस कृति के प्रणेता बाधूलवरदाचारी आगम-

1. द्रष्टव्य **शंकरभाष्य विथ भामती**, वेदान्तकल्पतरू **एण्ड कल्पतरुपरिमल** संहिता एम० एन० अनंतकृष्णाशास्त्री, पुनर्सम्पादित : भार्गवशास्त्री, पाण्डुरंग जीवाजी द्वारा प्रकाशित, बम्बई, 1938, पृ० 573
2. गवर्नमेंट ओरियंटल मैन्युस्क्रिप्ट्स लाइब्रेरी, मद्रास, डी० 5279 (पामलीफ), डी० 15424 (पेपर), इण्ट्रोडक्टरी स्टडी पृ० 15, पा० टि० 4 पर उद्धृत—देखिए।
आगम प्रामाण्य : सम्पादक डॉ० एम० नरसिंहाचारी।
3. श्री पाञ्चरात्रमार्गेषु कण्टका निहिताः परैः।
तत्र सचरंतां पुसां प्रीत्यै तप्नुद्धराम्यहम् ॥ **पाञ्चरात्रकंटकोद्धार**, पृ० 1

प्रामाण्य से अनेक उद्धरण प्रस्तुत करते हैं और उसका समुचित उल्लेख भी करते हैं[1] जबकि भट्टारक वेदोत्तम की कृति तंत्रशुद्ध आगम-प्रमाण्य की तुलना में बहुत छोटी रचना है। किन्तु आगम-प्रामाण्य से प्रेरित होकर भी, इस कृति आगम-प्रामाण्य से प्रेरित होने का आभार व्यक्त नहीं किथा गया है।[2] इस तरह आगम-प्रामाण्य अत्यन्त प्रभावी कृति प्रतीत होती है जिससे पाञ्चरात्र-प्रामाण्य की एक परम्परा का सूत्रपात हुआ।

श्री रामानुजाचार्य का अभिमत—

शंकराचार्य तथा उनके अनुयायी अद्वैतियों ने जीवोत्पत्ति[3] के प्रसंग में पाञ्चरात्र को अवैदिक माना है जिसके उत्त में रामानुज अवतारवाद के भागवत-सिद्धान्त की व्याख्या करते हैं और कहते हैं किजो इस सिद्धान्त का ज्ञान नहीं रखता वह ही इन आगमों की प्रामाणिकता में सन्देह व्यक्त करता है—भगवतप्रक्रियामजानतामिद् चोदयम् यत् जीवोत्पत्ति-विरुद्धाऽभिहितेति (श्रीभाष्य, II-ii 41)। वस्तुतः वासुदेव ही परब्रह्म भूत कारण है संकर्षण नाम के जीव की उत्पत्ति का। वासुदेव ही अपनी इच्छा से चतुर्विध रूपों में शरणागतों के प्रति वात्सल्य के कारण स्थित होते हैं। संकर्षण जीव तत्व के अधिष्ठाता हैं, प्रद्युम्न मन तत्व के और अनिरुद्ध अहंकार तत्व के अधिष्ठाता हैं। इसीलिए उन्हें क्रमशः जीव, मन एवं अहंकार कहा जाने लगा।[4] वे स्वयं जीव, मन, अहंकार नहीं हैं, बल्कि परब्रह्म के स्वरूप हैं—

वासुदेवाख्यम् परम् ब्रह्मैव आश्रितवत्सलम् स्वाश्रितसमाश्रयनीयत्वाच्च स्वेच्छया चतुर्धा अवतिष्ठत इति तत्प्रक्रिया।[5]

अपने मत की पुष्टि के लिए रामानुजाचार्य ने पौष्कर एवं सात्वत संहिताओं के वचन उद्धृत किया है। तदनुसार पौष्कर संहिता[6] में कहा गया है—

---

1. "अन्यो··· (उ) पद्रावाश्च आगम प्रामाण्यादौ निरस्ताः।"
   —**आगम प्रामाण्य,** पृ० 71
2. नरसिंहाचारी, **तत्रैव,** पृ० 15
3. द्र० श्री भाष्य, II., ii 39 : परमशरणात् परब्रह्मभूतात् वासुदेवतात् संकर्षणो नाम जीवो जायते।
4. **श्रीभाष्य,** II-ii.41 : तत्र जीवमनोऽहंकारतत्वनामधिष्ठातारः संकर्षण-प्रद्युम्नानिरुद्धा इति तेषामेव जीवादिशब्दैरभिधानमविरुद्धम् यथा आकाश-प्राणादिशब्दैः ब्रह्मणोऽभिधानम्।
5. **श्रीभाष्य,** तत्रैव
6. **पौष्कर संहिता,** 38.293 ब, 294 अ.

कर्तव्यत्वेन वे यत्र चातुरात्म्यमुपास्यते ।
क्रमागतैस्त्वसंज्ञाभिर्ब्राह्मणैरागमं तु तत् ।।

श्रीभाष्य के इस उद्धरण को प्रकारांतर सात्वत संहिता[1] में भी उद्धृत किया गया है—

ब्राह्मणानां च सद्ब्रह्मवासुदेवाख्ययाजिनाम् ।
विवेकदं परं शास्त्रं ब्रह्मणोपनिषदं महत् ।।

स्पष्ट है कि परब्रह्म ने वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध इन चतुर्विध रूपों में अपने को रूपान्तरित किया । रामानुज का कहना है कि जो ब्रह्म के विभव स्वरूप (राम, कृष्ण एवं अन्य स्वरूप) और व्यूह रूपों में वासुदेव संकर्षण आदि की पूजा करके वासुदेव नामाख्य परम ब्रह्म का साक्षात्कार करता है, वही वासुदेव सूक्ष्म कहलाता है, और वही ज्ञान, शक्ति, बल, वीर्य, ऐश्वर्य एवं तेजस् नामक षड्गुणों का स्वरूप है । वह परम ब्रह्म अन्ततः भक्तों द्वारा प्राप्त कर लिया जाता है । एतदर्थ स्पष्टीकरण के लिए रामानुज ने पौष्कर[2] का ही एक वचन उद्धृत किया है—

यस्मात् सम्यक् परं ब्रह्म वासुदेवाख्यमव्ययम् ।
एवस्मात् प्राप्यते शास्त्राद् ज्ञानपूर्वेण कर्मणा ।।

इस प्रकार रामानुज का कहना है कि पाञ्चरात्र संहिताओं में ऐसा कुछ नहीं है जिसे विवादास्पद कहा जाय ।

'विप्रतिषेधाच्च' (2.2.42) पर अपनी टिप्पणी करते हुए रामानुज का कथन है कि पाञ्चरात्र आगम स्वयं ही इस बात की घोषणा करते हैं कि जीवोत्पत्ति नहीं होती अस्तु यह सोचने का कोई कारण नहीं कि वे (आगम) जीवोत्पत्ति पर प्रकाश डालते हैं । रामानुज ने अपने मत की सम्पुष्टि के लिए परम संहिता[3] का निम्नांकित वचन उद्धृत किया है—

अचेतना परार्धा च नित्या सततविक्रिया ।
त्रिगुणा कर्मिणां क्षेत्रं प्रकृतेरूपमुच्यते ।।
व्याप्तिरूपेण संबन्धः तस्याश्च पुरुषस्य च ।
सह्यनादिरनन्तश्च परमार्थेन तिष्ठति ।।

रामानुज ने परम संहितोक्त पुरुष शब्द को जीव अर्थ में लिया है । यद्यपि

1. **सात्वत संहिता**, 2.4अ एवं 5अ
2. **श्री पौष्कर संहिता**, 38.306.
3. **परम संहिता**. 2.18-19.

डा० नरसिंहाचारी[1] का विचार है कि यह पुरुष शब्द जीव का वाचक नहीं, परम पुरुष का वाचक प्रतीत होता है, जैसा कि परम संहिता के ही अगले श्लोकों (2.20-24) में ब्रह्म व्यापक स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। जीव का प्रश्न केवल पच्चीसवें श्लोक (2.25) में उठाया गया है—कीदृशाः पुरुषाश्चैव संसारेऽस्मिन् व्यवस्थिताः।

पाञ्चरात्रागम अवैदिक है इसका रामानुजाचार्य ने तीव्र विरोध किया। जैसा कि हमने अन्यत्र प्रकाश डाला है। श्रीभाष्य का यह अंश[2] पुनः स्मरणीय है—"यश्चैव केषांचित् उद्घोषः साङ्गेषु वेदेषु निष्ठामलबह्मानः शाण्डिल्य पञ्चरात्रशास्त्रं अधीतवानिति"। रामानुज ने अनेक उद्धरण देकर यह प्रदर्शित किया है कि व्यास जिन्होंने पाञ्चरात्र को महाभारत में महिमान्वित किया है, अपने ब्रह्मसूत्र में किस तरह इसका खण्डन किया होगा। तात्पर्य यह कि रामानुजाचार्य के मतानुसार महाभारतकार भारतीय ज्ञान गंगा के भगीरथ व्यास और ब्रह्मसूत्रकार वादरायण एक ही थे और वे पाञ्चरात्र के आलोचक नहीं थे।

ज्ञातव्य है कि डा० एस० आर० भट्ट ने अपनी पुस्तक "दि फिलासफी ऑफ पाञ्चरात्र" की परिशिष्ट[3] में पाञ्चरात्र-प्रामाण्य विषयक रामानुजाचार्य के अभिमत को अस्वीकार किया है। यद्यपि शंकराचार्य के पाञ्चरात्राधिकरण भाष्य को भी पूर्णत सत्य नहीं माना है।[4] डा० भट्ट का एतद्विषयक दृष्टिकोण पूर्वाग्रह युक्त प्रतीत होता है अस्तु उनकी बात अंशतः सत्य कही जा सकती है कि स्वयं शंकराचार्य का अभिमत संदिग्ध है। स्वामी रामानुजाचार्य ने वस्तुतः पाञ्चरात्र प्रामाण्य का परम्परया मण्डन किया है।

---

1. इण्ट्रोडक्टरी स्टडी : **आगम प्रामाण्य**, पृ० 10 पा० टि०-1
2. **श्रीभाष्य**, II-ii·42
3. **"डज वादरायण फेवर पाञ्चरात्र ?"** : भट्ट : **दि फिलासफी ऑफ पाञ्चरात्र**, परिशिष्ट, पृ० 1-8
4. **तत्रैव**,

5- **तत्रैव** पृ० 8 Thus the Possible conclusion we can arrive at, on the basis of the adove examination, is that the interpretation of Ramanuja is far-stretched, and though Sankara's interpretation is not fully correct, yet it seems to be nearer to the truth.

वेदान्तदेशिक का अभिमत

वेदान्तदेशिक नाम से सुविख्यात वेंकटनाथ[1] ने जो रचनायें प्रस्तुत की उनमें न्याय परिशुद्धि एवं 'पाञ्चरात्र रक्षा' विशेष ख्याति लब्ध कृतियाँ हैं। न्याय परिशुद्धि में कहा गया है कि पाञ्चरात्र पूर्णत: प्रामाणिक है और वेद-सम्मत है[2]—'पाञ्चरात्रं तु कृत्स्नम् 'श्रुतिवत्, स्मृतिवद्धा प्रमाणम्।' श्री भाष्य[3] का 'तदुपर्यपि' वेदान्त देशिक के अनुसार पाञ्चरात्रागमों को एक वैदिक शाखा (अब लुप्तप्राय है) से सम्बद्ध प्रमाणित करता है।[4] वेदान्त देशिक की सबसे महत्वपूर्ण कृति 'पाञ्चरात्र रक्षा' है।[5] यह तीन अध्यायों में विभक्त है और मुख्यत: वैष्णव पञ्चकाल की व्याख्या प्रशंसा अस्तु रक्षा में रचा गया है। अभिगमन, उपदान, इज्या, स्वाध्याय और योग इन पञ्चविध कृत्यों का पाञ्चरात्र-रक्षा में भलीभाँति निर्देश है। इसके प्रथम अध्याय में पाञ्चरात्र उपासना के चतुर्विध भागों का वर्णन है इसे सिद्धान्त कहते हैं जो मंत्र, आगम, तंत्र, तंत्रान्तर में विभक्त है। यहाँ कहा गया है यह उपासना कृत्य मोक्षदायक है।[6]

वेदान्तदेशिक ने कई बार इस बात की घोषणा की कि पाञ्चरात्र वासुदेव

---

1. श्री वेंकटनाथ अपने मतानुयायी शिष्यों में महानतम आचार्य माने जाते हैं। उनके भक्त उन्हें आदरपूर्वक वेदांत देशिक अथवा निगमांत गुरु कहते रहे हैं तथा कवितार्किक सिंह, वेदान्ताचार्य और सर्वतंत्र स्वतंत्र जैसी उपाधियाँ उन्हें प्राप्त हैं। अपने समय के महान संस्कृतज्ञ व तमिलज्ञ इस आचार्य की प्रतिष्ठा एक दार्शनिक, शास्ता, नाटककार, भक्त, प्रपन्न, संत यहां तक कि अपने-अपने अनुयायियों के ईश्वर के रूप में भी इनकी प्रतिष्ठा थी। इस आचार्य का समय 1268-69 से 1369-70 तक एक शताब्दी पर्यन्त ज्ञात होता है। विस्तार के लिए द्रष्टव्य, वी० रंगाचार्य, कल्चरल हेरिटेज ऑफ इण्डिया, भाग 2, पृ० 96-98, जी० श्री निवासमूर्ति, इंट्रोडक्शन : **पाञ्चरात्र रक्षा** (आड्यार संस्करण) पृ० xxii-xxiii.
2. द्रष्टव्य **न्यायपरिशुद्धि**, पृ० 167
3. **श्री भाष्य**, I.ii.25 : 'संकीर्ण ब्राह्मणा···'—वेदांतदेशिक द्वारा उद्धृत।
4. तत् एवं चैषाम् विप्रकीर्णशाखामूलत्वम् सिद्धान्त इत्यपि सूचितम्।—द्र० **न्यायपरिशुद्धि**, पृ० 167
5. विदित निगमसीम्ना वेंकटेशेन···विहितेयं पंचकालस्य रक्षा—**पाञ्चरात्ररक्षा** तृतीय अधिकार, पृ० 180
6. नमस्ते पञ्चकालज्ञ पञ्चकालपरायण।
   पञ्चकालैकमनसां तत्वमेव गतिरव्यया॥—द्र० द्वितीय अधिकार, पृ० 51

प्रोक्त है और यह पूर्णत: प्रामाणिक है और इसका चरम लक्ष्य मोक्ष है। वैखानस और पाञ्चरात्र मतानुयायियों के बीच जो पारस्परिक निन्दा-वचन दिखाई देते हैं इस सन्दर्भ में देशिक का कहना है कि ऐसे अंश या तो प्रक्षिप्त हैं अथवा वे महत्वाकांक्षी शिष्यों और कुण्ठित उपासकों की अभिव्यक्ति हैं। इन दोनों परम्पराओं को वैष्णव शास्त्र की दो परम्पराएँ मानना चाहिए ।[1]

पाञ्चरात्र रक्षा के दूसरे, तीसरे अधिकारों में अभिगमन आदि पञ्चकाल परम्परा के विधानों का वर्णन है।

उपसंहार

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि पाञ्चरात्र आगमों में बार-बार इन आगमों को श्रुतिमूलक बताये जाने की चेष्टा की गयी है। वे आगम कहीं वेद-वत् तो कहीं कल्पसूत्रवत् कहे गये हैं। इन्हें वासुदेव प्रोक्त अथवा नारायण मुखोद्गीत कहकर भी इनकी दिव्य उत्पत्ति की ओर संकेत है। पुन: शंकराचार्य द्वरा पाञ्चरात्र प्रामाण्य के खंडन और बाद में आगम-प्रामाण्य को केन्द्र बनाकर इसके मण्डन की परम्परा पर इसने जो प्रकाश डाला तदनुसार इतना तो स्पष्ट है कि पाञ्चरात्र आगमों के वैदिक अथवा अवैदिक होने की विवादास्पद स्थिति विभिन्न कालों में रही है। रामानुज का यह मत समीचीन लगता है कि वेदों का विस्तार ही आगम ग्रन्थों में किया गया है। वेदों की दुर्बोधता को सुबोधता प्रदान करने के लिए पाञ्चरात्र आगमों की उद्भावना की गयी है। डा० एस० एन० दास गुप्ता का कहना है कि यदि पाञ्चरात्र परम्परा को वैदिक माना जाय तो स्मृतियों में इसकी निन्दा क्यों की गयी है। मनुस्मृति का श्लोक इस प्रकार है—

> वैश्यास्तु जायते व्रात्यात्सुधन्वाचार्य एव च।
> कारुषश्च विजन्मा च मैत्र: सात्वत एव च ।।10.23।।

अर्थात् व्रात्य वैश्य से वेश्या कन्या में सुधन्वाचार्य जाति वाले होते हैं, उनको कारूष, विजन्मा, मैत्र तथा सात्वत जाति का कहा जाता है। दास गुप्त के अनुसार 'सात्वत' का अर्थ निम्न जाति है।[2]

प्राचीन भारतीय समाज में ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य के अलावा एक वर्ग रथकार कहलाता था। ऋग्वेद में रथकार, सौधन्वन और ऋभव सामान्यत: इसी वर्ग के बोधक हैं। पूर्व मीमांसा का एक अधिकरण है रथकार अधि-

---

1. द्रष्टव्य नरसिंहाचारी, **तत्रैव**, पृ० 13
2. डा० दास गुप्त, **हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलास्फी**, खण्ड 3, पृ० 15.

करण (6 1.44-50) कहलाता है जहाँ रथकार की व्याख्या करते हुए वैदिक साहित्य में उक्त वर्ग विशेष की चर्चा हैं। इस रथकार वर्ग को ही सौधन्वन कहा गया है। पूर्व मीमांसा (6.1.50) पर शबर का भाष्य द्रष्टव्य है—**अध्ययन-सिद्धज्ञानांगकत्वं अग्न्याधानस्य। तदपि नङ्‌त्वा इति योजना। अग्न्याधाने वेदाध्येतार एव अधिकृता इत्ययमंशस्तावत् सर्वसम्मतः। निसर्गसिद्धमपि अध्ययनज्ञानांगकत्व माधानस्य, "वर्षासु रथकार आदधीत" इत्ययनेन विशेष-विधानेन बाध्यते। तथा च रथकाराख्यस्य ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यवर्णविभिन्नस्य, शूद्र-वर्ण विभिन्नस्य च जाति-विशेषस्य बोधकत्वमिति रुढ़िसमाश्रवणेन निर्वाहः।**

मीमांसकों ने सात्वतों के व्रात्यत्व का जो स्वरूप रखा आगम प्रामाण्यकार का इस सम्बन्ध में कहना है कि भागवत और सात्वत एक ही हैं—

भागवतशब्दश्च सात्वेषु वर्तत इति नात्र कश्चित् विवादः।

आगम प्रामाण्य, पृ० 13

मीमांसकों ने यह तर्क भी प्रस्तुत किया है कि वृत्यर्थ देवता पूजा, दीक्षा, नैवेद्य भक्षण आदि क्रियायें अब्राह्मण्य को सूचित करती हैं। एतदर्थ परम संहिता (2 .33 ब 34 अ) तथा कतिपय अन्य शास्त्रों से उद्धरण प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि आपत्ति काल हो, कष्ट हो, भय हो अथवा विषम स्थिति हो वृत्यर्थ देवपूजन नहीं करना चाहिए भले ही देवपूजन देवाधिदेव की क्यों न हो।[1] इसी संदर्भ में देवलक की व्याख्या की गयी है। पाञ्चरात्र के अप्रामाण्य को लक्षित करने के लिए मीमांसा के इन तर्कों की भाँति ही नैयायिकों और वेदान्तियों के कई तर्क भी यामुनाचार्य की दृष्टि में रहे हैं। जिनका खण्डन करते हुए उन्होंने पाञ्चरात्र-प्रामाण्य का मण्डन किया।

जिस प्रकार पाञ्चरात्र मत को अवैदिक मानने वाले आचार्यों ने वितर्क रूप में अनेक शास्त्रों से प्रमाण देकर इसे अवैदिक कहा है उसी प्रकार यामुन आदि आचार्यों ने पाञ्चरात्र परम्परा को सर्वथा वेदानुवर्ती प्रमाणित किया है।

उपर्युक्त संदर्भों के आधार पर पाञ्चरात्र के वैदिकत्व के संदर्भ में इतना ही कहा जा सकता है कि श्रुति-स्मृति की युगपत् परम्परा वेद मूलक है अतः पाञ्चरात्र भी वेदानुवर्ती परम्परा है।[2]

---

1. द्रष्टव्य **आगम-प्रामाण्य** पृ० 14-15 एवं आगे
2. विस्तार के लिए द्रष्टव्य दास गुप्त, **तत्रैव** पृ० 15-16; ब्रजवल्लभ द्विवेदी **आगम औन तंत्रशास्त्र**, पृ० 41; एस० आर० भट्ट, **तत्रैव**, परिशिष्ट-6; आचार्य बलदेव उपाध्याय, **वैष्णव सम्प्रदायों का साहित्य और सिद्धान्त** पृ० 74; सुधाकर चट्टोपाध्याय, **इवोल्यूशन ऑफ हिन्दू सेक्ट्स** नामक पुस्तक में दि **पाञ्चरात्र सब सेक्ट** शीर्षक दो अध्याय (2 एवं 3)

समस्त साक्ष्यों के आलोक में पाञ्चरात्र प्रामाण्य के खंडन-मण्डन की परम्पराओं को ध्यान में रखते हुए कहा जा सकता है कि मूलत: वेदों की एक शाखा (कृष्ण यजुर्वेदीय) एकायन शाखा से सम्बद्ध पञ्चरात्र अथवा पाञ्चरात्र वेदानुवर्ती तो है ही क्योंकि पाञ्चरात्र संहिताओं में बार-बार उनकी वेदमूलकता और उनके महोपनिषद्, एकायन वेद जैसे विशेषज्ञों की एक परम्परा सी दिखाई देती है उनके प्रामाण्य की।[1] दूसरी तरफ पाञ्चरात्रागम को अवैदिक कहते हुए उसके खण्डन की भी परम्परा मिलती है। वास्तविकता यह है कि पांचवीं शताब्दी से लेकर सतरहवीं, अठारहवीं शताब्दी तक के दीर्घ काल में रचे जाने वाले इसके विपुल वाङ्मय पर उक्त युगों की धार्मिक प्रवृत्तियों की छाप भी अवश्य होनी चाहिए। पाञ्चरात्रागम के अनेक संदर्भ ऐसे हैं जो तांत्रिक प्रभाव व्यक्त करते हैं और इसी के अनुरूप हमें इस परम्परा के इतिहास को सूचित करने वाले पुरावशेष भी ज्ञात होते हैं। व्यूहवाद, विभववाद अथवा अवतारवाद के सिद्धान्त हों, प्रतिमा प्रतिष्ठा-विधि अथवा मन्दिरों के निर्माण संबंधी शास्त्र का व्यापक निर्देश हो, मंत्र विज्ञान, मातृकाओं एवं मुद्राओं के रहस्य सम्बन्धी शास्त्र इत्यादि अधिकांश संदर्भ ऐसे हैं जो इस परम्परा के व्यापक धरातल को सूचित करते हैं। इसके अलावा इस मत के मूल उद्गाता शाण्डिल्य स्वयं वैदिक, स्मार्त और आगमिक इन तीनों परंपराओं से जुड़े हुए दिखाई देते हैं। अस्तु शाण्डिल्य की तरह ही शाण्डिल्य विद्या अथवा पाञ्चरात्र विद्या का एक विशिष्ट आगम परम्परा के रूप में क्रमिक विकास हुआ अधिकांश अवैदिक तत्वों के समायोजन के बावजूद मूल वैदिक धारा इस आगम परम्परा में अविच्छिन्न रीति से विद्यमान रही।

1. "वेदप्रशंसा बहुश: पंचरात्रेऽपि दृश्यते" अथवा "दृश्यते पञ्चरात्रेऽपि बहुशोवेद प्रशंसा"—द्रष्टव्य **आगम प्रामाण्य**, पृ० 104

द्वितीय अध्याय

व्यूह एवं विभव

तस्मै नमध्वं देवाय निर्गुणाय महात्मने ।।
कर्पदिने वराहाय एकश्रृंगाय धीमते ।
विवस्वते श्वशिरसे चतुर्मूर्तिधृते सदा ।।

शांतिपर्व, 340.101, 106

पाञ्चरात्र परम्परा में पञ्चविध ब्रह्म के अन्तर्गत पर, व्यूह, विभव, अर्चा व अन्तर्यामी के स्वरूपादि पर प्रकाश पड़ता है । इसमें व्यूह व विभव की परिकल्पना का विवेचन प्रस्तुत अध्याय का प्रतिपाद्य है ।

खण्ड—अ : चतुर्व्यूह

व्यूह पाञ्चरात्र मत का अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं मौलिक सिद्धान्त है । पाञ्चरात्र संहिताओं में व्यूह[1] की अवधारणा एवं चतुर्व्यूह के स्वरूप आदि पर विस्तृत प्रकाश पड़ता है । चतुर्व्यूहवाद का एक विकास-क्रम है । व्यूहवाद के लक्षण वास्तव में सर्वप्रथम महाभारत के नाराणीयोपाख्यान में मिलते हैं, जहाँ सामान्यत: व्यूह शब्द के स्थान पर "मूर्ति" शब्द का प्रयोग किया गया है ।[2] ज्ञातव्य है कि वैदिक साहित्य में चतुर्व्यूह सम्बन्धी कोई उल्लेख नहीं मिलता । आरम्भिक उपनिषदों में भी चतुर्व्यूह उल्लिखित नहीं है । छान्दोग्य उपनिषद्[3] में अवश्य ही ब्रह्म के बहुधाभवन का संकेत मिलता है, यथा—"स एकधा भवति त्रिधा भवति" । किन्तु यहां चतुर्धा भवन की बात नहीं की गई है । हां,

---

1. व्यूह शब्द 'वि' उपसर्ग सहित 'ऊह्' धातु से निष्पन्न है जिसमें घञ् प्रत्यय संयुक्त है । 'ऊह्' का अर्थ है विस्तार । वैष्णव पाञ्चरात्र-मत में व्यूह एक दार्शनिक लक्षण का बोधक है । द्र० खोंदा जे० वैष्णविज्म एण्ड शैविज्म, पृ० 50-51; विस्तार के लिए द्र० श्रेडर, तत्रैव पृ० 40
2. ब्रजवल्लभ द्विवेदी, **आगम और तन्त्र शास्त्र,** महाभारत का नारायणयोपाख्यान शीर्षक लेख, पृ० 47-50
3. **छन्दोग्य उपनिषद्,** 7·26.2

चतुष्टव का सिद्धान्त वैष्णव परम्परा में महाभारत एवं पुराणों में अवश्य ही प्रतिविम्बित है। महाभारत में भीष्म का एक कथन उल्लेखनीय महत्व का है। वे कहते हैं कि "मैंने अपने पिता से सुना है कि स्वायम्भुव मनु के युग (सतयुग) में परमब्रह्म 'नारायण' धर्मपुत्र के रूप में चतुर्धा-उत्पन्न हुए। उनके रूप—नर, नारायण, हरि एवं स्वयम्भुव कृष्ण कहलाये।[1] अहिर्बुध्न्य-संहिता में भी इसी के समान परमब्रह्म के चतुर्धा स्वरूप—राम, भरत, लक्ष्मण एवं शत्रुघ्न का परिचय मिलता है।[2] महाभारत के शांति पर्व में वासुदेव को सनातन, परमात्मा कहा गया है[3] और उन्हीं से तीन व्यूहों की स्थिति बतायी गयी है।

यो वासुदेवो भगवान्क्षेत्रज्ञो त्रिगुणात्मकः।
ज्ञेयः स एव भगवाज्जीवः संकर्षणः प्रभुः॥
संकर्षणाच्च प्रद्युम्नो मनोभूत स उच्चयते।
प्रद्युम्नाथोऽनिरुद्धस्तु सोऽहंकारो महेश्वरः॥

शांतिपर्व, 326.38.39

तुलनीय—

चतुर्भिश्चतुरात्मनं सत्वस्थं सात्वतां पतिम्।
यन्दिव्यैर्देवमर्चन्ति गुह्यैः परमनाभिः॥

शांतिपर्व, 46.17

पाञ्चरात्र परम्परा में जो विकसित दार्शनिक सिद्धान्त ज्ञात होते हैं, उसके अनुसार पंचविध-ब्रह्म का सिद्धान्त प्रख्यात है। यद्यपि प्रारम्भिक संहिताओं में ऐसा नहीं है। सर्व प्राचीन संहिताओं में सात्वत संहिता उल्लेखनीय है, जहां त्रिविध ब्रह्म (पर, व्यूह एवं विभव) का वर्णन है।[4] पर, व्यूह, विभव के अति-

1. नारायणो हि विश्वात्मा चतुर्मूर्ति सनातनः।
धर्मात्मजः संबभूव पितैर्व मेऽक्यभाषत्॥
कृते युगे महाराज पुरा स्वयंभुवेन्तरे।
स्वरो नारायणश्चैव हरिः कृष्णस्तथैव च॥ **महाभारत** 12.321.8, 9

2. प्रतित्रेतायुगं देवः साधुत्राणकृते हरिः।
रामलक्ष्मणशत्रुध्नभरताद्यात्मना स्वयम्॥
चतुर्धा वस्थितः स्तद्व चक्रात्मा हरिरेवहि।
गुणप्रधानभावस्तु रामादेरिवयुज्यते॥

अहिर्बुध्न्य संहिता, 36.64-65

3. स वासुदेवो विज्ञेयोः परमात्मा सनातनः। **शान्ति पर्व**, 326.24

4. त्रिविधेन प्रकारेण परमं ब्रह्म शाश्वतं।
आराधयन्ति ये तेषां रागस्तिष्ठति दूरतः॥ **सात्वत संहिता**, 1.24

रिक्त कालान्तर में अर्चा एवं अन्तर्यामी भी जुड़ गये। अहिर्बुध्न्य-संहिता में पंचविध स्वरूप का स्पष्ट निर्देश है। व्यूह उन्ही में से एक है और परात्पर स्वरूप के जो चतुरात्मक स्वरूप मिलते हैं, उन्हें ही वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न एवं अनिरूद्ध, इन चार नामों से जाना जाता है। "वैष्णव आचार्यों का कहना है कि व्यूह शब्द के उच्चारण मात्र से चतुर्धा विभक्त परब्रह्म का बोध करना चाहिए। तात्पर्य यह है कि व्यूह से ब्रह्म के चतुर्विध रूप का बोध होता है। यहीं "पर" का चातुरूप्य है, जिसके विषय में सात्वत, पौष्कर एवं जयाख्य अर्थात् रत्नत्रय एवं ईश्वर, पाद्म, वृहद्ब्रह्म, विष्वक्सेन, नारदीय, विश्वामित्र, मार्कण्डेय, पराशर एवं लक्ष्मी-तंत्र इत्यादि संहिताओं में विस्तार से वर्णन मिलता है।

विवेच्य अध्याय के अगले पृष्ठों में व्यूह के विवेचन के प्रसंग में पाञ्चरात्रागमों में वर्णित चतुर्व्यूह (वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध) के स्वरूपादि का परिचय अपेक्षित है।

षाड्गुण्य ब्रह्म एवं चतुर्व्यूह

ब्रह्म को षड्गुणों से सम्पन्न माना गया है।[1] उन्हें भगवान कहा जाता है, तो उसका सामान्य अर्थ है भगयुक्त और विशेष अर्थ है छः प्रकार के ऐश्वर्यादि गुणों से युक्त। पाञ्चरात्र परम्परानुसार परम ब्रह्म वासुदेव को षड्गुणों से युक्त माना गया है। ये सभी गुण वासुदेव में निहित माने गये हैं। परमब्रह्म व्यूह भेद से चतुर्धा विभक्त हो जाता है अतः वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न एवं अनिरूद्ध—इन चार नामों से जाना जाता है। वासुदेव स्वयं सभी षड्गुणों से युक्त हैं। संकर्षण ज्ञान एवं बल का प्रतिनिधित्व करता है। प्रद्युम्न ऐश्वर्य एवं वीर्य का तथा अनिरुद्ध शक्ति एवं तेज का प्रतिनिधित्व करता है।[2] संकर्षण प्रलयकर्त्ता, प्रद्युम्न सृष्टिकर्ता है और अनिरुद्ध स्थिति का प्रतीक है। शास्त्र-संदर्भ में प्रवचन-कर्ता संकर्षण है, प्रवर्त्तनकर्त्ता प्रद्युम्न है और शास्त्रार्थ-फल का

---

1. षाड्गुण्यविग्रहं देवं भास्वज्जवलनतेजसम्।
   सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतो क्षिशिरोमुखम्॥ **सात्वत सं०**, 1.25
2. तत्रतद्गुणयुग्मं तु मम रूपतयोच्यते।
   अतो ज्ञानबले देवः संकर्षण उदीर्यते॥
   ऐश्वर्यवीर्ये प्रद्युम्नोऽनिरुद्धः शक्तितेजसी।
   आद्यस्त्वभिन्नषाड्गुण्यो ब्रह्मतत्वापृथक्स्थितौ॥
   लक्ष्मी तन्त्र, 2.53-54

निर्वाह-कर्त्ता अनिरुद्ध ।[1] कल्प के भेद से प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध के कार्यों में भेद आ जाता है, तब अनिरुद्ध सृष्टिकर्त्ता और प्रद्युम्न पालन कर्त्ता हो जाते हैं, तथा संकर्षण प्रलय कर्त्ता होते हैं ।[2] इन चारों व्यूहों को दिव्य माना जाता है और उनकी शक्तियां क्रमशः लक्ष्मी, कीर्ति, जया एवं माया कही गयी हैं ।[3]

पाञ्चरात्रागमों की प्रधान त्रिरत्न संहिताओं तथा त्रिरत्नेतर सहिताओं में व्यूह-परम्परा का यथाक्रम वर्णन इस प्रकार है ।

पाञ्चरात्रागमों में चतुर्व्यूह विषयक सामग्री

पाञ्चरात्र वाङ्मय में आरम्भ से ही व्यूह-सिद्धान्त का और चतुर्व्यूहों का प्रवर्त्तन किया गया है । निश्चय ही यह इस परम्परा का मौलिक सिद्धांत है । रत्नत्रय कही जाने वाली संहितायें आरम्भिक मानी जाती हैं अतः सर्व प्रथम हम उनमें उपलब्ध एतद्विषयक सन्दर्भों पर विचार करेंगे । ज्ञातव्य है पौष्कर संहिता का 7वां अध्याय "व्यूह-लक्षण" नाम से प्रसिद्ध है । यहां पद्म-मण्डल प्रतीकों के रेखांकन आदि का वर्णन है । इसी प्रसंग में व्यूह-प्रतीकों पर विस्तार से चर्चा हुई है ।[4] जयाख्य संहिता के 31वें पटल को 'उपांग साधन' कहा गया है जहां उपांग-मंत्रों के वर्णन-क्रम में वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध के मंत्र-साधन-प्रकारों का वर्णन किया गया है ।[5] सात्वत संहिता के आरम्भ (प्रथम परिच्छेद) में भी **शास्त्रावतरण** के अन्तर्गत सात्वत शास्त्र की महिमा आदि के वर्णनोपरान्त पर, व्यूह एवं विभव नामक ब्रह्म के

1. क्रमशः प्रलयोत्पत्तिस्थितिः प्राण्यनुग्रह ।
   प्रयोजनमथान्यच्च शास्त्रशास्त्रार्थतत्फलैः ॥ **लक्ष्मीतन्त्र**, 2.57
2. सृजते ह्यनिरुद्धोऽत्र प्रद्युम्नः पाति तत्कृतम् ।
   सृष्टं तद्रक्षितं चास्ति स च संकर्षणः प्रभुः ॥ **लक्ष्मीतन्त्र**, 4.19
3. लक्ष्मीः कीर्तिर्जया माया देव्यस्तस्याश्रितास्तदा ।
   स्वशक्ति निचयोपेता निकारास्तु निष्कलाः ॥ **जयाख्य संहिता**, 6.77
   अङ्गप्रत्यङ्गबुद्धयादिर्नैषां भूतमयः स्मृतः ।
   षाड्गुण्यमयएवैषां दिव्यो देहः सनातनः ॥ **लक्ष्मीतंत्र**, 4.22
4. द्रष्टव्य, **पौष्कर संहिता**, सप्तम् अध्याय, विशेषतः 7, 110—173
5. द्रष्टव्य, **जयाख्य संहिता**, 31.9-13, (वासुदेव मंत्र साधन प्रकारः), 31.14-21 (संकर्षण मंत्र साधन प्रकारः), 31, 22-30 (प्रद्युम्न मंत्र साधन प्रकारः) तथा 31.31-38 (अनिरुद्ध मंत्र साधन प्रकारः) ।

त्रिविध स्वरूपों की ओर संक्षेप में संकेत हैं।[1] यहाँ प्रसंगत: संकर्षण श्री भगवान से ब्रह्म-लक्षण के उपाय पूछते हैं जिसके उत्तर में श्री भगवान षाड्गुण्य विग्रह देव के भास्वर एवं तेज सम्पन्न स्वरूप का करने हुए कहते हैं—

षाड्गुण्यविग्रहं देवं भास्वज्जवलनतेजसम् ।
सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ॥
परमेतत् समाख्यातमेकं सर्वाश्रयं प्रभुम् ।
एतत्पूर्वं त्रयं चान्यज्ज्ञानाद्यैर्भेदितं गुणैः ॥

सात्वत सं०, 1, 25-26

उपर्युक्त मंत्र में 'त्रयं' शब्द की व्याख्या करते हुए सात्वत संहिता के भाष्यकार अलशिंग भट्ट ने अपने भाष्य में संकर्षण, प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध—इन तीन के नाम तथा वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध के चतुष्ट्व को स्पष्ट करते हुए इन्हें ही व्यूह संज्ञक निःश्रेयस फलप्रद एवं मोक्षप्रद ब्रह्म बताया है।[2] सात्वत संहिता के इसी प्रसंग में वासुदेव के ज्ञानादि गुण भेदों से युक्त परमेश्वर के स्वरूप की ओर संकेत किया गया है।[3] इस प्रकार व्यूह के सन्दर्भ में त्रिरत्न समझी जाने वाली तीनों ही प्रमुख संहिताओं में वर्णन मिलता है।

त्रिरत्नेतर ईश्वर, पाद्म, वृहद्ब्रह्म, नारदीय, विष्वक्सेन, विश्वामित्र आदि अनेक संहिताओं में भी व्यूह के अभिप्राय चतुर्व्यूह स्वरूप, चतुर्व्यूह मूर्तियां, उनके ध्यान, मंत्र, वर्ण इत्यादि के वर्णन प्राप्य हैं। वृहद्ब्रह्म संहिता के तृतीय पद में एक स्थल पर कहा गया है कि स्वयं हरि दिव्य गोलोक में रमण करते हैं।[4] इसी प्रसंग में आगे गोलोक नामक विभव स्थान से परे नारायण के वैकुण्ठ स्थान की चर्चा है जिस अनन्त पार स्थान को श्रीरंग मंदिर से जोड़ा गया है और इस नारायणात्मक स्थान की ख्याति वेंकटाद्रि रूप में निर्दिष्ट है। इसी के आगे वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध के स्वरूप एवं स्थिति का वर्णन है।[5] पुनः परम धाम श्वेतद्वीप में स्थित सुरम्य क्षीर सागर के जलावरण मध्य

---

1. **सात्वत संहिता**, 1.17-28
2. इति वक्ष्यमाणप्रकारेण तत्सद्गुणभेदितम् अन्यत् त्रयं संकर्षणप्रद्युम्नानिरुद्ध-त्रयम्। एवं च वासुदेवसंकर्षणप्रद्युम्नानिरुद्धचतुष्टयम्। व्यूहसंज्ञं तद् ब्रह्म सद् निःश्रेयसफलप्रदं मोक्षफलप्रदं च सद् विद्धि। **सात्वत संहिता**, 1.26 पर अलशिंग भट्ट का भाष्य।
3. **सात्वत संहिता**, 3.6-7
4. गोलोके रमते दिव्ये नित्यमेव हरिःस्वयम्। **वृहद्ब्रह्म संहिता**, 3.2.52 अ
5. तत्रैव, 3.2.53-78

में स्थित वैकुण्ठ अर्थात् विष्णु लोक का वर्णन करते हुए साक्षात् परमेश्वर विष्णु का कथन है कि इस प्रकार चतुर्धा रूप में व्यूह मेरे ही द्वारा प्रकट किया गया है।[1]

नारदीय संहिता में पाञ्चरात्र महिमा के साररूप वर्णन तथा सृष्टि की पूर्व स्थिति के प्रसंग में एकाकी वासुदेव के स्वरूप और उसकी क्रीड़ा के निमित्त विग्रहोत्पत्ति का वर्णन किया गया है।[2] इसी प्रसंग में वासुदेव प्रादुर्भाव-क्रम और उसके स्वरूपादि का वर्णन तदनुसार शुक्ल तेजोमय सूक्ष्म करोड़ों सूर्य की प्रभा से मण्डित तमोमय विष्णु के व्यक्तित्व से विनिष्क्रान्त वासुदेव श्वेत वर्ण के चतुर्बाहु धारी परमेश्वर कहे गये हैं।[3] पुनः वासुदेव ने अपने सूक्ष्म शरीर से

1. वैकुण्ठं परमो लोकौ विष्णुलोकस्त्वनुत्तमः।
   श्वेतद्वीपं सुरम्यं तु क्षीरसागर उत्तमः॥
   एवं चतुर्धा व्यूहस्तु मयैव प्रकटीकृतः।
   जलावरणमध्ये तु वैकुण्ठं प्रथमं स्मृतम्॥ **बृहद् ब्रह्म सं०**, 3.2, 79-80
2. श्रृणु गौतम वक्ष्यामि ज्ञानं परममुत्तमम्॥
   ज्ञानकर्मसमायुक्तं कैवल्यैकफलं महत्।
   त्रैवर्गिकसमायुक्तं वर्णाश्रमसमन्वितम्॥
   अनेकसिद्धिसंयुक्तं परमार्थविनिर्णयम्।
   संहारसृष्टिसंयुक्तं यागभेदसमन्वितम्॥
   इदं तन्त्रमशेषेण श्रोतुं वक्तुं न शक्यते।
   तस्मात् सारमुपाहृत्य वक्ष्यामि हितकाम्यया॥
   श्रोतव्यं यत्त्वित्तेन विधिना तत्वयाधुना।
   महत्येव जगत्येव जगत्यस्मिन् निरालोकेऽतिगह्वरे।
   × × ×
   सत्त्वस्थस्य सुखं दिव्यं सत्त्वस्थस्य परं पदम्।
   सत्त्वेन विधिना सिद्धिः सत्त्वं त्वमृतमाहितम्॥
   सत्त्वमृद्धिर्द्युतिर्मेधा तेजोधीर्महिमा तथा।
   तस्मात्सद्वैष्णवः सत्त्वमाश्रयेन्न रजस्तमः॥
   नारदीय संहिता, 1.21-32
3. शुक्लस्तेजोमयः सूक्ष्मः सूर्यकोटय्युतप्रभः।
   तस्माद्विष्णोर्विनिष्क्रान्तः भित्वा सर्वं तमोमयम्॥
   स्थिरः सर्वमिदं प्राप्य नयज्ञः परमेश्वरः।
   स वासुदेवो भगवान् श्वेतवर्णश्चतुष्कलः॥
   नारदीय संहिता, 1, 33-34

संकर्षण को व्युत्पन्न किया जिन्हें रक्त वर्ण वाला बताया है ।[1]

संकर्षण के प्रादुर्भाव-क्रम में प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध की सृष्टि का वर्णन है। यहां प्रद्युम्न को शंख, चक्र, गदा, पाणि, विश्वात्मा भुवनेश्वर कहा गया है जिनका सृजन वासुदेव के आश्रय से भीषण तपस्योपरान्त संकर्षण ने किया था और प्रद्युम्न ने तपस्योपरान्त स्वदेहार्ध से अनिरुद्ध का सृजन किया जिन्हें चतुर्बाहु सर्वलोकेश्वर प्रभु कहा गया। उन्हें ही योगीश्वर भी कहा गया ।[2] यहाँ उन चतुर्मूर्त्तियों को वासुदेवात्मिका कहा गया है—**चतस्रो मूर्तयस्त्वेताः वासुदेवात्मिकाः मताः** ।[3]

इस प्रकार नारदीय संहिता में वासुदेव के प्रादुर्भावक्रम के अन्तर्गत प्रसंगतः संकर्षण शब्द का निर्वचन और इसी प्रसंग में चतुर्व्यूहों की उत्पत्ति का वर्णन मिल जाता है। बृहद्ब्रह्म संहिता में भी वासुदेवादि व्यूहों के स्वरूप एवं उनकी उत्पत्ति के वर्णन मिलते हैं ।[4]

रोचक बात यह है कि शाण्डिल्य संहिता के भक्तिकाण्ड के चतुर्थ अध्याय में चतुर्व्यूहों की उत्पत्ति विषयक भिन्न दृष्टिकोण मिलता है तदनुसार परमेश्वर नारायण ने क्षीर-सिन्धु में स्थित होकर अपनी माया के द्वारा काल-क्रमानुरूप सर्ग-कर्म (सृष्टिक्रम) चतुर्भुज स्वरूप धारण किया। तदनुसार

1. आकृष्य तु स्वकाद्देत् संकर्षणमजीजनत् ॥
 स संकृष्टशरीरत्वात् संकर्षण इति स्मृतः ॥
 पुरुषो रक्तवर्णश्च संकर्षाख्यश्चतुष्कलः ॥ **नारदीय सं०**, 35-36
2. प्रद्युम्नमसृजत्सोऽपि तद्ब्रह्मेति प्रकीर्तितम् ।
 तृतीया प्रद्युम्नमूर्तिः पुरुषश्च सनातनः ॥
 शंखचक्रगदापाणिः विश्वात्मा भुवनेश्वरः ।
 तस्य प्रद्युम्ननाथस्य सृष्टं मूर्त्यन्तरं ततः ॥
 यत्नस्तदा महानासीत् तपसे निश्चितात्मनः ।
 तपसोऽन्ते च देहार्धादनिरुद्धमथासृजत् ॥
 अनिरुद्धश्चतुर्बाहुः सर्वलोकेश्वरः प्रभुः ।
 सोऽपि योगीश्वरो योगी तपसा महता युतः ॥
 क्षीरोदशायी भगवान् नागपर्यङ्कगः प्रभुः ।
 महेन्द्रनीलसङ्काशो द्विपंचरविभास्वरः ॥ **तत्रैव**, 38-42
3. **नारदीय संहिता**, 1.47 एवं आगे चतुर्मूर्ति प्रतिष्ठाधिकार वर्णन है, द्रष्टव्य, 1.47-49
4. **बृहद्ब्रह्म संहिता**, 1.13, 100-108

वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध स्वरूप होकर जगत के संकट निवारणार्थ विष्णु नारायण का प्रादुर्भाव हुआ ।[1] और इसी क्रम में आगे सृष्टि-क्रम का वर्णन इस अध्याय में मिलता है ।[2]

विश्वामित्र संहिता के चतुर्थ अध्याय में काश्यप-विश्वामित्र संवाद रूप में वासुदेवादि-मूर्त्ति-उत्पत्ति का वर्णन है । काश्यप के यह पूछने पर कि भगवत् शब्द का क्या अर्थ है और भगवान कैसे हैं ? (**किमर्थो भगवच्छब्दः कीदृशो भगवांश्च सः** 4.1) । विश्वामित्र ने विस्तारपूर्वक एतद्विषयक वर्णन किया । तदनुसार ज्ञानादि षड्गुणों की अभिव्यक्ति "भग" शब्द में होती है और उससे युक्त भगवान कहे जाते हैं ।[3] इसी प्रसंग में आगे भगवान वासुदेव से व्युत्पन्न अन्य तीन व्यूहों संकर्षण प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध से स्वस्वरूप का वर्णन किया गया है ।[4]

वासुदेवात् ततो जज्ञे संकर्षणसमाह्वयः ।
तस्मात् प्रद्युम्नसंभूतिरनिरुद्धस्ततोऽभवत् ॥

लक्ष्मी तंत्र के शुद्ध प्रकाश नामक द्वितीय अध्याय[5] में वासुदेवादि चार व्यूहों के प्रादुर्भाव और उसके द्वारा शुद्ध सृष्टि-प्रक्रिया का वर्णन है और इन्हें क्रमशः प्रलय, उत्पत्ति, स्थिति रूप मानकर प्राणियों के आग्रह का प्रतीक कहा गया है[6]—

क्रमशः प्रलयोत्पत्तिस्थितिभिः प्राण्यनुग्रहः ।
प्रयोजनमथान्यच्च शास्त्रशास्त्रार्थतत्फलैः ॥

लक्ष्मी तन्त्र के तृतीय अध्याय में त्रैगुण्य प्रकाश पर बल देते हुए तीन व्यूहों एवं भगवान के पर स्वरूप, इस प्रकार चतुर्व्यूहों की दार्शनिक मीमांसा की गयी है ।[7] पुनः इस तन्त्र के चतुर्थ अध्याय में वासुदेव एवं उनके षड्गुणों

---

1. **शाण्डिल्य संहिता**, 1.4, 15-22
2. द्रष्टव्य, तत्रैव, भक्ति खण्ड, चतुर्थ अध्याय
3. द्रष्टव्य, **विश्वामित्र संहिता**, 4.6-19
4. तत्रैव, 4.15
5. **लक्ष्मी तंत्र**, 2.1-61
6. **तत्रैव**, 2.57, तुलनीय 3.9
7. **तत्रैव**, 4.1-37

से व्युत्पन्न अन्य तीन व्यूहों का वर्णन है।[1] यथा—

अतरङ्गार्णवाभासमस्ताम्भोदाम्बरोपमम् ।
मम सिसृक्षमाणाया वासुदेवो ममादिमम् ॥
ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यवीर्यतेजांस्यशेषत: ।
उन्मिषन्ति यदा तुल्यं वासुदेवस्तदोच्यते ॥
तेषाँ ज्ञानबलोन्मेषे संकर्षण उदीर्यते ।
बिभर्ति सकलं विश्वं तिलकालववत्स्वत: ॥
बलमित्येव तन्नाम ततो वेदान्तशब्दितम् ।
वीर्येश्वर्यसमुन्मेषे प्रद्युम्न परिकीर्त्तित: ॥
विकार विरहो वीर्यमविकारी ततश्च स: ।
शक्तितेज: समुन्मेषे ह्यनिरुद्ध: स ईरित: ॥
तेजस्त्वन्यानपेक्षत्वमनिरूद्धत्वमप्युत ।
शास्त्रं संकर्षणादेव भाति निर्घातशब्दवत् ॥
तत्क्रिया सकला देवात्प्रद्युम्नात् संभवेद्यत: ।
क्रियाफलमशेषं तदनिरुद्धात्प्रचक्षते ॥
सृजते ह्यनिरुद्धोऽत्र प्रद्युम्न: पाति तत्कृतम् ।
सृष्टं तद्रक्षितं चात्ति स च संकर्षण:प्रभु: ॥
सृष्टिस्थित्यन्तकार्येण शास्त्रधर्मफलेन च ।
अनुग्रहमिमे देवा: सदा विदधते स्वयम् ॥
यद्यप्येकगुणोन्मेषस्तथाप्येते हि षड्गुणा: ।
अन्यूनानधिका: सर्वे वासुदेवात्सनातनात् ॥
अङ्गप्रत्यङ्गबुद्धयादिर्नैषां भूतमय: स्मृत: ।
षाड्गुण्यमय एवैषां दिव्यो देह:सनातन: ॥
वस्तु पूर्वं ततो भाव: पश्चादर्थस्तत: क्रिया ।
चातुरुप्यमिदं ज्ञेयं सर्वभावेषु सर्वदा ॥
वासुदेवादिरूपेण चतुर्धात्मानमात्मना ।
संविभज्यावतिष्ठेऽहं सर्वमावृत्य संविदा ॥
वासुदेवादयो देवा: प्रत्येकं तु त्रिधा त्रिधा ।
केशवादिस्वरूपेण विभजन्ति स्वकं वपु: ॥
एतद्व्यूहान्तरं नाम पञ्चरात्राभिशब्दितम् ।
कार्यस्य नयने देवा द्वादशैते व्यवस्थिता: ॥

1. **लक्ष्मी तन्त्र,** 4.12-22 तथा 25-28, इसके सन्दर्भ में लक्ष्मी तंत्र का 10वां एवं 51यां अध्याय भी द्रष्टव्य है।

विष्वक्सेन संहिता के वर्णायुधविन्यासविधि नामक 11वें अध्याय में परमात्मा स्वरूप ब्रह्म और उनसे व्युत्पन्न चतुर्व्यूहों के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। इसमें वासुदेव को चतुर्बाहु एवं सर्वालंकार संयुक्त बताया गया है। इनके दक्षिण भाग के ऊर्ध्वहस्त में चक्र और अधोहस्त में पद्म बायें भाग के ऊर्ध्व हस्त में शंख तथा अधोहस्त में गदा सुशोभित है। इसी तरह पीत वस्त्रधारी चतुर्बाहु, सर्वालंकार भूषित संकर्षण के दाहिने हाथ में चक्र एवं मूसल और बायें हस्त में शंख एवं पुण्डरीक विराजता है। प्रद्युम्न को पीताम्बरधारी चतुर्बाहु सर्वालंकार युक्त बताया गया है जिनके दाहिने हस्त में पद्म एवं कौमोदकी और बायें हाथ में शंख एवं चक्र विराजता है तथा अनिरुद्ध को उक्त देवों के समान ही चतुर्बाहु सर्वालंकार विभूषित बताते हुए कहा गया है कि उनके बायें हाथ में शंख एवं गदा तथा दाहिने में चक्र तथा निचला हाथ अभय मुद्रा में है और उन्हें जगन्नाथ तथा अनन्त के ऊपर शयन करनेवाला कहा गया है।[1]

विष्वक्सेन संहिता के इसी अध्याय में अन्यत्र वासुदेव को सनातन परोदेव आदिमूर्ति, संकर्षण को परामूर्ति और प्रद्युम्न को तृतीय सनातनी मूर्ति और चतुर्थ मूर्ति की अनिरुद्ध संज्ञा उल्लिखित है। इन चारों मूर्तियों की पृथक् प्रतिष्ठा का वर्णन है तदनुसार ब्राह्मण द्वारा वासुदेव की परामूर्ति, मोक्ष की आकांक्षा रखने वाले क्षत्रियों द्वारा द्वितीय मूर्ति संकर्षण की, मुमुक्षु वैश्यों द्वारा प्रद्युम्न नामक तीसरी मूर्ति की और शूद्रों द्वारा जगद्गुरु अनिरुद्ध मूर्ति की प्रतिष्ठा होनी चाहिए।[2]

---

1. द्रष्टव्य, विष्वक्सेन संहिता, 11.9-25
2. मूर्तीनां लक्षणं लक्ष्ये शास्त्रभेदेन चिह्नितम्।
   आदिमूर्तिः परोदेवो वासुदेवः सनातनः॥
   द्वितीया तु परा मूर्तिः संकर्षण इति स्मृतः।
   प्रद्युम्नाख्या तृतीया तु मूर्तिरेषा सनातनी॥
   चतुर्थी तु भवेन्मूर्तिः अनिरुद्धेतिसंज्ञिता।
   चतस्रो मूर्तयस्त्वेताः प्रतिष्ठायाः पृथक् पृथक्॥
   वासुदेवः परा मूर्तिः स्थापनीया द्विजोत्तमैः।
   द्वितीया स्थाप्यते मूर्तिः क्षत्रियैर्मोक्षिकांक्षिभिः॥
   प्रद्युम्नाख्या तु विप्रेन्द्र वैश्यैः स्थाप्या मुमुक्षुभिः।
   शूद्रैः संस्थाप्यते मूर्तिरनिरुद्धो जगद्गुरुः॥

   विष्वक्सेन संहिता, 11.142-146

ज्ञातव्य है कि ईश्वर, जयाख्य, नारदीय, पाद्म (चर्यापाद) एवं मार्कण्डेय तथा विश्वामित्र आदि संहिताओं में चतुर्मूर्तियों के ध्यान, मंत्र, वर्ण आदि के विवरण मिलते हैं।[1]

पाद्म संहिता के चर्यापाद में यज्ञ 'मूर्त्यादि मन्त्रोद्धार' नामक 28वें अध्याय में वासुदेवादि चतुर्मूर्तियों के विभक्त पदों का स्मरण किया गया है।[2] पौष्कर संहिता में विद्या के लिए नवाब्ज मण्डल[3] और पाञ्चरात्र परम्परा के व्यूहादि निरूपण-संकेत है। यहीं पर पाञ्चरात्र के व्यूह का समीकरण योग से किया गया है[4]—

चतुस्त्रिद्व्यादिकेनैव योगेनाभ्यर्चिते तु वै (नतु)।
संवृताः परिवारेण स्वेन स्वेनान्वि (स्थि) तास्तु वा॥

ध्यातव्य है कि पौष्कर का सप्तम अध्याय व्यूह लक्षण नाम से प्रसिद्ध है और इसे व्यूह सिद्धान्त का महत्वपूर्ण स्रोत कहा जा सकता है।

पाद्म संहिता के क्रिया पाद के 17वें अध्याय में मत्स्य आदिमूर्ति लक्षण वर्णित है। इसका 18वां अध्याय भी इस दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है जहां अन्त में एक, द्वि, त्रि, चतुः एवं पंच मूर्तियों की प्रतिष्ठा विधि वर्णित है।[5] यहाँ वासुदेव को नारायण और 'पर' संज्ञा देते हुए एक मूर्ति कहा गया[6] है—**एक मूर्तिवासुदेवो यदा नारायण परः।**

पाद्म संहिता के चर्यापाद में संकर्षणादि मूर्तियों के मंत्र मिलते हैं।[7] परा-

---

1. द्रष्टव्य, **ईश्वर संहिता**, 24.130-146, **जयाख्य**, पटल 31.9-38, **नारदीय**, 1.33 ब, 51, 3.1-24, 15.2-89, **पाद्म सं०** (चर्यापाद), 26.57-69, **मार्कण्डेय**, 5.24-26, **विश्वामित्र**, 7.23-25
2. गरूडादिपदं पश्चाद्वासुदेवपदं ततः।
   तद्विभक्तिश्च नत्यन्तं वासः पीतादि तादृशम्॥
   सम्पूर्ण कर्षणपदं सम्बुध्द्यन्तमनन्तरम्।
   प्रद्युम्नाद्यनिरुद्धं च तद्विभक्तिपदं स्मृतम्॥
   पाद्म संहिता, (चर्यापाद) 28.169-170।
3. **श्रीपौष्कर संहिता**, 19.75-140
4. **तत्रैव**, 38.301-309
5. **पाद्म संहिता**, क्रियापाद, 18.56-71
6. एकमूर्तिर्वासुदेवो यद्वा नारायणः परः। **तत्रैव**, 18.56
7. **तत्रैव**, चर्यापाद, 26.57.69

शर संहिता में संकर्षण, वासुदेव, प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध के मंत्र मिलते हैं।[1] मार्कण्डेय संहिता में आठवां अध्याय प्रतिमा लक्षण है। जहाँ प्रारम्भ में ही चतुर्व्यूह का वर्णन है।[2] अहिर्बुध्न्य संहिता के 52वें अध्याय में विष्णु आदि मन्त्रार्थ निरूपण का वर्णन है जहां वासुदेव मंत्र का सूक्ष्मार्थ निरूपण भी विस्तार से देखा जा सकता है।[3] यहीं वासुदेव, संकर्षण आदि चतुर्व्यूहों की चर्चा है। वासुदेव शब्दार्थ निरूपण इस प्रकार किया गया है।

छादयत्यखिलं स्वेन ज्ञानानन्दामलात्मना।
यथा च वह्निनाविष्टमिन्धनं तन्मयं भवेत्॥
एवमाच्छादितं तेन विश्वं तन्मयमेव तत्।
वसत्यस्मिन् यतो विश्वं तत्रापि च वसत्ययम्॥
वासुशब्दार्थ उद्दिष्टो वा गन्ता परिकीर्त्यते।
तन्तुवत् सकलार्थेषु संतनोतीति वाः स्मृतः॥
प्रसूयतेऽखिलान् भावान् सौति प्रेरयतीत्यपि।
मखेष्वभिष्टुतः सद्भिरिति स्वर्थोऽयमुच्यते॥—52.64-67

श्रीप्रश्न संहिता में अवतारों को असंख्य कहते हुए दस प्रमुख अवतारों एवं चतुर्व्यूहों का वर्णन है।[4] हयशीर्ष संहिता के 18वें अध्याय में प्रतिमा लक्षण के अन्तर्गत वासुदेव आदि को मूर्तियों पर प्रकाश डाला गया है।[5] इसके अतिरिक्त इसी के 24वें अध्याय में आदिमूर्ति वासुदेव आदि नव व्यूह प्रतिमा-लक्षण भी वर्णित है। ध्यान देने की बात यह है कि व्यूहों की संख्या सामान्य रूप से चार है, किन्तु यहाँ नौ व्यूह कहकर व्यूहवाद का असामान्य परिचय दिया गया है। इसकी तुलना पौष्कर संहिता के एक प्रसंग से अवश्य की जा सकती है जहां ब्रह्म के चतुर्व्यूहों समेत नौ स्वरूप उल्लिखित हैं।[6] यहां परमेश्वर की मूर्तियों के अर्चन-क्रम का वर्णन इस प्रकार किया गया है—

अनुज्झितस्वरूपस्य देवस्य चतुरात्मनः।
केवलस्यार्चनान्मोक्षं भवते तद्द्विधार्चनात्॥
नानाफलाप्तये ब्रह्मन्नानारूपधरस्य च।
नानात्वेनार्चनं भूयः शृणु सम्यग्यथास्थितम्॥

---

1. **पराशर संहिता,** 13.88-111
2. **मार्कण्डेय संहिता,** 8 1-2
3. **अहिर्बुध्न्य संहिता,** 52.59-85
4. **श्रीप्रश्न संहिता,** 46.37-58
5. **हयशीर्ष पञ्चरात्र,** (आदिकाण्ड), 18.51
6. **तत्रैव,** द्रष्टव्य, 24वां अध्याय, तुलनीय **पौष्कर संहिता,** 33

व्यापकं परमात्मानमादिदेवमधोक्षजम् ।
प्रागर्चनीयं सर्वत्र पूजान्ते चापि मध्यतः ॥
ततः प्रभवयोगेन प्राक्पत्रादि समर्चयेत् ।
चतुष्कं संकर्षणाद्यं ब्रह्मान्नारायणान्तिम (क)म् ॥
पुनरप्ययययोगेन बन्ध्याधीशपदावधि ।
नारायणाद्यं यष्टव्यं संकर्षणान्तमेव हि ॥
एवमाग्नेयपद्मे तु प्रद्युम्नार्थं चतुष्टयम् ।
शब्दब्रह्मादिदेवान्तमर्चनीयं सदैव हि ॥
दक्षिणे त्वनिरुद्धाद्यं गरुडासनपश्चिमम् ।
विहितं चैव विन्यासं प्रभवाप्ययलक्षणम् ॥
नारायणनृसिंहान्तं रक्षःपद्मेऽर्चयेत्ततः ।
प्रत्यग्दिक्संस्थिते पद्मे ब्रह्माद्यं क्ष्माधरान्तिमम् ॥
संकर्षणावसानान्तं विष्ण्वाद्यं मारुतेऽम्बुजे ।
नृकेसरि वराहं च ज्ञानाद्योदक्क्युदक् ॥
त्रयं संकर्षणाद्यं यत् ईशाने क्ष्माधरादिकम् ।
प्रभवेनाप्ययेनैव माननीयमतः क्रमात् ॥
नवसंख्यमिदं विप्र प्रथमं यत्प्रकीर्तितम् ।
तदीयं जायते तस्य प्रभाव तत्क्रमार्चनात् ॥
... ... नवमूर्तिमयं महत् ।
चातुरात्म्यचतुर्वर्गफलदं भावितात्मनाम् ॥

पौष्कर संहिता, 33.2-13.

इस प्रकार व्यूह-सिद्धान्त एवं वासुदेवादि चतुर्व्यूहों के स्वरूप एवं ध्यान, मंत्रादि विषयक प्रसंग त्रिरत्न एवं अन्य अनेक संहिताओं में उपलब्ध हैं तदनुसार वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध के स्वरूप पर अलग-अलग संक्षिप्त विवेचन अपेक्षित है ।

1. वासुदेव

पाञ्चरात्र विचार और व्यवहार में "पर" ब्रह्म का व्यूहावतार एक मौलिक कल्पना है जिसमें वासुदेव प्रथम व्यूह है । संहिताओं में वासुदेव के गुणों व उसके स्वरूप आदि का वर्णन मिलता है, यह भी कि वासुदेव अपने को चतुर्धा विभक्त करता है । यह षड्गुणों (ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य तथा तेज) से सम्पन्न होता है । इस तरह षाड्गुण्य परम ब्रह्म भगवान वासुदेव सगुण सृष्टि के आदि कारण माने गए हैं जिन्हें स्मार्त परम्परा में स्वयंभू भी कहा

गया है। दार्शनिक दृष्टि से वासुदेव एकमेव एवं अद्वितीय हैं। ज्ञानी लोग उस निर्गुण स्वरूप को विविध अभिधानों से अभिहित करते हैं। नित्य गुणातीत मूर्ति की संज्ञा ही वासुदेव है। वह सत् और असत्, दूर और निकट दोनों ही द्वन्दों से परे है और मूर्ति रूप में सगुण भक्तों के लिए उपास्य हैं।

वासुदेव के स्वरूप का वर्णन करते हुए ईश्वर संहिता (24.72-83) में कहा गया है कि वासुदेव का सगुण स्वरूप अवतार रूप में विश्व कल्याण के लिए होता है। अतः इसी संहिता में पूर्वोक्त मंत्रों के आधार पर इसका ध्यान करना चाहिए। प्रथमतः इत 'इस मूर्ति' का ध्यान उत्तम है जो अनन्त देवताओं के समन्वित स्वरूप में ध्येय है क्योंकि यह (वासुदेव) 'पर' जगन्नाथ है।[1]

ईश्वर संहिता के वर्णन के अनुसार ही वासुदेव के दोनों हाथों में वरद और अभय के प्रतीक शंख और चक्र त्रैलोक्य को धारण करने वाले हैं।[2] उनका अमूर्त्त रूप मूर्तित होकर शांति संवित् स्वरूप में भक्त पर अनुग्रह करने वाला है।[3] उनका स्वरूप पूर्ण चन्द्र के समान है, विश्व में जिसकी कांति व्याप्त है, जो अच्युत रूप में सुधा कल्लोल से संकुल है, पूर्ण आभूषणों से समलंकृत है, जिसका विग्रह निर्विकार है। उस सुषुप्त व्यूह का ध्यान हृदय में करना चाहिए। यह वासुदेव ब्रह्म समवलिताकृत रूप में स्वयं वेद भगवान हैं, जो स्वयं जगत-कल्याण के लिए ब्रह्म योगियों के कर्म के रूप में मान्य हैं। वे गुण-भेद से लांगलिन हैं।[4] यह वासुदेव पर प्रभु है और अपने को विभिन्न रूपों में रूपान्तरित करता है तथा अनुझित स्वरूप में प्राक् कालीन षड् गुणात्मक है। यद्यपि अरूपी भगवान व्यूहात्मा रूप में गुण लक्षणों से युक्त होता है।[5]

व्यक्त रूप में वासुदेव, भगवान रूप में हिच, कुन्द, इन्दु की शांति के

---

1. सेनेदं मुद्रितं विश्वं पुनर्भवति सिद्धिदम्।
   अथ प्रागुक्तमन्त्राणां ध्यानं वक्ष्ये क्रमाद्द्विजाः॥
   प्रथमं त्वकेमूर्तेर्वै शृणुध्वं ध्यानमुत्तमम्।
   ध्येयः परो जगन्नाथो देवोनन्तसमन्वितः॥
   ईश्वर संहिता, 24.72-73
2. वरदाभयदेनैव शंखचक्राङ्कितेन तु।
   त्रैलोक्योद्धृत्तिदक्षेण युक्तः पाणिद्वयेन तु॥ **ईश्वर सं०**, 24.74
3. शान्तः संवित्स्वरूपस्तु भक्तानुग्रहकाम्यया।
   अनौपम्येन वपुषा ह्यमूर्तो मूर्त्तताङ्गतः॥ **तत्रैव**, 24.75
4. **तत्रैव**, 24.76-83
5. **तत्रैव**, 24.117-120

समान हैं। सौम्य सुख, पुण्डरीकाक्ष, चतुर्भुज, पीत-कौशय वसन वाले, सुवर्ण-ध्वज से सुशोभित, भयपीड़ितों को अभय प्रदान करने वाला दक्षिण हस्त अभय मुद्रा में, वाम हस्त में विद्या क्रोश का संग्रहीत प्रतीत शंखराठ् (विराट्) तथा अन्य दो हाथों में से पीछे दाहिने हाथ में चक्र तथा वसुधातल से स्पर्शित वाम हस्त में गदा सुशोभित स्वरूप वाले, सिंदूर शिखर के समान मुख वाले चतुर्भुज वासुदेव के स्वरूप की आराधना करनी चाहिए।[1]

ईश्वर संहिता में वासुदेव के स्वरूप का वर्णन अन्यत्र भी किया गया है। तदनुसार महान वासुदेव के परम्परागत स्वरूप का उल्लेख है। वृहद् ब्रह्म संहिता में लिखा है कि चतुर्भुज रूप में वासुदेव अति विख्यात है। चक्रायुध से संयुक्त वासुदेव का स्वरूप सृष्टि के निशामय कृत्य का प्रतीक है और पद्म सृष्टि के पुनः प्रवर्तन का प्रतीक है। पाञ्चजन्य शंख मुक्ति का, गदा संहृत्ति का, मयूर वर्ण वच्छता का, पीत वर्ण नैसर्गिक आकाश का प्रतीक है। वासुदेव का स्वरूप स्फुरित मुकुट, केयूर, श्री मंजीर से मण्डित है। यही वासुदेव भगवान सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति, मुक्ति के प्रदाता हैं। यह चतुर्मुखी नारायण वासुदेव द्विधा रूप में विभक्त होकर व्यूह रूप में संकर्षण, प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध को चतुर्भुज रूप में उत्पन्न करते हैं।[2]

---

1. मध्ये पाग्दक्षिणस्यां च सितरक्तेन तेजसा।
   वासुदेवो जगन्नाथो भावनीयो महामते॥ **ईश्वर सं०**, 24.133
2. वासुदेवेतिविख्यातं ततो न्यत्समपद्यत।
   वासुदेवाभिधः सोऽपि ह्येक्वक्रश्चतुर्भुजः॥
   चक्राद्यायुधसंयुक्तस्तस्य कृत्यं निशामय।
   स्थित्यै चक्रं सरसिजं दधानं सृष्टये पुनः॥
   मुक्तये पाञ्चजन्य च गदां संहृतये तथा।
   मयूरवर्णवच्छ्यामः पीतनैसर्गिकाम्बरः॥
   स्फुरन्मुकुटकेयूरकाञ्चीमञ्जीरमण्डितः।
   स वासुदेवो भगवान्सृष्टिस्थित्यन्यमुक्तिदः॥
   केनापि हेतुनैवान्मद्वितीयश्च चतुर्मुखः।
   नारायणो वासुदेवस्तृतीयो यद्विधाभवेत्॥
   तयोरेको वासुदेवः शुद्धस्फटिकसंनिभः।
   नारायणेति यः प्रोक्तो नीलाम्बुदसमप्रभः॥
   एतस्माद्वासुदेवात्तु व्यूहोत्पत्ति निशामय।
   संकर्षणो वासुदेवात्तस्मात्प्रद्युम्नसंभवः॥
   वृहद्ब्रह्म संहिता, 13.100- 100

विश्वामित्र संहिता के चतुर्थ अध्याय में वासुदेव के स्वरूप के वर्णन में कहा गया है कि षड्गुणों से सम्पन्न भगवान वासुदेव अनेक सूर्यों की प्रभा से मण्डित हैं। शंख, चक्र, कौस्तुभ, श्रीवत्स, पीताम्बर धारण किये वनमाला विभूषित, क़िरीट, हार, केयूर, कुण्डल से उज्ज्वलित विग्रह रूप में भगवान का हृदय-पद्म में ध्यान करने से मोक्ष प्राप्त होता है।[1] इसी प्रकार मार्कण्डेय संहिता में भी उल्लेख है कि भगवान अपने चतुर्व्यूह के रूपांतरण में वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध के रूप में जाने जाते हैं, साथ ही साथ अपने द्वादश अवतार के रूपों (केशव, नारायण, माधव, दामोदर आदि) में प्रकट होते हैं। इसके अतिरिक्त वह आठ अन्य (चक्रपाणि आदि) रूपों से अभिहित किये जाते हैं।[2]

विष्णु संहिता के षष्ठम् पटल में उल्लेख है कि भगवान बासुदेव को अर्घ्य देकर, क्षमा प्रार्थना कर हृदय में उनका आहरण कर ज्योतिर्मय शंख, चक्र, गदा पद्मधारी देव का ध्यान करना चाहिए। उनका स्वरूप पीतवस्त्र, उदार अंग, सर्वाभरण भूषित शुद्ध स्फटिक वाले चतुर्भुज वासुदेव के स्वरूप को हृदय से संयोजित करना चाहिए।[3]

विष्वक्सेन संहिता के 11वें अध्याय में बासुदेव के स्वरूप के सम्बन्ध में उल्लेख है कि वासुदेव के स्वरूप में आयुध, शंख, चक्र एवं गदा तथा रक्ताम्बर से युक्त, गोक्षीर स्फटिकाकार, श्याम आकृति, पीतवस्त्रधारी, सर्व आभूषण विभूषित, सर्वाङ्ग से सम्पूर्ण, चतुर्बाहु वासुदेव का चिन्तन करना चाहिए। इन

---

1. एकवक्त्रो द्विहस्तश्च शुद्धस्फटिकसंनिभः।
 अयुतादित्यवह्नीन्दुकोटिकोटिसम्प्रभः॥
 तेजोतिरेकाद् दुष्प्रेक्षः शंखचक्रधरः स्वयम्।
 कौस्तुभं वक्षसा विभ्रत श्रीवत्सश्रीनिकेतनः॥
 पीताम्बरधरो नित्यं वनमालाविभूषितः।
 किरीटहारकेयूरकुण्डलोज्ज्वलविग्रहः॥
 एवंरूपो वासुदेवो भगवानित्ति शब्दितः।
 हृत्पुण्डरीकमध्यस्थं यं ध्यायन्ति मुमुक्षवः॥ **विश्वामित्र संहिता,** 4.5-8

2. **मार्कण्डेय संहिता**, 8.1-2

3. अर्घ्यं दत्वा क्षमस्वेति संहृत्य हृदि योजयेत्।
 ध्यायेज्ज्योतिर्मयं देवं शंखचक्रगदाधरम्॥
 पीतवस्त्रमुदारांगं सर्वाभरणभूषितम्।
 शुद्धस्फटिकलंकारो वासुदेवं चतुर्भुजम्॥ **विष्णु संहिता**, 6.64-65

रूपों से संयुक्त वासुदेव से संकर्षण की उत्पत्ति हुई ।[1]

हयशीर्ष संहिता में प्रतिमा-लक्षण के सन्दर्भ में वासुदेव की मूर्ति रूपायन में शास्त्र सम्मत लक्षणों से युक्त प्रतिमा का निर्माण करना चाहिए । जिसमें वासुदेव के स्वरूप का परम्परागत प्रतीकत्व की अभिव्यक्ति हो ।[2]

2. संकर्षण

चतुर्व्यूह में संकर्षण दूसरा व्यूह है। यह 'जीव' का प्रतिनिधित्व करता है—**संकर्षणोनाम जीवः** । संकर्षण और बलराम—यह अभिधान पुरातन काल से ही लोकप्रिय रहे हैं उसमें भी संकर्षण, बलराम और राम यह तीन नाम अधिक प्रसिद्ध रहे हैं ।[3] संकर्षण को बल नाम से भी जाना जाता रहा है—**अतिमित्येव तन्नाम ततो वेदान्तशब्दितम्** ।[4] पतञ्जलि ने संकर्षण और उनके मंदिर का उल्लेख किया है ।[5] इनकी मूर्तियों व मन्दिर सम्बन्धी पुरावशेषों

---

1. वासुदेवस्य वक्ष्यामि रूपं वै चायुधानि ते ।
गोक्षीरस्फटिकाकारं श्यामाकृतिमथापि वा ।
पीतवस्त्रधरं वापि रक्ताम्बरधरं तु वा ।।
शंखचक्रगदाहस्तं सर्वाभरणविभूषितम् ।।
सर्वावयवसंपूर्णं चतुर्बाहुविराजितम् ।
सर्वालंकारसंयुक्तं वासुदेवं विचिन्तयेत् ।।
वक्ष्याम्यस्य तु हेतीनां विन्यासं तु महामुने ।
अस्यदक्षिणहस्ताग्रे चक्रं चाधःस्थितेऽम्बुजम् ।।
वामोर्ध्वे शंखमन्यस्मिन् गदा चास्याप्यधोमुखम् ।
श्रियं तु दक्षिणे पार्श्वे वामेपष्टिं तु विन्यसेत् ।।
तुष्टिं वा वामपार्श्वे तु कारयेन्मुनिसत्तम् ।
एवं जनार्दनस्यापि मूर्तकर्त्तव्यमेव तु ।।
इत्युक्तं वासुदेवस्य शृ ण संकर्षणस्य तु ।
बालसूर्यप्रतीकाशः संकर्षण इतिस्मृतः ।। **विष्वक्सेन सं०**, 11.8-14
2. **हयशीर्ष** सं०, (आदि काण्ड), 18.17, 51, 57, 21.1-4
3. गर्भसंकर्षणात् तं वे प्राहुः संकर्षण भुवि ।
रामेति लोकरमणाद् बलं बलवदुच्छ्र्यात् ।। **भागवत**, 10.2,13
4. **लक्ष्मीतन्त्र**, 4.15
5. संकर्षणाद्वितीयस्य बलं कृष्णस्य वर्धताम् । **महाभाष्य**, 2.2.24
प्रासादेधनपतिराम केशवादीनाम् । **तत्रैव**, 2.2.34

की चर्चा हम अगले पृष्ठों पर करेंगे। पाञ्चरात्र संहिताओं में संकर्षण के जिस ध्येय स्वरूप का वर्णन किया गया है वह उनके दार्शनिक स्वरूप से भिन्न है। संकर्षण के सगुण स्वरूप अथवा अवतारी प्रतिमा स्वरूप के वर्णन में लक्ष्मी तन्त्र में कहा गया है कि सिन्दूर के शिखर के समान आकृति वाले, सौम्य मुखाकृति, चतुर्भुज, ताल चिह्नित, अलसी पुष्प के समान वस्त्र धारण करने वाले, वासुदेव की भाँति ही मुख्य दक्षिण हस्त से अभय प्रदान करने वाले, मुख्य वाम हस्त में शंख धारण करने वाले तथा दूसरे दक्षिण हस्त में तीर तथा दूसरे वाम हस्त में मूसल को धारण करने वाले संकर्षण विचिन्त्य हैं।[1]

ईश्वर संहिता में संकर्षण के स्वरूप का जो वर्णन किया गया है वह विष्णु (वासुदेव) के एक व्यूह स्वरूप का ही रूपान्तरण है। ईश्वर संहिता[2] में उल्लेख है कि तेज शक्ति आत्मा वाले सौम्य परमेश्वर यद्यपि अरूप होते हुए भी व्यूहात्मक गुण और लक्षणों में परिवर्तित होते हैं तो भगवान संकर्षण के दोनों शुभ हाथों में शंख और लांगल से युक्त होते हैं और अपनी सहज उर्ध्व वस्त्र-मुद्रा में सुशोभित होते हैं। इस स्वरूप को हृदय में धारण करना चाहिए। इसी संहिता में संकर्षण के स्वरूप का वर्णन परम्परागत रूप में किया गया

---

1. सिन्दूरशिखराकारं सौम्यवक्त्रं चतुर्भुजम् ॥
अतसीपुष्पसङ्काशवसनं तालला़ञ्छितम् ।
मुख्येन पाणियुग्मेन तुल्यामाद्यस्य वै विभोः ।
सीरं तच्चक्रहस्तेऽस्य मुसलं तु गदाकरे ।
दक्षिणो चिन्तयेद्भागे संकर्षणमितिदृशम् ॥ **लक्ष्मी तंत्र**, 10.31-33

2. तेजश्शक्त्यात्मना सौम्ये संस्थितः परमेश्वरः ।
यद्यप्यरूपो भगवान् व्यूहात्मा गुणलक्षणः ॥
अत्रापि पूर्वमेवोक्तं रूपमस्वोपचर्यते ।
किं तु द्वित्तीमूर्तेर्वै शुभे पाणितलद्वये ॥
स्फुटो रेखामयः शंखः सुव्यक्तं लांगल महत् ।
रम्येषुणा तृतीयस्य दक्षिणश्चिन्हितः वरः ॥
तुर्यस्यासिवरेणेव शंख आभ्यां करद्वये ।
अवाङ्मुखःकरवशादूर्ध्ववक्त्रः स्वभावतः ॥ **ईश्वर सं०**, 24.83-97

है।[1] अन्यत्र चतुर्व्यूह स्वरूप वर्णन-क्रम में संकर्षण की स्थिति के सम्बन्ध में लिखा है कि पीतरक्त की काया वाले प्रत्यग् दक्षिण मध्य में स्थित संकर्षण देव का स्मरण और स्तोत्र क्रियाविधि करनी चाहिए।[2]

इसी प्रकार पाद्म संहिता के क्रियापाद में संकर्षण के स्वरूप मूर्त्तन में चतुर्भुजाओं में शंख, चक्र, गदा, पद्म को धारण किये हुए लक्षित होना चाहिए।[3] मार्कण्डेय संहिता में भी वासुदेव के ही रूपान्तरित स्वरूप में संकर्षण द्वितीय व्यूह के रूप में उल्लिखित हैं, जिनके स्वरूप का वर्णन प्रतिमा लक्षणों से युक्त हैं।[4]

विष्णु संहिता के षष्टम् पटल में संकर्षण भगवान के शंख, चक्र, गदा, नपाणि, श्रीवत्स तथा कौस्तुभ धारण किये हुए प्रभा मण्डित रूप के ध्यान करने का निर्देश किया गया है।[5]

विष्वक्सेन संहिता के 11वें अध्याय के अनुसार वासुदेव से रूपान्तरित बाल सूर्य के प्रतीक पीत वस्त्र, सर्वाभरण भूषित, शंख, चक्र मुख्य हस्त में धारण किये हुए तथा अधो हस्त में मुसल और पुण्डरीक धारण किये हुए संकर्षण को हृदय में धारण करना चाहिए।[6] अन्यत्र संकर्षण के लाल सूर्य-मणि प्रभासम प्रकाशित संकर्षण शंख, चक्र आदि चारो भुजाओं में धारण किये हुए चतुर्व्यूह

1. तथाविधै गदा वामे निषण्णा वसुधातले।
   सिन्दूरशिखराकारमेकवक्त्रं चतुर्भुजम्।
   अतसीपुष्पसंकाशवासोभृत्तालला़ञ्छितम्।
   मुख्येन पाणियुग्मेनतुल्यमाद्यस्य वै विभोः॥
   सीरं तच्चक्रहस्तेस्य मुसलं तु गदाकरे।
   प्रावृण्णिशासमुदितखद्योतचयदीधिति॥ **ईश्वर सं०**, 24,120-122
2. प्रत्यतदक्षिणमध्यस्थे पीतरक्त वपुर्धरम्।
   स्मरेत्संकर्षणं देवं प्रतिस्त्रोतः क्रियाविधौ॥ **तत्रैव**, 24.132
3. वासुदेवो जगद्योनिः संकर्षणमतः शृणु।
   गदाशंखाब्जचक्राणि धारयन्तं चतुर्भुजम्॥
   पाद्म संहिता, क्रियापाद, 16.137
4. **मार्कण्डेय संहिता**, 8.1
5. शंखचक्रगदापाणिं धृतश्रीवत्स कौस्तुभम्।
   तथां संकर्षण ध्यायेज्जातरूपसमप्रभम्। **विष्णु सं०**, 6.66
6. **विष्वक्सेन सं०**, 11.14-18

परिवार में दक्षिण की ओर सुशोभित होने का उल्लेख है।[1] हयशीर्ष संहिता के नवव्यूह प्रतिमा स्वरूप में चतुर्व्यूह के अतिरिक्त नव व्यूह का विवरण प्राप्त होता है जिसमें चतुर्भुज के स्थान पर द्विभुज रूप का उल्लेख है।[2]

3. प्रद्युम्न

चतुर्व्यूह विधान में तृतीय व्यूह प्रद्युम्न का है। प्रद्युम्न में ऐश्वर्य तथा वीर्य गुणों का उद्रेक विद्यमान रहता है। प्रद्युम्न का कार्य पाञ्चरात्र सिद्धान्त तथा एकान्तिक मार्ग के अनुसार क्रिया की शिक्षा और उपदेश देना है।[3] लक्ष्मी तन्त्र का कथन है कि अत्यधिक बल और तेज से सम्पन्न होने के कारण ही इनका नाम प्रद्युम्न हुआ।[4] षड्गुणों में से जब ऐश्वर्य एवं वीर्य नामक गुणों का उद्रेक होता है तो उस स्थिति में उत्पन्न होने वाले व्यूह का नाम प्रद्युम्न है।[5]

ईश्वर संहिता में प्रद्युम्न के स्वरूप वर्णन में लिखा है कि तृतीय परमेश्वर प्रद्युम्न एक मुख वाले चतुर्बाहु के मुख्य दो हाथों में प्राक्वत् आयुध-धारण करण हैं तथा दूसरे दो हाथों के वाम हस्त में शारंग धनुष और दक्षिण हस्त में बाण पञ्चक धारण करने वाले, मकरध्वज से सुशोभित तथा रक्तकौशेय वसन धारण करने वाले प्रद्युम्न ध्येय हैं। इनका वर्णरूप कृष्ण पीत वाला होता है।[6]

---

1. संकर्षण न्यसेद्याम्ये शशिबालार्कसन्निभम्।
   शंखचक्रसमोपेतं चतुर्बाहुविराजितम्॥ **विष्णु सं०**, 20.139
2. **हयशीर्ष सं०**, 24.4-5
3. बलदेव उपाध्याय, **वैष्णव सम्प्रदायों का साहित्य और सिद्धान्त**, पृ० 83
4. प्रद्युम्न इति मामाहुः सर्वार्थद्योतनीं तदा।
   युगं प्रस्फुरितं रूपं तस्मिन्नैश्वर्यवीर्ययोः॥ **लक्ष्मी तंत्र**, 2.47
   बलिमित्येव तन्नाम ततो वेदान्तशब्दितम्।
   वीर्यैश्वर्यसमुन्मेषे प्रद्युम्न परिकीर्तितः॥ **तत्रैव**, 4.15
5. रक्तकौशेयवसनं मकरध्वजशोभितम्।
   एकवक्त्रं चतुर्बाहु तृतीयं परमेश्वरम्॥
   मुख्यहस्तद्वयं चास्य प्रग्वद्वयेयं महामते।
   वामे परस्मिन् शार्ङ्गं च दक्षिणे बाणपञ्चकम्॥
   ईश्वर सं०, 24.123-124
6. उदक्पश्चिममध्यस्थे प्रद्युम्नं भाव येच्छदे।
   रूपेण कृष्णपीतेव अप्ययावसरे तु वै॥ **ईश्वर संहिता**, 24.131

इसी प्रकार पराशर संहिता में प्रद्युम्न के रूप वर्णन, न्यास और मंत्र का उल्लेख किया गया है।[1] प्रद्युम्न के स्वरूप वर्णन में पाद्म संहिता में उल्लेख है कि—**प्रद्युम्नः चक्रशंखाभ्यां सह दण्डसरोजवान्**।[2] मार्कण्डेय संहिता में प्रद्युम्न के प्रतिमा रूप वर्णन में उनके व्यूह रूप का परम्परागत वर्णन किया गया है।[3] इसी परम्परा में विष्णु संहिता में—'**दूर्वामरकतप्रख्यं प्रद्युम्नं च तथा स्मरेत**' रूप प्रद्युम्न का स्मरण किया है।[4]

विष्वक्सेन संहिता में 'प्रद्युम्न रूपकम्' वर्णन में उल्लेख है कि—

सर्वालंकारसंयुक्तमित्थं प्रद्युम्नरूपकम्।
दक्षिणोर्ध्वकरे पद्ममधः कौमोदकीं न्यसेत्॥
वामोर्ध्वाधः स्थिते हस्ते शंखचक्रं तु विन्यसेत्।
इत्थं प्रद्युम्नमूर्तिल ते देवर्षे वर्णितोऽधुना (तं मया)॥

विष्वक्सेन संहिता, 11.20-21

सर्वालंकार से संयुक्त प्रद्युम्न का रूप उर्ध्व दक्षिण हस्त में पद्म तथा अधः दक्षिण हस्त में कौमुदी, उर्ध्वार्द्ध वाम हस्त में शंख और चक्र सुशोभित है। इस प्रद्युम्न मूर्ति का ध्यान करना चाहिए। इसी संहिता में व्यूह परिवार के वर्णनक्रम में लिखा है कि पीताम्बर वस्त्र से विभूषित शंख, चक्र, गदा, पद्म (शांतकुम्भ) हाथों में धारण किये हुए प्रद्युम्न पश्चिम दिशा में विभूषित होते हैं।[5] हयशीर्ष संहिता के नव व्यूह प्रतिमा लक्षण में द्विभुजी प्रद्युम्न का उनकी पत्नी के साथ समलकृत स्वरूप का वर्णन किया गया है।[6]

4. अनिरुद्ध

प्रद्युम्न से अनिरुद्ध की निष्पत्ति व्यूह का अंतिम रूप है। पूर्वकथित छः गुणों में से दो-दो गुणों की प्रधानता के आधार पर अनिरुद्ध में शक्ति तथा तेज गुणों का उद्रेक विद्यमान रहता है। जगत् का सर्जन प्रारम्भ होने के पश्चात् अनिरुद्ध का कार्य है क्रिया के फल अर्थात् मोक्ष के रहस्य का शिक्षण।[7]

---

1. **पराशर सं०**, 8.105
2. **पाद्म सं०**, (क्रियापाद), 16.38
3. **मार्कण्डेय सं०**, 8.10
4. **विष्णु सं०**, पटल 6.67 अ
5. प्रद्युम्नं पश्चिमे न्यस्य शांतकुम्भनिभं मुने।
   शंखचक्रगदापाणिं पीताम्बर विभूषितम्॥ **विष्वक्सेन सं०**, 20-140
6. **हयशीर्ष सं०**, 24.6.9
7. बलदेव उपाध्याव, **वैष्णव सम्प्रदायों का साहित्य और सिद्धान्त**, पृ० 83

जगत के रक्षण का प्रधान कृत्य अनिरुद्ध का है। ईश्वर संहिता के 24वें अध्याय में अनिरुद्ध के रूप का विस्तृत वर्णन किया गया है। सित कृष्ण वपु वाले अनिरुद्ध का विभिन्न भूषणों से समलंकृत और आयुधों से युक्त स्वरूप का स्मरण करना चाहिए।[1]

त्रिरत्न में से एक जयाख्य संहिता में अनिरुद्ध के सकल विग्रह का उपाँग-मंत्रों से पूजा करने का उल्लेख किया गया है कि अलसी पुष्प के शुभ्र वर्ण वाले, सूर्य सम प्रभाव वाले, मधु पद्मांग शोभावाले अनिरुद्ध की विधिवत पूजा करनी चाहिए।[2] इसी प्रकार पराशर संहिता में अनिरुद्ध के परम्परागत स्वरूप व पूजा का वर्णन किया गया है।[3] पाद्म संहिता में अनिरुद्ध के स्वरूप वर्णन में लिखा है कि **'अनिरूद्धोऽरिदण्डब्ज पद्म पाणिश्चतुर्भुजः।'**[4]

बृहद् ब्रह्म संहिता में अनिरुद्ध के ब्रह्माण्डीय स्वरूप का वर्णन किया गया है जिसके अनुसार अनिरुद्ध की मूर्धा से द्यौ, नयन से सूर्य, मनस से चन्द्रमा, श्रोत

---

1. पुनरप्ययोगेन प्रागुदङ्मध्यमे दले।
   सितकृष्णेन वपुषा अनिरुद्धं स्मरेत्प्रभुम्॥ **ईश्वर सं०** 24.130
2. पुराऽनिरुद्धमन्त्रेण सकलीकृत्य विग्रहम्।
   हृद्यागं विधिवत्कृत्वा मण्डलं निर्वपेब्द हिः॥
   अतसीपुष्पसंकाशं वर्णेन रजसा शुभम्।
   वृत्तं कदम्बगोलाभं पद्मगं मधशोभनम्॥
   तत्राहूय जगन्नाथमुद्यत्सूर्यसमप्रभम्।
   पुष्पोपलेपनाद्यैस्तु सुसितैः पावनैर्यजेत्॥
   होमं कृष्णतिलैः कृत्वा होमान्ते विजनं वनम्।
   यायात्तत्र जपं कुर्यात् प्राक्रमाणेन नारद॥
   होमं कुर्यात्तदर्धेन अतसीपुष्पसन्निभैः।
   तिलैरप्यसितैर्विप्र कृष्णागरुसमन्वितैः॥
   दद्यात्पूर्णाहुतिं पश्चात्ततः स परमेश्वरः।
   तोषमायाति विप्रेन्द्र तुष्टः सर्वं ददाति च॥
   स्वयमेवानिरुद्धात्मा योजयेच्छाश्वते पदे।
   स बाह्याभ्यन्तरं सर्वं दर्शयेत्साधकस्य च॥
   येनासौ कृतकृत्यः स्यादनन्तफलभागपि।
   बहुनाऽत्र किमुक्तेन पंचकृत्यकसंयुतम्॥ **जयाख्य सं०**, 31.31-88
3. **पराशर सं०**, 13.111
4. **पाद्म सं०**, (क्रिया पाद), 16.38

(कर्ण) से दिशायें, नाभि से नभ, पाद से भूमि की उत्पत्ति हुई है।[1] प्राण से वायु तथा अपान से मृत्यु, केश से अम्बुद तथा ऋतु आदि कालभेद भी उस कालभूत से उत्पन्न है।[2] अनिरुद्ध के रोम वपु आदि से वनस्पति तथा औषधियां निःसृत हैं, उनके अनेक बाहु दक्षिणाओं से यज्ञों की उत्पत्ति हुई है।[3] अनिरुद्ध के मुख-बाहु चरणादि से चातुर्वर्णों की उत्पत्ति तथा सृष्टि के सभी जागतिक पदार्थों की उत्पत्ति हुई हैं।[4] यह जगत धाम कार्यकारण से अभिन्न रूप में बीच पादप के समान उन्हीं से उत्पन्न है।[5]

ज्ञान बुद्धि आदि भेद से निष्कामी एवं मुमुक्षु जन शुद्ध अन्तःकरण में उसी पुरुष की पूजा करते हैं।[6] चतुर्व्यूहात्मक अनिरुद्ध के शरीर में ब्रह्म, रुद्र, इन्द्र, वरुण, मनु, काल, यम आदि सभी देवता निवास करते हैं।[7] वरुण, प्रजापति, चन्द्र, भौम आदि भेद-दृष्टि से इस ब्रह्म भुवन का राज्य भोग करते हैं। वस्तुतः ये सभी अनिरुद्ध रूप में ही स्थित हैं।[8] ज्ञान, वैराग्य, कैवल्य आदि भेद से अनिरुद्ध की ही उपासना निज आयुध और विधा से पृथक्-पृथक् रूप से करते हैं।[9] अनिरुद्ध के भूषण आयुध जाल में परम एकान्तिन ही प्रवेश प्राप्त कर

1. द्यौर्मूर्ध्नो नयनात्सूर्यो मनसश्चन्द्रमा अपि।
   श्रोत्राद्दिशो नभो नाभेः पद्भ्यां भूमिरजायत॥
   बृहद् ब्रह्म सं०, (प्रथम पाद) 13.173
2. प्राणाद्वायुस्तथा पानान्मृत्युः केशात्तथाऽम्बुदाः।
   ऋत्वादिकालभेदाश्च कालश्चभूत्तथाधियः॥ **तत्रैव**, 13.174
3. वनस्पतय औषध्यो रोमकूपाद्विनिःसृताः।
   यज्ञाश्च जज्ञिरे तस्माद्बहवो बहुदक्षिणाः॥ **तत्रैव**, 13.175
4. चातुर्वर्ण्यं क्रमाद्वक्त्रबाहूरुचरणोद्भवम्।
   एवं सृष्ट्या जगत्सर्वमनिरुद्धौ जगत्तनुः॥ **तत्रैव**, 13.176
5. अयं जगज्जगद्धाम कार्यकारणयोर्मतः।
   अभेदौ बोधितः सद्भिर्बीजपादपयोरिव॥ **तत्रैव**, 13.177
6. ज्ञानबुद्ध्याद्यभेदेन पूजनं पुरुषस्य हि।
   निष्कामानां मुमुक्षुणामन्तःकरणशुद्धये॥ **तत्रैव**, 13.178
7. ब्रह्मरुद्रेन्द्रवरुणमनकालयमादयः ।
   चतुर्व्यूहात्मकाः सर्वेह्यनिरुद्धतनौ स्थिताः॥ **तत्रैव**, 13.179
8. भेदेन संविता भोगसा ब्रह्मभुवनं ददुः।
   राज्यं भौमं तथा चैन्द्रं प्राजापत्यं च वारुणम्॥ **तत्रैव**, 1 .180
9. ज्ञानवैराग्यकैवल्यं प्रयच्छन्ति ह्यभेदतः।
   उपासितः पृथक्कृत्य ह्यनि रुद्धो निजायुधैः॥ **तत्रैव**, 13.181

पाते है, जो पुनः-पुनः आवर्तित नहीं होते ।[1] अनिरुद्ध की आत्मा को उपासक विभिन्न रूपों में देखते हैं जो श्री भूमि सहित सन्निवसित हैं। अनिरुद्ध के स्वरूप की उपासना विभिन्न देवताओं द्वारा की जाती है जो श्रीवत्स तथा श्रीरज से सदा सुशोभित तथा पक्षीन्द्र गरुड़ एवं विष्वक्सेन द्वारा सदा सेवित हैं । वह अनिरुद्ध स्वयं के अंश से जगत का परिपालन करते है ।[3]

मार्कण्डेय संहिता में उल्लेख है कि वासुदेव के रूपान्तरित स्वरूप में अनिरुद्ध अपने आयुधों के साथ अन्य रूपों से पृथक् प्रतीत होते हैं ।[4] इसी प्रकार विष्णु संहिता में अनिरुद्ध के स्वरूप के सम्बन्ध में लिखा है कि—'नीलाम्बुद प्रतीकामनिरुद्धं तथैव च' अर्थात् अनिरुद्ध नीलकमल के प्रतीक रूप में अपने आयुधों से स्मरण किये जाते हैं ।[5]

विष्वक्सेन संहिता के 11वें अध्याय में भगवान विष्वक्सेन अनिरुद्ध के रूप का वर्णन करते हुए नारद से कहते हैं कि अनिरुद्ध का वर्ण नीले आकाश एवं कालाञ्जन से उपमित है जो चतुर्भुज रूप में पीत वस्त्र धारण करने वाले हैं, सर्वाभरण से सम्पूर्ण अवयव सुशोभित हैं, जिनके उर्ध्ववामहस्त में शंख और दूसरे में गदा सुशोभित है; दक्षिण उर्ध्व हस्त में चक्र सुशोभित और दूसरे में पद्म सुशोभित हैं। अनन्त (शेषनाग) पर शयन करने वाले लक्ष्मी से सुशोभित अनिरुद्ध की अर्चा द्विभुज या चतुर्भुज रूप में की जानी चाहिए । अनिरुद्ध की इस मूर्ति की पूजा शतदल पुण्डरीक से करनी चाहिए ।[6] इसी प्रकार 20वें अध्याय में उल्लेख है कि नील वर्ण वाले अनिरुद्ध शंख, चक्र आदि से संयुक्त वस्त्र चतुर्भुज रूप में अपने परिवार में उत्तर की ओर स्थित रहते हैं।

हयशीर्ष संहिता के नव व्यूह प्रतिमा-लक्षण में अनिरुद्ध की उत्पत्ति प्रद्युम्न से उल्लिखित है तथा अनिरुद्ध के स्वरूप का मूर्तन उनके वर्ण आयुध-विन्यास आदि का वर्णन किया गया है जो उनके पाञ्चरात्र स्वरूप को व्यक्त करता है ।[7]

---

1. भूषणायुधजालैस्तु परमैकान्तिनां गतिम् ।
 प्रयच्छन्ति न संदेहो यतो नाऽऽवर्तते पुनः ॥ **बृहद् ब्रह्म सं०**, 13.182
2. पृथक्कृत्य स्वमात्मानमास्तेऽनन्तासनो हरिः ।
 अनिरुद्धात्मको देवः श्रीभूमिभ्यां सह प्रभुः ॥ **तत्रैव**, 13.183
3. **तत्रैव**, 13.184-186
4. **मार्कण्डेय संहिता**, 8.2
5. **विष्णु संहिता**, पटल 6.67
6. **विष्वक्सेन संहिता**, 11.22-30
7. **हयशीर्ष संहिता**, (आदिकाण्ड), 21.96-100

अनिरुद्ध के स्वरूप का निरूपण करते हुए लक्ष्मी तन्त्र में कहा गया हैं कि अञ्जन पर्वत के समान आभा वाले अत्यन्त ही सुन्दर पीताम्बर को धारण किये हुए, चार भुजाओं से सम्पन्न, विशाल नयन वाले, मृगलाञ्छन से समलंकृत, मुख्य दक्षिण हस्त से अभय प्रदान करने वाले, मुख्य वाम हस्त में शंख को धारण करने वाले अन्य दक्षिण एवं वाम हस्तों में क्रमशः खड्ग और खेटक धारण करने वाले अनिरुद्ध वैष्णव पाञ्चरात्र भक्तों द्वारा ध्येय हैं ।[1]

कला में चतुर्व्यूह का आरम्भिक अंकन

चतुर्व्यूह की अवधारणा पतञ्जलि के काल अर्थात् दूसरी शताब्दी ई०पू० तक स्पष्ट हो चुकी थी ।[2] इसमें संदेह नहीं कि ई० पश्चात् की आरम्भिक शताब्दियों में चतुर्व्यूह उपासना प्रचलित थी और इसका केन्द्र मथुरा था ।[3] चतुर्व्यूह विषयक स्रोत-सामग्री का अध्ययन विशेषतः पाञ्चरात्र आगम की एतद् विषयक सामग्री के अन्तर्गत किया जा चुका है, कला में इस परम्परा के प्रारम्भिक अंकन पर विचार करना यहाँ अपेक्षित है।

ध्यातव्य है कि चतुर्व्यूह उपासना के पूर्व पञ्चवीरोपासना प्रचलित थी, जिसमें संकर्षण, वासुदेव, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध एवं साम्ब—इन पञ्चवीरों के नाम मिलते हैं । मथुरा से सात मील पश्चिम मोरा कूप अभिलेख उपलब्ध हुआ है। यह अभिलेख शक नरेश षोडास (प्रथम शताब्दी के आरम्भ) के शासन काल का है जिसमें वृष्णि कुल के पञ्चवीरों की मूर्तियों का उल्लेख है, जिसे तोषा नामक एक महिला द्वारा निर्मित पाषाण मंदिर में प्रतिष्ठापित कराया गया था ।[4] ल्यूडर्स नामक विद्वान ने इन पंच वीरों की पहचान इस प्रकार

---

1. अञ्जनादिप्रतीकाशं सुपीताम्बरवेष्टितम् ।
   चतुर्भुजं विशालाक्षं मृगलाञ्छनभूषितम् ॥
   आदिवत् पाणियुगलमाद्यमस्य विचिन्तयेत् ।
   दक्षिणादिक्रमेणाथ द्वाभ्यां वै खड्गखेटकौ ॥
   दधानमनिरुद्धं तु सौम्यभागे विचिन्तयेत् ॥ **लक्ष्मी तंत्र**, 10.37-39
2. चतुर्वेदी, एस० एन०, **ए यूनिक चतुर्व्यूह इमेज**, आर० के० त्रिवेदी वाल्यूम (I), पृ० 147
3. **तत्रैव**, डोरिस श्रीनिवासन्, **अर्ली वैष्णव इमेजरी : चतुर्व्यूह एण्ड वैरियेन्ट फार्मस**, आरकाइब्स ऑफ एशियन आर्ट, XXXII. 1979, पृ० 39-54; वी० एस० पाठक, **दि अर्ली वैष्णव पैंथियान**, जे० यू० पी० एच० एस०, XXI-XXV. 1951-52, पृ० 209-220
4. **एपीग्राफिया इण्डिका, XXI.** पृ० 194 एवं आगे ।

की है[1]—1. बलदेव, 2. अक्रूर, 3. अनाधृष्टि, 4. सरण एवं 5. विदुरथ। जे० एन० बनर्जी ने वायु पुराण के आधार पर पञ्चवीरों का नाम इस प्रकार दिया है—1. संकर्षण, 2. वासुदेव, 3. प्रद्युम्न, 4. साम्ब एवं 5. अनिरुद्ध।

यहां यह अवधेय है कि कालान्तर में दो परिवर्तन हुए। साम्ब को सूर्योपासक होने के कारण वहिष्कृत कर दिया गया और संकर्षण का स्थान गौण हो गया। वासुदेव चतुर्व्यूह-परम्परा में पर ब्रह्म स्वरूप माने गये और संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध वासुदेव-प्रादुर्भाव क्रम के अन्तर्गत उनके द्वारा उनके अँशभूत। इस तरह चतुर्व्यूह का एक दर्शन विकसित हुआ तदनुसार वासुदेव परब्रह्म का स्वरूप—पर वासुदेव कहलाया और संकर्षण आदि क्रमशः जीव, मन एवं अहंकार। जैसा कि हमने अन्यत्र प्रकाश डाला है संकर्षण प्रारम्भ में नागपूजकों के उपास्य देव माने जाते थे। प्रारम्भ में संकर्षण का अंकन स्वतंत्र रूप से हुआ तत्पश्चात् शनैः-शनैः इस देवता का भागवत-पाञ्चरात्र-परम्परा में समाहार होता गया।[2]

भारतीय कला में चतुर्व्यूह के प्रारम्भिक अंकन के अध्ययन के प्रसंग में यह कहा जा सकता है कि चतुर्व्यूह के समग्र स्वरूप का अर्थात् चतुर्मूर्तियों का अंकन या तो कम हुआ है या इस तरह की मूर्तियां उपलब्ध नहीं हैं। मथुरा संग्रहालय में सुरक्षित एक मात्र खंडित चतुर्व्यूह-प्रतिमा विशेषज्ञों में चर्चित रही है। चतुर्व्यूह प्रतिमा के स्वरूप विकास का यही एक मात्र आधार है। किन्तु इसके पूर्व कि हम इस प्रतिमा के प्रतीकत्व पर विचार करें इसकी पृष्ठ-भूमि अर्थात् इस प्रतिमा के पूर्व की स्थिति पर विचार कर लेना अपेक्षित है।

ज्ञातव्य है कि वासुदेव एवं संकर्षण सम्बन्धी कतिपय प्रारम्भिक आभिलेखिक, मौद्रिक एवं शिल्प-साक्ष्य उल्लेखनीय महत्व के हैं। इनमें मोरा कूप अभिलेख,[3] घोसुण्डी अभिलेख[4], हेलियोडोरस का विदिशा से प्राप्त गरुड़ध्वज स्तम्भ लेख[5]

---

1. द्रष्टव्य, सुधाकर चट्टोपाध्याय, **इवोल्यूसन ऑफ हिन्दू सेक्ट्स**, पृ० 53-54
2. तत्रैव
3. **प्राचीन भारतीय अभिलेख संग्रह**, खण्ड 1, पृ० 204-205
4. तत्रैव, पृ० 173-174
5. **प्राचीन भारतीय अभिलेख संग्रह**, खण्ड 1, पृ० 156 विवरण के लिए द्र० पृ० 157-16

तथा इण्डो-ग्रीक शासक अगाथोक्लीज की मुद्राओं[1] (पूर्व भाग पर वासुदेव, पृष्ठ भाग पर संकर्षण का अंकन) और कुछ ही दिनों पूर्व चिलास (पाकिस्तान) के एक चट्टान पर अंकित वासुदेव, संकर्षण के रंगचित्र अत्यन्त महत्वपूर्ण साक्ष्य हैं। इन साक्ष्यों से परिज्ञात होता है कि मध्य भारत से लेकर सूदूर पश्चिमोत्तर क्षेत्र तक वासुदेव-भक्ति का अभ्युदय हो चुका था और संकर्षण की उपासना वासुदेव के साथ की जाने लगी थी।

पुनः वृष्णि कुल के सदस्यों के रूप में जब पंचवीरों की एक साथ उपासना चल पड़ी तो इनके पारस्परिक सम्बन्धों की कथा का विस्तार महाकाव्यों, पुराणों में होता रहा। लेकिन पंचवीरोपसना, अधिक दिनों तक न चल सकी, साम्ब के सौर-धर्म से जुड़ जाने के कारण और वैष्णव धर्म में चतुर्व्यूहवाद एवं अवतारवाद के प्रचलन हो जाने के कारण संकर्षण आदि को परब्रह्म वासुदेव के अंशभूत मान लेने से वैष्णव-पाञ्चरात्र मत में एक अभिनव दृष्टि प्रचलित हुई। चतुर्व्यूह उपासना उसी का परिणाम है और संयोगात् कुषाण काल की उपरि-निर्दिष्ट विशिष्ट चतुर्व्यूह प्रतिमा उपलब्ध है जो खण्डित ही सही, अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इस पर, इसकी पहचान पर प्रारम्भ में विद्वानों में भ्रान्ति थी, किन्तु अब कतिपय विद्वानों ने इसकी स्पष्ट पहचान की है।

चतुर्व्यूह प्रतिमा

मथुरा से उपलब्ध और मथुरा संग्रहालय में सुरक्षित खण्डित किंतु एक मात्र बिलक्षण चतुर्व्यूह-प्रतिमा उल्लेखनीय महत्व की है। यह प्रतिमा कुषाण कालीन है जो मथुरा संग्रहालय के परिक्षेत्र में स्थित सतसमुद्री कूप से प्राप्त हुई थी।

प्रारम्भ में इस प्रतिमा की पहचान को लेकर विद्वानों में मतभेद थे। प्रसिद्ध कलावेत्ता कुमार स्वामी ने इसे इन्द्र की और वासुदेव शरण अग्रवाल ने पंचेन्द्र की प्रतिमा बताया था जबकि आर० सी० अग्रवाल ने इसे महाविष्णु की प्रतिमा सिद्ध करना चाहा था। यह प्रतिमा वास्तव में अपने ढंग की अकेली है। अतः विलक्षण हैं। डोरिस श्रीनिवासन ने चतुर्व्यूह प्रतिमा परम्परा पर विस्तार से विचार करते हुए इस प्रतिमा की पहचान चतुर्व्यूह-प्रतिमा के रूप में की है।[2] पुनः पुरातत्ववेत्ता प्रोफेसर शैलनाथ चतुर्वेदी ने इस विशिष्ट प्रतिमा की

1. एन० पी० जोशी, **आइक्नोग्राफी ऑफ बलराम**, पृ० 22
2. डोरिस श्री निवासन : **अर्ली वैष्णव इमेजरी चतुर्व्यूह एण्ड वैरिएण्ट फार्म्स,** आर्काइव्ज ऑफ एशियन आर्ट, XXXII, 1979, पृ० 39-59

स्पष्ट पहचान करते हुए इसे चतुर्व्यूह परम्परा को पाषाण शिल्प में ढालने वाली विलक्षण प्रतिमा बताया है।[1] इस प्रतिमा के शिल्प शास्त्रीय विवरण देने के पूर्व यह ध्यान आकृष्ट करना उचित प्रतीत होता है कि विष्णु चतुर्मूर्ति अथवा वैकुण्ठ प्रतिमा—निर्माण की परम्परा चतुर्व्यूह-प्रतिमा-परम्परा से नितान्त भिन्न है। ज्ञातव्य है कि इस सन्दर्भ में अनेकों विद्वानों ने लिखा है जिनमें वोगेल, कुमार स्वामी, वासुदेव शरण अग्रवाल, विश्वम्भर शरण पाठक, आर० सी० अग्रवाल, नीलकण्ठ पुरुषोत्तम जोशी, कल्पना देसाई, जे० रोजेन फील्ड, जे० एन० बनर्जी, प्रियबल शाह, देबाला मित्रा, जे० खोंदा, संयुक्ता गुप्ता, सी० शिवराम-मूर्ति, डोरिस श्रीनिवासन एवं प्रो० शैलनाथ चतुर्वेदी के नाम उल्लेखनीय हैं।[2]

उपलब्ध पूर्वोक्त चतुर्व्यूह-प्रतिमा का विवरण इस प्रकार है। यह प्रतिमा मूल रूप में चार आकृत्तियों से युक्त रही होगी।

सौम्य रूप वासुदेव का है। प्रतिमा चतुर्भुजी है। इसका सामान्य दाहिना हाथ अभय मुद्रा में उठा हुआ है, ऊपर का दाहिना हाथ भग्न है किन्तु इस हाथ की उंगलियां खंडित गदा-शीर्ष के ऊपर ठिकी हुई हैं। सामान्य बायें हाथ में कोई वस्तु है जिसकी पहचान शंख से की गयी है। ऊपर का बायां हाथ भग्न है। आंखों की दोनों भौहों के बीच ऊर्णा बनी है जो महापुरुष के लक्षण की परिचायक है। इस प्रतिमा ने अलंकृत मुकुट धारण किया है। कानों में कुण्डल, गले में हार और भुजाओं तथा कलाइयों में आभूषण सुशोभित हैं। इसने फूलों और पत्तियों की बहुत सुन्दर माला धारण किया है।

वासुदेव के दाहिने स्कन्ध से जुड़ी एक अन्य प्रतिमा है जिसके बायें हाथ में मदिरा का एक पात्र है और दाहिना हाथ उठा हुआ किंतु भग्न है। इसके एक कान में कुण्डल दिखाई देता है। केश-सज्जा के साथ पार्श्व में सर्प के फण की प्रतिच्छवि देखी जा सकती है। इस प्रतिमा का शीर्ष भाग विलक्षण कुषाण शैली में निर्मित है और इस प्रतिमा ने भी पत्तियों और पुष्पों की माला धारण की है। वासुदेव के दक्षिण पार्श्व की यह प्रतिमा निश्चय ही संकर्षण की है।

---

1. एस० एन० चतुर्वेदी, **ए यूनिक चतुर्व्यूह इमेज**, आर० के० त्रिवेदी वाल्यूम, आगम कला प्रकाशन, दिल्ली, 1989 पृ० 145-151
2. विस्तार के लिए द्रष्टव्य, श्री माता प्रसाद त्रिपाठी, **भागवत-पाञ्चरात्र-परम्परा में चतुर्व्यूह उपासना का इतिहास**, के०पी० जायसवाल शोध संस्थान पटना द्वारा आयोजित प्रो० अल्टेकर-प्रो० दत्त स्मारक व्याख्यान।

वासुदेव की विशाल रत्नजटित मुकुट से ऊपर की ओर निकलती हुई एक भग्न प्रतिमा देखी जा सकती है, जिसका शीर्ष व दाहिना हाथ टूटा हुआ है और बायें हाथ में स्कन्ध प्रदेश तक उत्तरीय लिपटा हुआ दिखाई दे रहा है। इसका बायां हाथ कमर की ओर झुका हुआ है जिसमें कोई वस्तु अवश्य है। भग्न दाहिना हाथ अभय मुद्रा में रहा होगा। यह प्रतिमा प्रद्युम्न की है।

वासुदेव के वाम पार्श्व में एक अन्य प्रतिमा अनिरुद्ध की विनिर्मित रही होगी जो त्रुटित होने के कारण दिखाई नहीं दे रही है किंतु प्रतिमा होने का संकेत स्पष्ट है।

इस प्रकार यहां कुषाण कालीन शिल्प में विष्णु चतुर्व्यूह को रूपांकित किया गया है। जहां तक इस प्रतिमा के शास्त्रीय विवरण का प्रश्न है, प्रतिमा-शास्त्रीय-परम्परा विशेषत: विष्णु धर्मोत्तर पुराण में अलग-अलग व्यूहों की प्रतिमाओं के विवरण मिलते हैं। तदनुसार वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध की प्रतिमायें किस तरह बनायी जाय और उनका स्वरूप क्या हो इस पर प्रकाश पड़ता है। जहां तक चतुर्व्यूह प्रतिमा का प्रश्न है इस पर विष्णु धर्मोत्तर में कोई स्पष्ट विवरण उपलब्ध नहीं है। डॉ० शैलनाथ चतुर्वेदी ने, अवश्य ही, विष्णु धर्मोत्तर में एक स्थान पर उल्लिखित वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध इन चार आकृतियों से युक्त विष्णु की अष्टभुजी प्रतिमा के विवरण की ओर हमारा ध्यानाकृष्ट करते हुए बताया है कि मथुरा से प्राप्त चतुर्व्यूह प्रतिमा की मूल अवधारणा से यह विवरण मेल खाता है, भले ही दोनों के स्वरूप विवरण में किंचित् भिन्नता हो।[1]

विष्णु धर्मोत्तर[1] के इस विवरण के अनुसार वासुदेव के हाथों में चक्र, एवं गदा, संकर्षण के हाथों में मूसल एवं हल, प्रद्युम्न के हाथों में बाण एवं धनुष तथा अनिरुद्ध के हाथों में खेटक एवं खड्ग होना चाहिए।

जहां तक शास्त्र एवं शिल्प के अन्तर का प्रश्न है, डॉ० चतुर्वेदी की यह धारणा युक्तिसंगत प्रतीत होती है कि चतुर्व्यूहों के अंकन की भिन्न परम्परा प्रचलित हो सकती है। चूंकि प्रतिमा शास्त्रीय आधार सुनिश्चित नहीं रहा होगा। अत: शिल्पकार ने अपनी स्वतन्त्र दृष्टि का परिचय दिया होगा। प्रस्तुत प्रतिमा को हम इसी बात के परिणाम रूप में ग्रहण कर सकते हैं। संभव है कि इस तरह की कोई अन्य प्रतिमा धरती के गर्भ से प्रकाश में आये।

---

1. प्रो० शैलनाथ चतुर्वेदी, **ए यूनिक चतुर्व्यूह इमेज**, आर० के० त्रिवेदी, वाल्यूम, पृ० 150
2. **विष्णु धर्मोत्तर पुराण**, 111.47.8-9

अन्ततः यही कहा जा सकता है कि मथुरा की यह प्रतिमा वैष्णव पाञ्चरात्र परम्परा में चतुर्व्यूह के प्राचीनतम शिल्पांकन का परिचय देती है।

खण्ड—ब : विभव

पाञ्चरात्र परम्परा में, प्रारम्भ में, त्रिविध और कालान्तर में पंचविध ब्रह्म के स्वरूप पर प्रकाश पड़ता है। दोनों ही स्थितियों में 'विभव' ब्रह्म का तृतीय स्वरूप है। ध्यातव्य है कि पाञ्चरात्र मत में व्यूह-सिद्धान्त के अतिरिक्त अवतारवाद का सिद्धान्त एक उल्लेखनीय वैशिष्ट्य है जिसका वैष्णव धर्म में व्यापक महत्व है। पाञ्चरात्र साहित्य में एतदर्थ 'विभव' पद विशेष रूप से प्रयुक्त है और सामान्य रूप से 39 विभवों की हमें जानकारी मिलती है। विभवों की संख्या एवं उनके स्वरूपादि का विवेचन करने से पूर्व विभव के अभिप्राय आदि का परिचय अपेक्षित है।

पाञ्चरात्र परम्परा में परम ब्रह्म (पर वासुदेव) के लक्षणात्मक स्वरूप-निरूपण में उसे सृष्टि के सर्जन-शक्ति से सम्पन्न माना गया है। वह परम ब्रह्म दो प्रकार की सृष्टि करता है—शुद्ध सृष्टि एवं शुद्धेतर सृष्टि। यद्यपि जयाख्य ने इस सर्ग-सिद्धान्त को त्रिविध स्वीकार किया है तदनुसार यह कहलाता है—शुद्ध सर्ग, प्राधानिक सर्ग तथा ब्रह्म सर्ग।[1] यह जो शुद्ध सर्ग अथवा शुद्ध सृष्टि का सिद्धान्त है, उसके अनुसार ही पर ब्रह्म में ही सृष्टि के लिए प्रथम उन्मेष होने पर व्यूह वासुदेव का आविर्भाव होता है। यह व्यूह वासुदेव यद्यपि पर वासुदेव के समान ही षड्गुणों से युक्त रहता है किन्तु लक्ष्मी तन्त्र के अनुसार व्यूह वासुदेव में ये षड्गुण नित्योदित दशा में विद्यमान रहते हैं।[2] अहिर्बुध्न्य संहिता के अनुसार इनमें से प्रत्येक व्यूह आविर्भूत होने के बाद अव्याकृत अवस्था में 1600 वर्षों तक रहता है। इसके बाद उससे दूसरा, तीसरा और चतुर्थ व्यूह व्युत्पन्न होता है।[3] यह एक सृष्टि-क्रम है। इसे पाञ्चरात्र मत में 'वासुदेव-प्रादुर्भाव-क्रम' कहा गया है। उक्त सृष्टिकल्प पर हम ध्यान दें तो सृष्टि के प्रवर्त्तन से चार सहस्त्र आठ सौ (4800 वर्ष) मानव वर्ष लगता है।[4]

1- शुद्धसर्गमहं देव वेत्तुमिच्छामि तत्वतः।
सर्गद्वयस्य चैवास्य यः परत्वेन वर्तते ॥ — **जयाख्य संहिता**, 4.1

2. ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यतेजांस्यशेषत।
उन्मिषन्ति यदा तुल्यं वासुदेवस्तदोच्यते ॥ **लक्ष्मी तन्त्र**, 4.13

3. उदयस्थे तथा देवे प्रभा संकर्षणात्मिका।
अव्यापृता शतान्येषा शक्तिस्तिष्ठति षोडश ॥ **अहिर्बुध्न्य सं०**, 5.31

4. अनन्त एवं भगवान् देवः संकर्षणोच्युतः।
स्थित्वा षोडश वर्षाणि देवः शक्तिमयोऽच्युतः ॥ **तत्रैव**, 5.35,38,40.

इस तरह वासुदेव प्रादुर्भाव-क्रम के अन्तर्गत चातुरात्म्य-व्यवस्था का प्रयोजन मन के आलम्बन के लिए है[1]—

मन आलम्बनायेषा चातुरात्म्यव्यवस्थितिः ।

उपरिनिर्दिष्ट शुद्ध-सृष्टि की प्रक्रिया में व्यूह एवं व्यूहान्तर और विभव अथवा अवतार की कल्पना का विकास माना जाता है । अहिर्बुध्न्य संहिता में व्यूह से व्यूहान्तर के आविर्भाव पर सुन्दर प्रकाश पड़ता है—

माम्नासिषुरमुष्वाश्च रहस्याम्नायवेदिनः ।
व्यूहान्तरविभावादीन् भेदान् संकल्पकल्पितान् ।।

अहिर्बुध्न्य संहिता, 5.45

अर्थात् 'रहस्याम्नाय' में पारंगत मनीषियों ने चतुर्व्यूहों के संकल्प से व्यूहान्तर तथा विभव आदि भेदों की परिकल्पना की है । वास्तव में चतुर्व्यूहों से जो व्यूहान्तर-क्रम दिखाई देता है उसकी कुल सख्या द्वादश बतायी गयी है । यथा—वासुदेव के केशव आदि तीन (केशव, नारायण एवं माधव), संकर्षण से गोविन्द आदि तीन (गोविन्द, विष्णु एवं मधुसूदन), प्रद्युम्न से त्रिविक्रम आदि तीन (त्रिविक्रम, वामन, श्रीधर) और अनिरुद्ध से हृषीकेश आदि तीन (हृषीकेश, पद्मनाथ एवं दामोदर) का अविर्भाव होता है । इसे ही व्यूहान्तर कहते हैं ।[2] ध्यातव्य है कि व्यूहान्तर देवों की शक्तियां भी द्वादश हैं—1. श्री, 2. वागीश्वरी, 3. क्रान्ति, 4. क्रिया, 5. शान्ति, 6. विभूति, 7. इच्छा, 8. प्रीति, 9. रति, 10. माया, 11. धी, तथा 12. महिमा ।[3]

इस व्यूहान्तर-क्रम का मूल प्रयोजन जीवों को संसार के कष्टों से निवृत्ति दिलाना रहा है । इस पूरी क्रिया के मूल में परम ब्रह्म है जिसे सात्वत संहिता में परम धाम कहा गया है ।[4]

---

1. श्रेडर, **इन्ट्रोडक्शन टू दि पाञ्चरात्र एण्ड दि अहिर्बुध्न्य संहिता**, पृ० 35, 36
2. व्यूहान्तरं दश द्वे च केशवाद्याः प्रकीर्तिताः ।
   केशवादित्रयं तत्र वासुदेवाद् विभाव्यते ।।
   संकर्षणाच्च गोविन्दपूर्वं त्रितयमद्भुतम् ।
   त्रिविक्रमाद्यं त्रितयं प्रद्युम्नादुदितं मुने ।।
   हृषीकेशादिकं तत्वमनिरुद्धान्महामुने ।
   अहिर्बुध्न्य संहिता, 5.46,47, 48 अ
3. श्रीश्च वागीश्वरी कान्तिक्रियाशान्तिविभूतयः ।
   इच्छा प्रीती रतिश्चैव माया धीर्महिमेति च ।। **लक्ष्मी तंत्र**, 20.25
4. **सात्वत संहिता**, 7.3

परं ब्रह्म परं धाम चातुरात्मकमव्ययम् ।
जाग्रत्संज्ञे स्वयं यत्तु पदे व्यक्तचतुर्भुजम् ।।

यह परम ब्रह्म ही 'स्व' को चतुर्धा (चतुर्व्यूहों के रूप में) विभक्त करता है तब पुनः स्व-स्व मूर्ति का चतुर्धा विभाजन होता है ।[1]

सात्वत संहिता के पच्चीसवें परिच्छेद में उपलब्ध एक श्लोक में 'एक मूर्ति' से मूर्त्यन्तर अथवा व्यूह-गण के प्रादुर्भाव का संकेत है ।[2] इस संहिता में तो अन्यत्र (अष्टम् परिच्छेद में) उक्त द्वादश बीजों, केशव आदि द्वादश देवताओं की शक्तियों तथा उनके स्वरूप, प्रतीक, आयुध, ध्यान, अर्चनादि का विस्तार पूर्वक उल्लेख है ।[3] सात्वत संहिता के ९वें परिच्छेद में इसी क्रम में, ब्रह्म के

---

1. नूनं कर्मात्मतत्वानां भवदुःख प्रशान्तये ।
भावमाक्रम्य रूपेण तेन मोक्षप्रदेन च ।।
ततस्त्वप्ययोगेन स्वस्वमूर्तिचतुष्टयम् ।
नीत्वा परिणतिं योगादात्मन्यास्ते च पूर्ववत् ।
अनुग्रहार्थं भविनां नानाकृत्या तु वै पुनः ।
देहकान्तिमनुज्झित्य दिवक्रमेण तु वै सह ।।
पौरुषेण तु रूपेण प्रत्येकेन विधा त्रिधा ।
वासुदेवादिकेनैव व्यक्तचक्रादिना युतम् ।। सात्वत सं०, 7.4-7

पूर्वोक्त परात्परं नित्योदितव्यूहाख्यं वासुदेवादिचतुष्टयमेव पूर्वोक्तजाग्रद्व्यूह रूपेणाविर्भूतम्, तज्जीवात्मनां संसारखेदनिवृत्यर्थं तेनेव रूपेण च व्यक्ती-भूप जाग्रत्पदे विदिक्ष्वप्यक्रमेणावतीर्णं पुरुषादिमूर्तिचतुष्टयं स्वात्मन्युपसंहृत्य पुनः संसारिणामनुग्रहार्थं प्रत्येकं त्रिधा-त्रिधा वासुदेवः केशवादित्रिकरूपेण, संकर्षणो गोविन्दादित्रिकरूपेण, प्रद्युम्नस्त्रिविक्रमादित्रिकरूपेण, अनिरुद्धो हृषीकेशादित्रिकरूपेण व्यक्तचक्रादिलाञ्छनैः सह भगवदेकान्तिनां पोषकत्वेन शाश्वतीमभिव्यक्तिमभ्येतीत्याह-परं ब्रह्मेति षड्भिः । देहका-न्तिमनुज्झित्येत्यनेन जाग्रद्व्यूहवासुदेवादिचतुष्टयस्य पूर्वं यादृशो वर्णभेद उक्तः, केशवादित्रिकचतुष्टयस्यापि तादृश एवेत्युक्तं भवति ।
सात्वत सं०, 7.3-8 पर की गई अलशिंग भट्ट की टीका ।

2. आ चैकमूर्तेः सर्वासां मूर्तीनां तु महामते ।
तथा मूर्त्यन्तराणां च प्रादुर्भावगणस्य च ।। तत्रैव, 25.322

3. द्रष्टव्य, तत्रैव, 8.23, 26, 31, 57-161

विभव स्वरूप तथा विभवावतार के स्थूल, सूक्ष्म एवं पर—त्रिविध स्वरूपों एवं विभवों का वर्णन किया गया है।

विभव : अभिप्राय, संख्या एवं स्वरूप

विभव शब्द से ब्रह्म के विशिष्ट भवन का बोध अपने आप हो जाता है। यद्यपि वैष्णव-पाञ्चरात्र मत के आचार्यों ने इसे परिभाषित भी किया है। यतीन्द्र मत दीपिका[1] के अनुसार विभव शब्द की व्याख्या इस प्रकार की गयी है—**विभवो नाम तत्त् सजातीयरूपेणाविर्भावः**। इसी तरह की व्याख्या वरवर मुनि ने अपने तत्वत्रय-भाष्य में किया है—**विभवो नाम इतरसजातीयत्वेनाविर्भावः**। तात्पर्य यह है कि अपने से इतर अर्थात् सभी स्थावर-जंगम के सजातीय रूप में आविर्भाव को बिभव कहते हैं।

विभव की परिकल्पना वस्तुतः मुक्ति एवं भुक्ति के निमित्त रही है। इस तरह विभवों के दो प्रकार अथवा दो वर्ग समझे जा सकते हैं—मुख्य एवं गौण। इसकी पृष्ठभूमि पर हम आरम्भ में ही विचार कर चुके हैं, जहाँ तक सद्विभवात्मन ब्रह्म के विभव-क्रम का प्रश्न है इस पर प्राचीनतम् संहिताओं में से एक सात्वत संहिता, नवम् परिच्छेद, के आरम्भ में संकेत मिलता है और सात्वत संहिता के टीकाकार अलशिंग भट्ट ने इस पर अपनी विस्तृत टिप्पणी भी दी है। तदनुसार सूक्ष्म व्यूह का विभाग बाह्य एवं आभ्यन्तर रूप में हुआ। चतुर्युगों के संधि-काल में जो विश्व-विप्लव दोष होते हैं उनके विनाश के लिए अथवा उनके उपशमन के लिए विभव उत्पन्न होते हैं[3]—

चतुर्णां युगसन्धीनां युगानां च तत्रैव हि।
विश्वविप्लवदोषाणां विनाशाय समुद्यतम्॥

ज्ञातव्य है कि श्रीमद्भगवतगीता में वासुदेव ब्रह्म का वचन है कि साधु जनों के परित्राण एवं दुष्ट जनों के संहार के लिए तथा धर्म की संस्थापना के निमित्त मैं प्रत्येक युग में विशेष रूप से उत्पन्न होता हूं। यहां 'सम्भवामि' क्रिया पद प्रयुक्त है[4]—

परित्राणाय साधुनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥

---

1. **यतीन्द्रमत दीपिका**, पृ० 86; श्रेडर, **तत्रैव**, पृ० 49 पर उद्धृत
2. वरवर मुनि, **तत्वत्रय-भाष्य**, पृ० 130
3. **सात्वत संहिता**, 9.5
4. **गीता**, 4.8

श्रीमद्भागवत में भी ऐसी दृष्टि अभिव्यक्त है।[1] ध्यान देने योग्य है कि जयाख्य संहिता, लक्ष्मी तन्त्र आदि में भी ऐसे वचन उपलब्ध हैं जिससे विभवावतार की अपेक्षा पर प्रकाश पड़ता है।[2] स्पष्ट है कि शुद्ध सृष्टि की प्रक्रिया में विभव या अवतार की गणना है। विभिन्न पाञ्चरात्र संहिताओं में विभवों के निमित्त भिन्न-भिन्न नाम बताये गये हैं। लक्ष्मी तन्त्र तथा विष्वक्सेन संहिता में विभवों के निमित्त अनिरुद्ध बताये गये हैं। लक्ष्मी तन्त्र में कहा गया है[3]—

विभवोऽनन्तरूपस्तु पद्मनाभमुखो विभोः।
अनिरुद्धस्य विस्तारो दर्शितस्तस्य सात्वते॥

अर्थात् विभव अनन्त रूप में है, सात्वत मत में अनिरुद्ध के द्वारा इसका विस्तार हुआ है। यही बात अन्यत्र कुछ अधिक स्पष्ट रूप में की गयी है[4]—

विभारप्यनिरुद्धस्य हिताय जगतां हरेः।
प्रसारो विभवो नाम पद्मनाभादयः स्मृताः॥

उल्लेखनीय है कि लक्ष्मी तंत्र में ही इस बात का संकेत है कि जो विभव नाम से ख्यात है, वे विशाख्यूप की स्फूर्तियों के रूप में है[5]—

विभोर्विशाख्यूपस्य तत्तत्कार्यवशादिमे।
स्फूर्तयो विभवाः ख्याताः कार्यं चैषामसंकरम्॥

---

1. **श्रीमद्भागवत पुराण**, 10.8.13
2. स्रष्टा पालयिता चाहं संहर्ता पुनरेव च।
   स्वकीययोगयुक्त्या तु स्थूलरूपेण नारद॥
   सूक्ष्मेण सर्वभूतानां निवसामि हृदन्तरे।
   करोम्यनुग्रहं चापि भक्तानां भावितात्मनाम्॥
   परेणानन्दरूपेण व्यापकेनामलेन च।
   व्यासयाम्यखिलं विप्र रसेनेव तरूत्तमम्॥ **जयाख्य सं०**, 4.23-25
   त्रिविधं चातुरात्म्यं तु सुषुप्त्यादिपदत्रिके।
   सुव्यक्तं तत्पदे तुर्ये गुणलक्ष्यं परं स्थितम्॥ **लक्ष्मी तन्त्र**, 10.42
   पराद्यर्चावतारेऽस्मिन मम् रूपचतुष्टये।
   तुर्याद्यवस्था विज्ञेया इतीयं शुद्धपद्धतिः॥ **तत्रैव**, 2.61. और **तत्व**, पृ० 133-134
3. **लक्ष्मी तन्त्र**, 2-58-59
4. **तत्रैव**, 4-29
5. **लक्ष्मी तन्त्र**, 11.26

सर्वाधिक रोचक बात पाद्म संहिता में मिलती है जहाँ चतुर्व्यूहों से प्रथम व्यूह अर्थात् वासुदेव से मत्स्य, कूर्म और वराह विभव आविर्भूत हुए। द्वितीय व्यूह संकर्षण से नृसिह, वामन, श्रीराम और परशुराम विभव आविर्भूत हुए। तृतीय व्यूह प्रद्युम्न से बलराम नामक विभव तथा अनिरुद्ध नामक चतुर्थ व्यूह से श्रीकृष्ण और कल्कि विभवों का आविर्भाव माना गया है।[1]

विभव-नाम-सूचि : पचारात्रागमों में

संख्या	सात्वत संहिता	अहिर्बुध्न्य संहिता	लक्ष्मी तंत्र
1.	पद्मनाभ	पद्नाभ	पद्मनाभ
2.	ध्रुव	ध्रुव	ध्रुव
3.	अनंत	अनंत	अनंत
4.	शक्त्यात्मा	शक्त्यात्मन्	शक्तीशः
5.	मधुसूदन	मधुसूदन	मधुसूदन
6.	विद्याधिदेव	विद्याधिदेव	विशाधिदेव

1. वासुदेवाच्च तन्नाम्ना तथा संकर्षणादपि।
प्रद्युम्नादपि तन्नाम्ना तन्नाम्नेवानिरुद्धकात्॥
अभूवन् क्रमशस्तेभ्यश्चतुर्भ्यः पुरुषोत्तमाः।
अधोक्षजो नृसिंहश्च चतुर्थश्चाच्युतौ मतः॥
चतुर्भ्य एव तेभ्योऽमीजज्ञिरे च यथाक्रमम्।
जनार्दनस्तथोपेन्द्रो हरिः कृष्ण. समाख्यया॥
वासुदेवादादिदेवान्मूर्त्यष्टकमजायत।
ब्राह्मी च मूर्तिः प्रथमा प्राजापत्या च वैष्णवी॥
दिव्या चार्षी मानुषी च सप्तमी चासुरी मता।
पैशाची चरमा तासां मूर्तीनामपरा दश॥
मीनाद्या जज्ञिरे विप्र चतुर्व्यूहाद्यथाक्रमम्।
मत्स्यः कूर्मो वराहश्च वासुदेवादजायत॥
नृसिंहो वामनो रामो जामदग्न्योऽप्यजायत।
संकर्षणात्तथा जज्ञे प्रद्युम्नाद्राघवो बली॥
अनिरुद्धादभूत्कृष्णः कल्कीति दश मूर्तयः।
संकर्षणाच्च पुरुषः सत्यः प्रद्युम्नसम्भवः॥

पाद्म संहिता (ज्ञानपाद), 2.26-33 एवं आगे

संख्या	सात्वत संहिता	अहिर्बुध्न्य संहिता	लक्ष्मी तन्त्र
7.	कपिल	कपिल	कपल
8.	विश्वरूप	विश्वरूप	विश्वरूप
9.	विहंगम	विहंगम	विहंगम
10.	क्रोडात्मा	क्रोडात्मन्	क्रोडात्मन्
11.	बडवावक्त्र	बडवावक्त्र	बडवावक्त्र
12.	धर्म	धर्म	धर्म
13.	वागीश्वर	वागीश्वर	वागीश्वर
14.	एकार्णववश	एकार्णबशायिन	एकार्णवान्तःशायी
15.	कूर्म	कमठेश्वर	कमठ
16.	वाराह	वराह	यज्ञवराह
17.	नरसिंह	नारसिंह	नृसिंह
18.	अमृताहरण	पीयूषाहरण	अमृताहरण
19.	श्रीपति	श्रीपति	श्रीपति
20.	कान्तात्मा	कान्तात्मन्	कान्तात्मा
21.	राहुजित्	राहुजित्	राहुजित्
22.	कालनेमिघ्न	कालनेमिघ्न	कालमेध्नि
23.	पारिजातहर	पारिजातहर	पारिजातहर
24.	लोकनाथ	लोकनाथ	लोकनाथ
25.	शान्तात्मा	शान्तात्मन्	दत्तात्रेय
26.	दत्तात्रेय	दत्तात्रेय	न्यग्रोधशायी
27.	न्यग्रोधशायी	न्यग्रोधशायिन्	एकशृंगतनु
28.	एकशृंगतनु	एकशृङ्गतनु	वामनः
29.	वामनदेह	वामनदेह	त्रिविक्रम
30.	त्रिविक्रम	त्रिविक्रम	नर
31.	नर	नर	नारायण
32.	नारायण	नारायण	हरि
33.	हरि	हरि	कृष्ण
34.	कृष्ण	कृष्ण	परशुराम
35.	परशुधृगराम	परशुराम	श्रीराम
36.	रामधनुर्धर	रामधनुर्धर	वेदवित्व

संख्या	सात्वत संहिता[1]	अहिर्बुध्न्य संहिता[2]	लक्ष्मी तन्त्र[3]
37.	वेदविद्	वेदविद	कल्कि
38.	कल्की	कत्विन्	पातालशयन:
39.	पातालशयन	पातालशयन	

विभव नामों की जो सूची हमने सात्वत, अहिर्बुध्न्य एवं लक्ष्मी तन्त्र के आधार का तैयार की है, उसके अनुसार 39 विभव देवताओं का परिचय मिलता है। इन तीनों ही संहिताओं में जो नाम मिलते हैं वे प्राय: समान हैं। लक्ष्मी तंत्र में 38 और सात्वत तथा अहिर्बुध्न्य में 39 विभवों के नाम मिलते हैं तथा ऐसे

1. पद्मनाभादयो देवा वाच्यास्तेषां क्रमेण तु ।
पद्मनाभो ध्रुवोऽनन्त: शक्त्यात्मा मधुसूदन: ।।
विद्याधिदेव: कपिलो विश्वरूपो विहङ्गम: ।
क्रोडात्मा बडवावक्त्रौ धर्मो वागीश्वरस्तथा ।।
देव एकार्णवशय: कूर्म: पातालधारक: ।
वाराहो नरसिंहश्चाप्यमृताहरणस्तु वै ।।
श्रीपतिर्दिव्यदेहो ऽथ कान्तात्मामृतधारक: ।
राहुजित् कालनेमिघ्न: पारिजातहरौ महान् ।।
लोकनाथस्तु शान्तात्मा दत्तात्रेयौ महाप्रभु: ।
न्यग्रोधशायी भगवानेकश्रृंगतनुस्तत: ।।
देवो वामनदेहस्तु सर्वव्यापी त्रिविक्रम: ।
नरो नारायणश्चैव हरि: कृष्णस्तथैव च ।।
ज्वलत्परशुधृगरामो रामश्चान्यो धनुर्धर: ।
वेदविद् भगवान् कल्की पातालशयन: प्रभु: ।।

सात्वत संहिता, 9.77-83

2. विभवा: पद्मनाभाद्यास्त्रिशच्च नव चैव हि ।
पद्मनाभो ध्रुवोऽनन्त: शक्त्यात्मा मधुसूदन: ।।
☒ ☒ ☒
त्रिंशच्च नव चैवैते पद्मनाभादयो मत: ।

अहिर्बुध्न्य संहिता, 5.50-57 अ

3. लक्ष्मी तन्त्र, 11.19-25

निर्देश भी हैं।[1] रोचक बात यह है कि सात्वत संहिता में विभव देव के बीजोद्धार-क्रम की बात की गयी है।[2] तदनुसार सर्वेश्वर विशाखयूप के बीज रूप में अञ्जनाभ अथवा पद्मनाभ आदि विभवों के बीज मंत्रों का उद्धार-क्रम संकेतित है। सात्वत संहिता के टीकाकार अलशिंग भट्ट ने इन बीज मन्त्रों का निर्देश भी किया है।[3] यहाँ भी 38 बीजों की बात की गयी है। अलशिंग भट्ट के ही अनुसार शान्तात्मा लोकनाथ का विशेषण है। इस प्रकार पद्मनाभ से लेकर पातालशयन या पातालशयनान्त तक 38 विभव देव ज्ञेय हैं। लक्ष्मी तंत्र में तो स्पष्ट रूप से 38 संख्या निर्दिष्ट है—**त्रिंशच्चाष्टाविमे देवाः पद्मनाभादयो मताः**।[4] किन्तु अहिर्बुध्न्य संहिता के पांचवे अध्याय में स्पष्ट रूप से 'त्रिंशच्चनव'=39 विभव की बात की गयी है।[5]

वरवर मुनि कृत तत्वत्रय-भाष्य में दीप से दीप की भाँति अनिरुद्ध के कारण पद्मनाभादिक 36 प्रधान विभवों की बात कही गयी है।[6] अलशिंग भट्ट ने तत्वत्रय भाष्य में निर्दिष्ट सन्दर्भ को विष्वक्सेन संहिता का वाक्य बताया है।

---

1. **सात्वत संहिता** के नवम् परिच्छेद (77-83) में 39 विभव नाम की गणना की जा सकती है। इसी तरह अहिर्बुध्न्य संहिता (5.50-56) में भी 49 नाम मिलते हैं। किन्तु लक्ष्मी तन्त्र में 38 नाम मिलते हैं।
2. पूजनात् परमेशत्वमचिरादेव गच्छति।
   श्रृणु तद्बीजनिचयं सावधानेन चेतसा॥

   सात्वत संहिता, 9.60 एवं आगे
3. **तत्रैव**, पृ० 183, 184 पर आलशिंग भट्ट की टीका।
4. **लक्ष्मी तंत्र**, 11.25
5. विभवाः पद्मनाभाद्यस्त्रिंशच्च नव चैव हि।
   पद्मनाभो ध्रुवोऽनन्तः शक्त्यात्मा मधुसूदनः॥
   × × ×
   त्रिंशच्च नव चैवेते पद्नाभादयो मता।

   अहिर्बुध्न्य संहिता, 5.50-57 अ
6. पद्मनाभादिकाः सर्वे वैभवीयास्तथैव च।
   षट्त्रिंशत्संख्यासंख्याः प्राधान्येन गणेश्वर॥
   षट्त्रिंशद्भेदभिन्नास्तु पद्मनाभादिकाःसुराः।
   अनिरुद्धात् समुत्पन्ना दीपाद्दीप इवेश्वराः॥

   सात्वत सं०, पृ० 186 पर तत्त्व०, पृ० *134*

उक्त विवरण से शंका होती है कि विभव 38 थे या 39। आचार्य अलशिंग भट्ट के अनुसार विशाखयूप विभव देवताधिपति है और उसे मिलाकर कुल संख्या 39 होती है। वास्तव में अलशिंग भट्ट की यह टिप्पणी समीचीन लगती है कि लक्ष्मी तन्त्र में विशाखयूप का पृथक निर्देश करके पद्मनाभ आदि 38 विभवों की गणना की गयी है।[1] सात्वत संहिता में भी यही बात दिखाई देती है जो वस्तुतः सूक्ष्म दृष्टि से बोधगम्य है, लेकिन अहिर्बुध्न्य संहिता में विशाखयूप का पृथक निर्देश न करके पद्मनाभ पद से उसका भी ग्रहण किया गया है। सात्वत संहिता की एक उक्ति—**त्रयाणां मुख्य पूर्वाणां ध्रुवान्तानां पुरोदितम्**[2] को उद्धृत करते हुए डा० अशोक कालिया का कथन है,—"यदि पद्मनाभ पद से विशाखयूप का भी ग्रहण न किया जाय तब तो अहिर्बुध्न्य संहिता की विभव सूची में ध्रुवान्त तीन विभव होंगे ही नहीं, पद्मनाभ और ध्रुव ये दो विभव ही ध्रुवान्त होंगे। अतः सात्वत संहिता की उक्ति का औचित्य जानने के लिए आवश्यक है कि विशाखयूप को भी विभव माना जाय और पद्मनाभ पद से विशाखयूप को ग्रहण किया जाय।"[3]

पारमेश्वर संहिता व ईश्वर संहिता में अब्जनाभ और पद्मनाभ पद पर्याय माने गये हैं।[4] अब्जनाभ से यहाँ विशाखयूप नामक विभव का अर्थ ग्रहण किया गया है। कालिया का कहना है कि यदि अब्जनाभ विशाखयूप हो सकता है तो उसका पर्याय पद्मनाभ भी विशाखयूप हो सकता है। अतः अहिर्बुध्न्य संहिता में भी पद्मनाभ पद से विशाखयूप ग्रहण किया जाना चाहिए। ऐसा होने पर 39 विभवों की सूची सरलता से तैयार हो जायेगी। लेकिन विशाखयूप को हम यदि प्रथम विभव मान लेते हैं तो अहिर्बुध्न्य संहिता के आधार पर श्रेडर द्वारा कथित शान्तात्मा नामक पच्चीसवें विभव को ध्यान में रखते हुए कुल संख्या

---

1. एवं चात्र पद्मनाभादिपातालशयनान्ता अष्ट" त्रिंशद्विभवदेवा ज्ञेयाः। तथा च लक्ष्मीतन्त्रे "पद्मनाभो ध्रुवोऽनन्तः" (11.19) इति प्रक्रम्य "त्रिंशच्चाष्टाविमे देवाः पद्मनाभादयो मताः" (11.25)।
   द्रष्टव्य, **सात्वत संहिता**, पृ० 185

2. **तत्रैव**, 12.3

3. **लक्ष्मी तंत्र : धर्म और दर्शन**, पृ० 78, यहाँ पारमेश्वर संहिता की यह उक्ति भी विचारणीय है—'अब्जनाभं परं चैव पद्मनाभं ध्रुवं तथा'।
   पारमेश्वर सं०, 16.159

4. **पारमेश्वर संहिता**, 16.159; **ईश्वर संहिता**, 10.174

40 हो जायेगी। शान्तात्मा वस्तुतः लोकनाथ का विशेषण है—**लोकनाथस्तु शान्तात्मा दत्तात्रेये महाप्रभुः** ।[1] इस तरह 39 की संख्या ही सत्य है।

इन 39 विभव देवताओं में विष्णु के सभी प्रमुख अवतारों के नाम आ जाते हैं। साथ ही कूर्म, वराह, नृसिंह, वामन, कृष्ण, परशुराम, राम धनुर्धर, कल्कि आदि दशावतार भी विभव रूप में निर्दिष्ट हैं। ध्यातव्य है कि इनमें ई० पश्चात् की शताब्दियों (प्रमुखतया गुप्तकाल) में वराह एवं नृसिंह अवतार अत्यन्त लोकप्रिय थे।[2] क्योंकि इस कालावधि में इन दोनों ही अवतार की मूर्तियाँ विभिन्न स्थानों से उपलब्ध हुई हैं।

यह सर्व विदित है कि अवतारवाद का सिद्धान्त भागवत पाञ्चरात्र मत का एक प्रमुख वैशिष्ट्य है। श्रीमद्भगवद्गीता[3] में साधुजनों के परित्राण आदि के लिए ब्रह्म अवतार रूप में प्रकट होता है। पाञ्चरात्र मत में वैष्णव भक्तों पर अनुग्रह करने के लिए ही ईश्वर, पर, व्यूह, अर्चा एवं अन्तर्यामी रूपों को स्वीकार करता है—

> अनुग्रहाय जीवानां भक्तानामनुकम्पया।
> पर व्यूहादिभेदेन देवेदेव प्रवृत्तयः ॥ लक्ष्मी तंत्र, 11.14

यह बात लोकाचार्य द्वारा भी संकेत रूप में कही गयी है—**फलं साधु परित्राणात्रियम्**।[4] निश्चय ही यह अवतरण ब्रह्म का विभव (विशिष्ट भवन) है। इन विभवों की शक्तियों के नाम भी मिलते हैं। इस तरह वे शक्ति-संपन्न बताये गये हैं। विभव शक्तियों के नाम इस प्रकार हैं—

1. धी, 2. तारा, 3. वारुणी, 4. शक्ति, 5. पद्मा, 6. विद्या, 7. संख्या, 8. विश्वा, 9. खगा, 10. भू, 11. गौ, 12. लक्ष्मी, 13. वागीश्वरी, 14. अमृता, 15. धरणी, 16. छाया, 17. नारसिंही, 18. सुधा, 19. श्री, 20. कीर्ति, 21. विश्वकामा, 22, मा, 23. सत्या, 24. कान्ति, 25. सरोरुहा, 26. माया, 27. पद्मासना, 28. खर्वा, 29. विक्रान्ति, 30. नरसम्भवा, 31. नारायणी, 32. हरिप्रीति, 33. गान्धारी, 34. काश्यपी, 35. वैदेही, 36. वेदविद्या, 37. पद्मिनी, 38. नागशायिनी।

> धीस्तारा वारुणी शक्तिः पद्मा विद्या तथैव च।
> संख्या विश्वा खगा भूगौर्लक्ष्मीर्वागीश्वरी तथा ॥

---

1. **सात्वत संहिता**, 9.81 तथा **अहिर्बुध्न्य संहिता**, 5.54
2. एस० **चट्टोपाध्याय, इवोल्यूशन ऑफ हिन्दू सेक्ट्स**, पृ० 62-63
3. **गीता**, 4.7-8
4. **तत्वत्रय**, पृ० 138

अमृता धरणी छाया नारसिंही सुधा तथा।
श्रीः कीर्तिर्विश्वकामा मा सत्या कान्तिः सरोरुहा ॥
माया सद्मासना खर्वा विक्रान्तिर्नरसंभवा।
नारायणी हरिप्रीतिर्गान्धारी काश्यपी तथा।
वैदेही वेदविद्या च पद्मिनी नागशायिनी।
मदशंका इमा देव्यो विज्ञेयाः कादिशक्तयः ॥

लक्ष्मी तंत्र, 20.45-48

व्यूह, व्यूहान्तर की तरह विभव, विभवान्तर पर भी पाञ्चरात्र संहिताओं में विचार किया गया है। देव अथवा नर रूप में आविष्ट होकर जब ब्रह्म संसार का कल्याण करता है तो उसके उस स्वरूप को विभवान्तर कहा जाता है। विभवान्तर के लिए आवेशावतार पद का प्रयोग होता है जो आवेश देवता, मनुष्य रूप में होता है वह द्विविध है—स्वरूपावेश और शक्त्यावेश।[1]

विभव नाम सूची देखने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इसमें अनेक नाम ऐसे हैं जो पौराणिक वैष्णवावतारों के रूप में परिगणित हैं।[2] लोकप्रसिद्ध दशावतारों में कूर्म, वराह, नृसिह, वामन, कृष्ण, परशुराम, रामधनुर्धर एवं कल्कि

---

1. आविश्या कुरुते यत्र देवनरादिकम्।
जगद्धितं जगन्नाथस्तज्ज्ञेयं विभवान्तरम् ॥ **लक्ष्मी तंत्र**, 4.30
यांस्तु लोकोत्तरान् महनीयांश्च देवमनुष्यादीन् स्वशक्त्यांशेन वाविश्य जगद्धितं भगवान् करोति, ते विभवान्तरपदवाच्या···।
लक्ष्मी तंत्र, उपोद्घात, टीका, द्रष्टव्य, पृ० 20
वरवर मुनि कृत तत्वत्रय भाष्य भी इस प्रसंग में ध्यातव्य है—
"इति चोक्तप्रकारेण विभवः परिगणना शक्यो नन्तो, गौणमुख्यभेदेन द्विविधश्चेत्यर्थः...गौण आवेशावतारः मुख्यः साक्षावतारः आवेशश्च स्वरूपावेशशक्त्याबेश इति द्विविधः···। **तत्वत्रय** पृ० 130

2. ऐसा प्रतीत होता है कि विष्णु के दस प्रमुख अवतारों की मान्यता महाभारत के समय में ही प्रतिष्ठित हो चुकी थी। शान्ति पर्व (33वां अध्याय) के दाक्षिणात्य पाठ में (76वें तथा 77वें श्लोकों के बीच में) विष्णु के इन अवतारों की इस प्रकार परिगणना है—
मत्स्यः कूर्मो वराहश्च नारसिंहोऽथ वामनः।
रामो रामश्च रामश्च कृष्णः कल्कीति ते दश ॥
विस्तार के लिए द्रष्टव्य, डा० गया चरण त्रिपाठी, **वैदिक देवता उद्भव और विकास, भाग 1** पृ० 282-283 एवं आगे।

के नाम तो स्पष्ट रूप से मिलते हैं। बुद्ध भी संकेत रूप में शान्तात्मा लोकनाथ के रूप में निर्दिष्ट हैं।[1] जहाँ तक श्रीकृष्ण का प्रश्न है वह स्पष्ट रूप से उल्लिखित है ही उसे पारिजातहर भी कहा गया और सात्वत संहिता में उल्लिखित नर, नारायण, हरि और कृष्ण यह विभवान्तर चतुष्टय भी ध्यातव्य है।[2] यहाँ कृष्ण को वसुदेवात्यन न समझ नर धर्मात्मज समझना चाहिए। पौष्कर संहिता का निम्न कथन द्रष्टव्य है।[3]—

धर्मात्मा भगवान् विष्णुः प्रादुर्भावं च शाश्वतम्।
प्रादुर्भूतं हि वै यस्मान्नराधं कृष्ण पश्चिमम्॥

1. द्रष्टव्य, **सात्वत संहिता**, उपोद्घात, पृ० 32 तथा सात्वत संहिता, 12. 108-110
2. देवो वामनदेहस्तु सर्वव्यापी त्रिविक्रमः।
नरो नारायणश्चैव हरिः कृष्णस्वथैव च॥ सात्वत सं०, 9.82
3. **पौष्कर संहिता**, 36.207

तृतीय अध्याय

व्रत एवं उत्सव

पाञ्चरात्र परम्परा में व्रत एवं उत्सव पूजा-विधान एवं कर्मानुष्ठान के अपरिहार्य अंग रहे हैं। उत्सव पाञ्चरात्र मन्दिरों से सम्बद्ध वर्ष भर चलने वाले पर्व हैं जिनमें सामान्यता अंकुरार्पण, ध्वजारोहण, आवाहन एवं प्रतिसरबन्ध इत्यादि भी सम्मिलित हैं। पाञ्चरात्र परम्परा के नित्य, नैमित्तिक एवं काम्य उत्सवों के परिचायक हैं; जबकि व्रत इस परम्परा में प्रायः अर्ध धार्मिक अथवा कर्तव्यातिरिक्त स्वभाव को व्यक्त करते हैं और एक दिन से एक मास अथवा एक मास से एक सम्वत्सर तक अर्थात् एक निश्चित अवधि तक करणीय समझे जाते हैं।

व्रत एवं उत्सव-विधान सम्बन्धी स्रोत-सामग्री पाञ्चरात्र आगम में भरी पड़ी है जिस पर हम अगले पृष्ठों पर विचार कर ही रहे हैं। एतत्सम्बन्धी विविध पद्धतियां और संकलन भी इन शास्त्रों से अलग करके यथा समय प्रकाश में लायी जाती रही हैं। उदाहरण के लिए आचार्यों की व्रत सम्बन्धी ऐसी कृतियों के अतिरिक्त गोपीनाथ कविराज द्वारा सम्पादित व्रतकोश (सरस्वती भवन सीरीज, वाराणसी) अत्यन्त महत्वपूर्ण है, जिसमें 1622 व्रतों की गणना की गयी है। डॉ० पाण्डुरंग वामन काणे ने अपने धर्म शास्त्र के इतिहास में इस पर विस्तार से विमर्श किया है।[1] इसी तरह उत्सव-क्रिया पर भी बहुविध शास्त्र उपलब्ध हैं। पाञ्चरात्र उत्सवों की महत्ता एवं उनके स्वरूप आदि के विवरण जो विभिन्न पाञ्चरात्र संहिताओं में प्राप्त हैं उन्हें उत्सव-संग्रह नाम से संकलित किया गया है।[2] इस सन्दर्भ में उमानन्द नाथ रचित 'नित्योत्सव' नामक ग्रन्थ भी उल्लेखनीय है।[3]

व्रत-चर्या एवं उत्सव-क्रिया, प्रो० विश्वम्भर शरण पाठक के मतानुसार, मूलतः समूह कृत्य रहे हैं। उनसे सामान्य धार्मिक संस्कृति में प्रचलित प्रमुख

---

1. **धर्मशास्त्र का इतिहास**, भाग 1, प्रथम चार अध्याय
2. **श्री पाञ्चरात्र महोपनिषद् उत्सव संग्रह**, मैसूर 1956
3. उमानन्द नाथ, **नित्योत्सवः**, (परशुरामकल्पसूत्र की परिशिष्ट, सम्पादक ए० महादेव शास्त्री) बड़ौदा, 1923

प्रवृत्तियों का बोध होता है। व्रतों एवं उत्सवों के अभ्युदय के आधार पर विभिन्न सामाजिक धार्मिक रीतियों के उत्थान एवं पतन के संकेत मिलते हैं और उनके विश्लेषण से विभिन्न सामाजिक-धार्मिक तत्व प्रकाश में आते हैं।[1] पूर्व मध्य काल में ब्राह्मण परम्परा की जो स्थिति दिखायी देती है वह बहुत कुछ वैदिक परम्परा और आगम-सम्प्रदायों से ग्रहण की गयी प्रतीत होती है। इन अन्तर्विरोधी परम्पराओं के सम्बन्ध में विवाद एवं समन्वय की प्रवृत्ति अत्यन्त प्राचीन काल से रही है।[2]

विवेच्य अध्याय में पाञ्चरात्र-परम्परा में व्रत एवं उत्सव के विवेचन के प्रसंग में प्रथमतः व्रत तत्पश्चात् उत्सव, उनके अभिप्राय, स्वरूप एवं महत्व आदि का अध्ययन उपयोगी होगा।

व्रत

अभिप्राय

व्रत शब्द वैदिक है और ऋग्वेद में भी इस शब्द के बहुशः प्रयोग मिलते हैं। सम्बन्धी वैदिक संहिताओं में व्रत शब्द दैवी आदेश या आचरण सम्बन्धी नैतिक विधियों के अर्थ में आया है।[3] ऋग्वेद में अग्नि और सूर्य आदि देवताओं को 'व्रतपा' तथा 'व्रतपति' कहा गया है।[4] यहां 'व्रतानि' शब्द भी मिलते हैं जो विभिन्न प्रकार के व्रतों का बोधक है। उत्तर वैदिक संहिताओं, ब्राह्मणों एवं उपनिषदों में डॉ० काणे के विचार से, बहुधा अधिक स्थलों पर 'व्रत' दो अर्थों में प्रयुक्त हुआ है यथा—(1) धार्मिक कृत्य या संकल्प या आचरण तथा भोजन सम्बन्धी रोग (जबकि व्रत धारण किया जाता है) अथवा (2) विशिष्ट

---

1. प्रो० विश्वम्भर शरण पाठक, **स्मार्त रेलिजियस ट्रेडीशन**, पृ० 112
   The observance of VRATAS (vows) and the celebration of UTSAVAS (festivals) are primarily communal functions. They express major trends and stands in popular religious culture. Their evolution may indicate rise and fall of various socio-religious tendencies whereas their analysis may unfold different elements of socio-religious complex.
2. विस्तार के लिए द्रष्टव्य, तत्रैव, पृ० 113-113
3. **धर्म शास्त्र का इतिहास**, भाग 1 पृ० 7
4. द्रष्टव्य **तत्रैव**, ऋग्वेद नामानुक्रमणी, (होशियारपुर संस्करण); **वैदिक कोश** (सूर्यकान्त) में "व्रत" शब्द।

भोजन जो किसी धार्मिक कृत्य या संकल्प में संलग्न व्यक्ति के लिए व्यवस्थित किया जाता है, यथा—गाय का दूध, यवागू (जौ की लपसी या मांड) या गरम दूध या दधि का मिश्रण[1] (आमिश्रा) आचार्य यास्क ने निरुक्त में ये दोनों अर्थ दिये गये हैं—

व्रतमिति कर्मनाम निवृत्तिकर्म वारयतीति सतः।
इदमपीतरद् व्रतमेतस्मादेव वृणोतीतिःसतः।
अन्नमपि व्रतमुच्यते, यदावृणोति शरीरम्।[2]

इसमें सन्देह नहीं कि व्रत शब्द की व्युत्पत्ति अत्यन्त विवादास्पद रही है। सामान्यतः 'व्रत' शब्द वरण करने अथवा चुनने के अर्थ में वृ धातु (वृञ-वरणे) से निष्पन्न माना जाता है।[3] डॉ० काणे ने विभिन्न भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों द्वारा किये गये 'व्रत' शब्द के विवेचन पर विस्तार पूर्वक प्रकाश डाला है साथ ही वैदिक साहित्य, सूत्रों तथा स्मृतियों में प्रयुक्त व्रत नियमों एवं तत्सम्बन्धी होम एवं पूजा, व्रतों के अंग, माहात्म्य इत्यादि पर विस्तृत प्रकाश डाला है।[4] हमारा प्रतिपाद्य चूंकि वैष्णव-पाञ्चरात्र – आगम परम्परा में व्रतचर्या का पर्यालोचन है अस्तु व्रत का मूलार्थ और उसके आरम्भिक अर्थ-विकास पर विचार न करते हुए हम स्मार्त धार्मिक परम्परा में व्रतों की स्थिति एवं उसकी पृष्ठ भूमि सम्बन्धी प्रो० पाठक के विचार उल्लेखनीय समझते हैं। उनके विचार से प्रारम्भ में स्मार्त व्रत कतिपय धार्मिक अनुष्ठानों विशेषकर ज्योतिष परक महत्व के नक्षत्रों एवं शुभतिथियों से सम्बद्ध दिखाई देते हैं। कालान्तर में भक्ति की महिमा से जुड़े और आगम परम्परा की उत्पत्ति वाले व्रत स्मार्त परम्परा में प्रचलित हुए।[5] कतिपय उत्तर कालीन स्मृतियों में आगम परम्परा के व्रत सम्मिलित हैं। यथा—वृद्ध हारीत स्मृति के छठवें अध्याय में वैष्णवों के रथयात्रा समारोह का विस्तार से वर्णन है। वहां एकादशी-व्रत के विवेचन में निम्नलिखित वचन मिलता है—

एकादश्युपवासश्च शंखचक्रादिधारणम्।
तुलस्याः पूजनं विष्णोस्त्रितयं वैष्णवं स्मृतम्॥

---

1. काणे, **तत्रैव**, पृष्ठ 8
2. **निरुक्त**, 2.14
3. देखिये, **सेन्ट पीटर्सबर्ग-कोश** में 'व्रत' शब्द।
4. **धर्म शास्त्र का इतिहास**, भाग 1 के प्रथम एवं द्वितीय अध्याय इस सन्दर्भ में पठनीय हैं।
5. **स्मार्त रेलिजियस ट्रेडीशन**, पृ० 113

ऋग्वेद (10.65.11) में आर्य-व्रत समस्त पद मिलता है जिसका अभिप्राय है आर्यों के सामाजिक एवं धार्मिक कर्तव्य अथवा आर्य संस्कृति की नीतिगत पद्धति ।[1] सूत्रों (विशेष कर गौतम, viii.15) में वेद-व्रत का उल्लेख है। आश्वलायन स्मृति के अनुसार ये व्रत हैं—1. महानाम्नि, 2. महाव्रत, 3. उपनिषद् एवं 4. गोदान ।[2]

स्पष्ट है कि वैष्णव व्रत-चर्या का आरम्भ ईसवी पश्चात् की शताब्दियों में हो चुका था और आगम परम्परा का प्रभाव इस पर परिलक्षित होता है। पाञ्चरात्र संहिताओं में व्रत-चर्या का हमें विशद वर्णन प्राप्त हैं।

व्रत-चर्या :पाञ्चरात्रागमों में

सात्वत संहिता के सप्तम परिच्छेद का नाम है व्रत-विधि। इसमें व्रताख्य कर्म का वर्णन है। इसके अनुसार पाप को नष्ट करने के लिए पुण्यदायी व्रत उपयोगी हैं। व्रत शीघ्र ही अभीष्ट वस्तु की सिद्धि को प्रदान करने वाले हैं।[3] सात्वत संहिता के सप्तम परिच्छेद में ऐसे व्रत वर्णित हैं जिनका प्रयोग ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र सभी वर्ण के लोग कर सकते हैं, अर्थात् ये व्रत सर्वसामान्य एवं साधारण हैं जिनके प्रयोग में मंत्र की उपयोगिता नहीं है।[4] इसके विपरीत इस संहिता के द्वितीय परिच्छेद में मंत्र युक्त व्रत वर्णित हैं जिनके प्रयोग में मंत्र की उपयोगिता है और इन व्रतों का अधिकारी मात्र ब्राह्मण ही है, अन्य वर्ण नहीं।[5]

सात्वत संहिता में अन्यत्र 13 महीने में पड़ने वाले व्रतों का तथा चतुर्व्यूहों से सम्बद्ध व्यूहों का निरन्तर वर्णन है।[6]

---

1. द्रष्टव्य **बुलेटिन ऑफ डेकन कालेज रिसर्च इन्स्टीट्यूट,** (पूना) 11 पृ० 478—**स्मार्त्त रेलिजियस ट्रेडीशन,** पृ० 112-113, पा० टि० 1 पर उद्धृत।
2. डॉ० पाठक **तत्रैव** तथा अन्य सन्दर्भों के लिए 122-123
3. श्रुणु ब्रह्मयं पुण्यमपुण्यचयदारकृतम्।
   तत्त्वतः प्रतिपन्नानामचिरादेव सिद्धिदम्॥
   सात्वत संहिता, परिच्छेद 7.2
4. व्रतमेतदमन्त्रं च सामान्यं सार्वलौकिकम्। **तत्रैव,** 8.1
5. सात्वत संहिता, 2.8-10
6. **तत्रैव,** 7.1-125, 8.3-143, 8.144-157

पाद्म संहिता के अनुसार व्रत धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष के फल को देने वाला है।[1] इसी संहिता में व्रत को सभी अभीष्ट फल को प्रदान करने वाला बताया गया है।[2] पाद्म संहिता में ही अन्यत्र वर्ष के सभी महीनों के व्रतों तथा प्रत्येक पक्ष के तिथि-व्रतों और उनके मंत्रों का निर्देश मिलता है।[3]

लक्ष्मी तन्त्र के वचनानुसार व्रत शब्द 'पुरश्चरण' का आभ्यन्तरवर्ती है। पण्डित वी. कृष्णमाचार्य ने लक्ष्मी तंत्र में समागत पुरश्चरण शब्द की व्याख्या करते हुए लिखा है कि गुरु के उपदेश से गृहीत मंत्र का अपने इच्छित फल की सम्प्राप्ति के लिए किया गया व्रत, होम आदि पुरश्चरण है।[4] लक्ष्मी तंत्र में इसी सन्दर्भ में आगे तारा एवं तारिका मंत्रों तथा प्रयोगों का विधान मिलता है।[5]

पारमेश्वर संहिता के त्रयोदश अध्याय में व्रत-चर्या का विस्तार से वर्णन है।[6] इसी सन्दर्भ में कहा गया है कि शास्त्र विधि से सम्पन्न व्रत का आचरण करना चाहिए। तदुपरान्त ब्राह्मणों को भोजन, दक्षिणा आदि से प्रसन्न करके उनका विसर्जन करना चाहिए और इस तरह चातुर्मास्य व्रत सम्पन्न करना चाहिए। इससे जन्म कृतार्थ हो जाता है।

विभिन्न व्रत

1. आरोग्य काम व्रत

इस व्रत का वर्णन पाद्म संहिता के चर्यापाद के 115 वें श्लोक के उत्तरार्द्ध से 118 तक के श्लोकों में किया गया है। इस व्रत का अनुष्ठान रोगों से निर्मुक्त रहने की अभिलाषा वाला व्यक्ति करता है। यहां यह समर्थित किया गया है कि रक्त-कमल के आसन पर आसीन, पीत वर्ण के रेशमी वस्त्र को धारण किये हुए, दिव्य अलंकारों से विभूषित, लक्ष्मी से सेवित, कल्याण के निधान, अष्ट शक्ति से संयुक्त, भगवान भास्कर का ध्यान करने से व्यक्ति परम आरोग्यता को प्राप्त करता है। इस आरोग्यता की प्राप्ति का कोई दूसरा

---

1. चतुवर्गफलप्रदम्। पाद्म सं०, (चर्या०) 15.134
2. वही, अ 15.2
3. वही, 15.1—136, 30.1-203
4. पुरश्चरणं नाम गुरूपदेशात् गृहीतस्य मन्त्रस्य स्वभीष्टफलप्रदत्वसंपादनार्थं क्रियमाणो व्रतहोमादिः। **लक्ष्मी तंत्र**, 42.2 की व्याख्या।
5. द्रष्टव्य, **लक्ष्मी तंत्र** 42-2-43 तथा 43-78
6. **पारमेश्वर संहिता**, (क्रिया-काण्ड), 13.113-115

सांसारिक संसाधन नहीं है ।[1]

लभते तत्तदेवेह फलभेदैः किमीरितैः ।
आरोग्यकामस्सावित्रे मण्डले रक्तपंकजे ।।
आसीनं विष्टरे पीतकौशेयवसनं हरिम् ।
निष्टप्ततपनीयाभ चतुर्भुजधोक्षजम् ।।
प्रसादसुमुखं सेव्यं दिव्याभरण भूषितम् ।
देवीसहायं कल्याण केवलं वा चतुर्मुखम् ।।
पूर्वाद्यष्टदलासीनं शक्त्यष्ट समुपासितम् ।
एवं ध्यात्वार्चयेन्नित्यमारोग्यं परमश्नुते ।।

2. चातुर्मास व्रत

चातुर्मास व्रत का विधान आषाढ़ शुक्ल एकादशी से कार्तिक शुक्ल एकादशी तक किया जाता है, क्योंकि चातुर्मास के अन्तर्गत इन्हीं महीनों की गणना होती है। चातुर्मास पूजा को विशेष दिवस पूजा के नाम से भी अभिहित किया गया है।[2] ऐसी मान्यता है कि विश्व कल्याण के लिए जगदाधार लक्ष्मीपति चातुर्मास में योगनिद्रा का आश्रय लेते हैं।[3] और कार्तिक शुक्ल द्वादशी को उठ जाते हैं।[4] इन्हीं महीनों में लक्ष्मीपति के शयन से लेकर उठने पर्यन्त प्रत्येक मास में शुक्ल द्वादसी को विशेष आराधना की जाती है।[5] श्रावण मास के शुक्ल द्वादशी को भगवान हरि पार्श्व परिवर्तन (करवट बदलना) कराकर उनकी विशेष अर्चना करे।[6]

ईश्वर संहिता (14.4-165 एवं आगे) के चातुर्मास व्रत में पवित्रोत्सव-विधान का वर्णन है। पुरुषोत्तम, विश्वामित्र एवं सात्वत संहिताओं में चक्रमण्डल में स्थित चातुर्व्यूहों में से प्रत्येक की गृह-पूजा का निर्देश है।[7]

---

1. द्रष्टव्य **पाद्म संहिता**, (चर्यापाद), 15.115ब-118
2. विशेषदिवसे पूजा-16.1; विशेष दिवसार्चनम्। **विश्वामित्र संहिता**, 16.2
3. **विश्वामित्र संहिता**, 16.49
4. **विश्वामित्र संहिता**, 16.112
5. **तत्रैव**, 16-55,56
6. **तत्रैव**, 16.57
7. द्रष्टव्य, **पुरुषोत्तम संहिता**; **विश्वामित्रसंहिता**, 37. 14-16; **विश्वामित्र संहिता**, 16.1-141; **सात्वत संहिता**, 8.137-157

वैष्णव पाञ्चरात्र-परम्परा के अनुसार चातुर्मास्य व्रती आषाढ़ शुक्ल एकादशी को प्रात:काल स्नान करके वस्त्र धारण कर उर्ध्व पुण्ड्र को लगावे तथा विष्णु के मंदिर में जाकर प्रणाम करके देवताओं के भी देव श्री पति जगदाधार भगवान विष्णु से यह निवेदित करे कि हे सर्वाधार जगन्नियंता मैं चातुर्मास्य में विहित आप की विशेष आराधना करने का इच्छुक हूं। हे जनार्दन! शरणागत जनों के पालक, मेरी आराधना को स्वीकार करो और प्रसन्न हों। इस प्रकार व्रत का संकल्प लेकर पञ्चगव्य का भक्षण करके यज्ञ के वृक्षों से चार तोरण से आवेष्टित यजन भूमि विरचित करे। इसमें आठ पूर्ण कलश का विधान विहित है। इन कुम्भों को दो रेशमी वस्त्रों से आवेष्टित होना चाहिए और मण्डल के उत्तर भाग में विधिवत कुण्ड का निर्माण करना चाहिए। इसके मध्य में हरि की स्थापना करके उनका आवाहन एवं पूजन करे तथा चार प्रकार के अन्नों का नैवेद्य अर्पण करे। चरु से इनकी अर्चना करके स्वयं चरु का भक्षण करे। इस प्रकार श्री हरि की विस्तृत आराधना विश्वामित्र संहिता में वर्णित है।[1] विश्वामित्र संहिता में चातुर्मास व्रत में निषिद्ध पदार्थों की गणना करते हुए कहा गया है कि दिवा-स्वप्न, दूसरे के अन्न का भक्षण, स्त्री-संभोग, तैल-सेवन, कांस्य के पात्र में भोजन, मांस भक्षण आदि त्याज्य है।[2]

यहाँ श्रावण कृष्ण अष्टमी के दिन कृष्ण के जन्म का महोत्सव इस व्रत के अन्तर्गत वर्णित है।[3] यहां विस्तृत रूप से चातुर्मास का वर्णन तथा इसी प्रसंग में हरि की स्तुति की गयी है। सात्वत संहिता[4] में कहा गया है कि चातुर्मास्य व्रत मोक्ष का प्रदाता है। और इस व्रत के अनुष्ठान से मनुष्य अपनी अभीष्ट कामनाओं को इसी मर्त्य लोक में प्राप्त कर लेता है। अपने सामर्थ्य के अनुसार धूम रहित खिड़कियों से विभूषित ईटों के द्वारा चतुरस्र यज्ञ मण्डप में वेदी और कुण्ड का निर्माण करे तथा वासुदेव के मन्त्र से हाथ में जल लेकर यह संकल्प करे कि हे पुण्डरीकाक्ष! सभी व्रतों के स्वामी अच्युत आपकी कृपा से मेरा व्रत सम्पन्न हो।

---

1. **विश्वामित्र संहिता**, 16.3-50
2. वही, 16. 62-63
3. श्रावणे मासि पक्षे च कृष्णेऽष्टम्यां प्रजापतेः।
   नक्षत्रे वासुदेवस्य देवक्यां भगवान हरिः॥ **तत्रैव**, 16.65
4. अथापवर्गदं वक्ष्ये चातुर्मास्यं व्रतोत्तमम्।
   यत्कृत्वाऽभिमतान् कामानिहैव लभते नरः॥
   सात्वत संहिता, 8.14 1 ब-142 अ

जिससे आपकी मुझे सम्प्राप्ति हो ।[1] संकल्प के जल को नीचे गिराकर एकादशी के दिन उपवास करके द्वादशी के दिन श्रीधर, ऋषीकेश, वामन आदि देवों की अर्चना करे तथा पूजा, होम तथा जप भी इसके अन्तर्गत गृहीत हैं ।

ईश्वर संहिता में कहा गया है कि जगन्नियन्ता भगवान के शयन करने पर चातुर्मास्य कर्म विहित है । यहाँ यह समर्थित किया गया है कि चातुर्मास एकादशी के दिन समाप्त होता है और यह विष्णु संबंधी समय अत्यन्त उत्तम एवं समग्र सिद्धियों को देने वाला है ।[2] ईश्वर संहिता में विस्तृत रूप से चातुर्मास्य व्रत का वर्णन मिलता है जो 14वें अध्याय में द्रष्टव्य है ।

3. तिलपद्म व्रत

इस व्रत का अनुष्ठान माघ शुक्ल पञ्चमी को किया जाता है ।[3] इस व्रत में भगवान मधुसूदन की विधिवत आराधना करके उनके समक्ष दोनों हाथों से भूमि को गोमय से उपलिप्त करके शुद्ध कृष्णाजिन जो फटा न हो, उसे उस उपलिप्त भूमि पर आस्तरण किया जाता है । पुनः उस अहत शुद्ध कृष्णाजिन के ऊपर वस्त्र का आच्छादन करना विहित है । आच्छादित वस्त्र के ऊपर तिलों द्वारा पद्माकृति बनायी जाती है । स्वर्ण को उनमें रखा जाता है । आठों दिशाओं में नवरत्नों का प्रक्षेप किया जाता है और प्रत्येक दिशाओं में धान्य के दो-दो पूर्ण पात्र तथा दधि, घी एवं तेल रखा जाता है । एक रात्रि उपवास करके गन्ध, पुष्प, तिल, अन्न आदि के द्वारा ब्रह्मा की अर्चना करके विप्रों के वेद-पाठ में निरत रहने पर तथा अन्य मंगल-कार्यों में मूल विद्या से तिल की सत, साहुति की जाति है । इस व्रत का विवरण पुरुषोत्तम संहिता में भी मिलता है ।[4]

पाद्म संहिता के विवरण के अनुसार सुन्दर आचरण वाले, गुण सम्पन्न भगवद्भक्त आचार्य की अच्छत आदि से अर्चना करके तिल पद्म का दान देना भी विहित है । तदनन्तर विष्णु की अर्चना करके ब्राह्मणों को भोजन कराकर गुरुओं को दक्षिणा देनी चाहिए ।

---

1. भगवान पुण्डरीकाक्ष सर्वव्रतपतेऽच्युत ।
व्रतं में त्वत्प्रसादेन निष्पद्यतु तवाप्तये ॥ **सात्वत संहिता**, 8. 148
2. एकादश्यां दिनान्तो यश्चातुर्मास्योपलक्षितः ।
कालं तं वैष्णवं विद्धि तूत्तमं सर्वसिद्धिदम् ॥
ईश्वर संहिता, 14.12
3. **पाद्म संहिता**, (चर्यापाद), 15. 58
4. **पुरुषोत्तम संहिता**. 27.51-59

इस प्रकार जो व्यक्ति तिल पद्म को धान्य आदि के साथ भगवद्भक्त आचारनिष्ठ ब्राह्मण को देता है वह अपने समस्त पितरों को पवित्र करता है और स्वयं भी पवित्र हो जाता है।[1] इस प्रकार पाद्म संहिता में इस व्रत का विस्तृत रूप से वर्णन किया है।[2]

4. धनुर्मास व्रत

सूर्य के धनु में स्थित होने पर मकर-संक्रान्ति पर्यन्त प्रतिदिन प्रातःकाल भगवान जर्नादन की अर्चना ही धनुर्मास व्रत है। इस व्रत का विधान मार्ग शीर्ष में विहित है। यह व्रत सम्पत्ति, आयुष्य, पुष्टि एवं मोक्ष को देने वाला है।[3] प्रातः काल स्नानादि क्रिया करके शुद्ध आसन पर बैठकर, भक्त गाथा से संयुक्त स्रोत्रो से तथा नृत्य एवं गीतों से भगवान हरि की स्तुति करे। घृत, दुग्ध, मरीचि आदि से युक्त मूग अन्न को तथा शर्करा, कदली फल सुगन्धित रस से युक्त लेह्य तथा चौष्य आदि पदार्थों को प्रतिदिन प्रातः काल ईश्वर को निवेदित करना चाहिए। इस प्रकार की अर्चना करने से भगवद् भक्त बारह वर्ष तक किये गये पूजा का फल एक ही दिन में प्राप्त कर लेता है।[4] इस व्रत का वर्णन श्री प्रश्न संहिता के 46वें अध्याय के आरम्भिक श्लोकों में किया गया है। पुरुषोत्तम संहिता में धनुर्मास व्रत की, मास पर्यन्त चलने वाला प्रातः कालीन पूजा का विधान वर्णित है।[5] विष्णुतिलक संहिता में इस व्रत को धनुर्मास-आराधन कहा गया है और इसके शुभ काल का निर्देश है।[6]

5. श्री काम व्रत

यह व्रत फाल्गुन मास के फाल्गुनी नक्षत्र में धन की कामना करने वालों के द्वारा अनुष्ठित होता है, जिसमें हरि की अर्चना की जाती है[7] तथा अत्यन्त

---

1. इत्थं तिलसरोजं यो दयाद्धान्यादि संयुतम्।
   पुनाति स पितॄन् सर्वानात्मानं च परावरान्॥
   पाद्म संहिता, (चर्यापाद) 15.72
2. द्रष्टव्य, **पाद्म संहिता**, (चर्यापाद), 15.58 ब-73 अ
3. अपरं देवि वक्ष्यामि धनुर्मासे तु पूजनम्।
   उत्सवं संपदायुष्यपुष्टिदं मोक्षदं रमे॥ **श्री प्रश्न संहिता**, 46.1
4. द्वादशाब्दार्चनफलं दिने नैकेन लभ्यते। तत्रैव, 46.6 ब
5. **पुरुषोत्तम संहिता**, 27.46-47
6. **विष्णु तिलक संहिता**, 8.294-295
7. फाल्गुने मासि फालगुन्यां श्री कामो हरिमर्चयेत्।
   पाद्म संहिता, (चर्यापाद), 15.17 ब

विस्तृत विल्व वन में रहने वाली, कमल के ऊपर आसीन एवं अनेक विशेषणों से युक्त देवी की भी अर्चना की जाती है ।[1] पाद्म संहिता में इस व्रत के अनुष्ठान के सन्दर्भ में यह कहा गया है कि श्री हरि के साथ देवी की अर्चना या केवल देवी की ही अर्चना का निर्देश है । इस व्रत में श्री सूक्त के पाठ का भी विधान है और यहाँ 'नमामि देवि लोकानां' इत्यादि स्तोत्र वर्णित है ।[2]

जो व्यक्ति इस प्रकार इस व्रत का अनुष्ठान करता है वह उत्कृष्ट सम्पत्ति का इस लोक में भोग करके परलोक में भी लक्ष्मी को प्राप्त करता है । पुनः इसके विपरीत जिस-जिस फल की कामना से भक्त वैष्णव लक्ष्मी स्तुति करता है उन-उन कामनाओं को प्राप्त करता है ।[3]

6. व्रत वार्षिकी पूजा

वार्षिकी पूजा में विष्णु के साथ देवी की पुष्प, विल्व-पत्र, अक्षत, दूर्वा, कुंकुम आदि से अर्चना विहित है ।[4] हस्त प्रक्षालन करके हृदय आदि महामंत्रों के द्वारा कुसुमांजलि समर्पित किया जाता है । अष्टदल पद्म में आठ वसुओं की तथा आठ विभूतियों की पूजा की जाती है । यह महालक्ष्मी का प्रथम आचरण है । द्वितीय आचरण के अन्तर्गत उमा की, सरस्वती, दुर्गा, धरणी, गायत्री, उषा, पद्म हस्ता आदि की अभ्यर्चना की जाती है । पुनः यह महालक्ष्मी के तृतीय आचरण के अन्तर्गत वेदा, वेदवती, धात्री, रुक्मिणी, महालक्ष्मी, भार्गवी, सीता, रेवती, प्रभा आदि शक्तियों की पूजा विहित है । चतुर्थ आचरण के अंतर्गत गंगा, सूर्यसुता आदि की पूजा होती है । तदनन्तर नवग्रहों की आहुति एवं दशों दिशाओं के गजों को आहुति दी जाती है । इसी प्रसंग में दिग्पालों के पूजन का क्रमशः विधान किया गया है । इसका विस्तृत वर्णन वृहदब्रह्मसंहिता के प्रथम पाद के 10वें अध्याय में वर्णित है । वृहद ब्रह्म संहिता में वर्णित है कि जो अज्ञानी अहंकारवश महालक्ष्मी व्रत का अनुष्ठान नहीं करता है वह दरिद्रता को भोगता है तथा मरने पर नरक को प्राप्त करता है ।[5]

---

1. एवं देवीं देवं च पूजयेत् । **पाद्म संहिता**, 15.84 ब
2. द्रष्टव्य **पाद्म संहिता**, (चर्यापाद), 15.88-111 अ
3. **तत्रैव**, 15.114-115 अ
4. **बृहद् ब्रह्म संहिता**, प्रथम पाद, अ० 10.24
5. महालक्ष्मी व्रतं मोहादज्ञानान्न करोति यः ।
   दारिद्रयं जायते तस्य मृतो नरक माप्नुयात ।।
   वृ० ब्र० सं०, (प्रथम पाद) 10·50 ब-51 अ

इस प्रकार पाञ्चरात्र आगमों में हमने जिन व्रतों का उपर्युक्त पृष्ठों में परिचय दिया उनके आधार पर तद्विषयक विस्तृत सामग्री का सहज बोध हो जाता है। इसके अतिरिक्त अगले पृष्ठों में पाञ्चरात्र परम्परा में उत्सव-क्रिया का सविस्तार वर्णन प्रस्तुत किया गया है। व्रत-चर्या उन अनेकानेक उत्सवों से से सम्बद्ध दिखाई देते हैं।

उत्सव

अपने विवेक और अपने चैतन्य के कारण मनुष्य निरन्तर उत्सव-प्रिय रहा है। प्रवृत्ति के मूल में रही है आनन्द की कामना। भारतीय संस्कृति को यदि उत्सवधर्मी कहा जाय तो इसका लक्ष्यार्थ यह है कि सम्पूर्ण भारतीय जीवन आनन्द की कामना से आप्लावित है। यहाँ की समाज-व्यवस्था जब भी जैसी रही हो, वहाँ आचार एवं विचार का जो उन्मेष, आयोजन एवं विधि-विधान पल्लवित हुआ वह आनन्द के उत्स 'उत्सव' से उत्सृष्ट प्रतीत होता है। व्यष्टि, समष्टि एवं परमेष्ठि के क्रमशः उन्नयन के सोपान पर उत्सव विहित हैं। ये उत्सव आधिभौतिक, आधिदैविक और सर्वोपरि आध्यात्मिक भावों से ओत-प्रोत रहे हैं। इनमें जीवन की संकल्पना मात्र नहीं रही है अपितु जीवन की सक्रियता का निबन्धन अनुस्यूत है। एतदर्थ अनेकविध उत्सवों का नियमन एवं संयोजन हमारे प्राचीन ऋषियों तथा आचार्यों ने किया है।

सामान्यतः उत्सव शब्द उत् पूर्वक सू धातु में अप् प्रत्यय के साथ निष्पन्न होकर पर्व, हर्ष या आनन्द के अवसर का बोधक है।[1] पाञ्चरात्र-परम्परा में उत्सवों की शृंखला दिखाई देती है। अस्तु ब्राह्मण धर्म की इस महती धारा के क्रिया एवं चर्या पादों को प्रतिबिम्बित करने वाले उत्सव अपने अर्थ का स्वयमेव विस्तार करते दिखाई देते हैं। पाञ्चरात्र संहिताओं में बहुशः प्रयुक्त उत्सव और महोत्सव शब्द सामान्य व विशिष्ट पर्वों के बोधक हैं।

---

1. द्रष्टव्य, **संस्कृत-हिन्दी-शब्दकोश** (वामन शिवराम आप्टे) में उत्सव शब्द। ध्यातव्य है कि 'सू' धातु प्रसव-ऐश्वर्य (प्रसवैश्वर्ययोः) के अर्थ में अथवा 'षु अभिषेव' षु (षुञ्) धातु की महत्ता अभिषवन अर्थ में रही है। 'उत्सव' शब्द 'सू' अथवा 'षु' धातु से निष्पन्न होकर एक रचनात्मक अर्थ की अभिव्यक्ति करता है। द्रष्टव्य, **पाणिनीय धातु पाठ-समीक्षा**, पृ० 512-513

निर्वचन : अभिप्राय

पाञ्चरात्र संहिताओं में उत्सव शब्द के निर्वचन तथा इस पद के अभिप्राय पर भी प्रकाश डाला गया है। सामान्यतः उत्सव उसे कहते हैं जो दुःख से छुटकारा दिलाये, पापों का निवारण करे अथवा जो सर्वोत्तम मांगलिक कार्यों के लिए उत्प्रेरित करता है—**'सवस्त्वमंगलं विद्धि उत्सवः स्तन्निवर्त्तकः'**। अर्थात् 'सव' को अमंगल जानो और उत्सव उस अमंगल का निवर्तक (दूर भगाने वाला) है।[1] यही बात विष्वक्सेन संहिता में किञ्चित् पाठ-भेद के साथ दिखायी देती है।[2] पुरुषोत्तम संहिता में उल्लेख है कि ब्राह्मण के प्रश्नों का उत्तर देते हुए भगवान ने उत्सव को परिभाषित किया है कि उत्सव उसे कहते हैं जो संसार से उद्धार करता है।[3] जबकि पाद्म संहिता[4] (चर्यापाद) में उत्सव उसे माना गया है जो संसार रूपी दुःख के सागर से जीव को उत्तीर्ण करता है—

सर्वे सांसारिकं दुःखमुत्तरन्ति तदम्बुधिम्।
अष्टाक्षरेति विद्वांसो निब्रु्‌र्वन्त्युत्सवाह्वयम्॥

रोचक बात यह है कि पारमेश्वर संहिता (17.3 अ) में उत्सव शब्द की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि **'उद्गतः स सवो यस्मात् तस्मादुत्सव उच्यते'**—अर्थात् जिससे 'सव'=यज्ञ उद्गत होता है उसे उत्सव कहा जाता है। नारदीय संहिता में उत्सव पद के निर्वचन में यह स्पष्ट किया गया है कि 'सव' का अभिप्राय यज्ञ होता है। तदनुसार श्रेष्ठ जनों का अभिमत है कि 'सव' को यज्ञ कहा जाता है और और जिससे 'सव' अर्थात् यज्ञ उत्पन्न होता है उसे उत्सव कहते हैं[5]—सव इत्युच्यते यज्ञो विद्वद्भिः साधु सम्मतैः।

उद्गतस्तु सवो यस्मात् तस्मादुत्सवः उच्यते॥

यहाँ, वस्तुतः उत्सव यज्ञ के स्रोत के रूप में अंगीकृत है। पारमेश्वर संहिता में शाण्डिल्य[6] ऋषि का वचन है कि 'सव' का अर्थ दुःख होता है—'सव इत्युच्यते दुःख विद्वद्भिः समुदाहृतम्'—इसके आगे उत्सव एवं महोत्सव पदों को पारिभाषित किया गया है[7]—

---

1. **अनिरुद्ध संहिता**, 20.1
2. **विष्वक्सेन संहिता**, 27.12 अ—**सवस्त्वमंगलं विद्धितन्निरासात्तदुत्सवः।**
3. **पुरुषोत्तम संहिता**, 23.2
4. **पाद्म संहिता**, (चर्यापाद), 10.6
5. **नारदीय संहिता**, 18.2
6. **पारमेश्वर संहिता**, क्रियाकाण्ड 16.2 ब
7. **तत्रैव**, 16.3

उद्गतः स सवो यस्मात् तस्मादुत्सव उच्यते ।
नित्यो नैमित्तिकः काम्यस्त्रिविधः स महोत्सवः ॥

पुरुषोत्तम संहिता में उत्सव उसे माना गया है जो संसार से मुक्त कर दे और इसी दृष्टि से उत्सव का अभिनन्दन किया गया है ।[1]

इस प्रकार पाञ्चरात्र संहिताओं में उत्सव शब्द की जो व्याख्यायें मिलती हैं वे संसार सागर से मुक्ति-प्राप्ति की कामना से अभिप्रेरित हैं और सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उत्सव शब्द में उत् पूर्वक 'सव' को वैदिक-परम्परा के विशेषतः यज्ञार्थक भाव में अभिव्यक्त किया गया है । पाञ्चरात्र संहिताओं में, इसी पृष्ठभूमि में, जबकि उत्सव-प्रकारों का निर्देश किया गया तो उसे त्रिविध—नित्य, नैमित्तिक एवं काम्य, बतलाते हुए महोत्सव संज्ञा दी गयी है ।

उत्सव-त्रिविध : नित्य, नैमित्तिक एवं काम्य

पाञ्चरात्र संहिताओं में उत्सवों के त्रिविध वर्ग रहे हैं। वे हैं नित्य, नैमित्तिक एवं काम्य ।

(1) **नित्य**—वे उत्सव जो एक मन्दिर के सम्मुख दैनिक अथवा मासिक रूप से सम्पन्न किये जाते हैं नित्य कहलाते हैं । इसे 'नित्योत्सव' कहा जाता है । कहीं-कहीं इस क्रिया को 'नित्य पूजा' अथवा 'नित्यार्चन' भी कहा गया है । पाञ्चरात्र आगम की विभिन्न संहिताओं में नित्य नित्योत्सव को वर्णित करने वाले अध्याय मिलते हैं । वे इस विशिष्ट प्रकार के विभिन्न पक्षों की सूचना दे जाते हैं यथा —नित्योत्सव पूजा, अर्चनअभ्यार्चन, अग्नि-कार्य, अष्टांग-पूजा आराधन, आसन, द्रव्य, इज्या, नित्यार्चन, नित्ययाग, बलिदान, समाराधन उपाचार एवं याग इत्यादि ।[2] मासिक उत्सवों के रूप में जो नियमित प्रकार हैं उनमें मासोत्सव, पक्षोत्सव प्रतिसमोतसव एवं अमावास्योत्सव नाम के अध्यायों के रूप में विभिन्न संहिताओं में मिलते हैं । कुछ विशिष्ट एकादशी एवं द्वादशी के उत्सवों की परम्परायें भी उल्लेख्य हैं । परमपुरुष संहिता (10-1-75) में एकादशी व्रत की उत्पत्ति से सम्बद्ध एक मिथक, इस व्रत-चर्या से मिलने वाले पुण्य के साथ ही एकादशी उत्सव का विस्तार से वर्णन मिलता है । इसी तरह वृहद्ब्रह्म संहिता (4.5.1-135) में एकादशी के माहात्म्य का वर्णन मिलता है। एकादशी व्रतोत्सव की परिसमाप्ति के अनन्तर द्वादशी उत्सव-क्रिया सम्पादित की जाती है । इसका विवरण ईश्वर, परमपुरुष एवं पौष्कर संहिताओं

---

1. **पुरुषोत्तम संहिता**, 23.1-6; **कपिञ्जल संहिता**, 23.2 भी द्रष्टव्य है ।
2. द्रष्टव्य **ईश्वर संहिता**, 6; **पाद्म संहिता**, (चर्यापाद) 2.1-175 ; **श्रीप्रश्न संहिता**, 28 एवं 29

वर्णित है ।[1]

दैनिक अथवा मासिक रूप से सम्पन्न किये जाने वाले उत्सव-कर्म पाञ्चरात्र साहित्य में विस्तार से वर्णित हैं ।

(2) **नैमित्तिक**—नैमित्तिक उत्सव विशिष्ट अवसरों के निमित्तभूत उत्सव रहे हैं । देवताओं अथवा देवालयों के इष्ट देवताओं के विवाह अथवा दिन के विशिष्ट अवसरों पर सम्पन्न होने वाले अथवा वसन्त या ग्रीष्म ऋतु के पदार्पण पर मनाये जाने वाले उत्सव, नैमित्तिक उत्सव कहलाते हैं ।

(3) **काम्य उत्सव**—आस्था और भक्ति रखने वाले लोग जब पाप के निवारण और दोष की परिसमाप्ति के अनन्तर विशिष्ट उद्देश्य के साथ ईश्वर के प्रति आभार प्रदर्शन के उत्सव सम्पादित करते थे तो उन्हें काम्य उत्सव कहा जाता था ।

उक्त दोनों प्रकार के (नैमित्तिक एवं काम्य) उत्सवों के सम्पादन के लिए विशेषज्ञ-पुरोहित अथवा इस कार्य में दक्ष व्यक्ति की सहायता अपेक्षित थी । वास्तव में ये कृत्य अतिशय महत्त्वपूर्ण साथ ही, विस्तृत होते थे । इनका सम्बन्ध देवालयों से हुआ करता था जहां विशेषज्ञों की एक लम्बी पंक्ति सेवारत रहती थी । ऐसे अवसरों के लिए जो विशेषज्ञ और उनके सहायक संगीतज्ञ, पाकशास्त्री, शिल्पी तथा विशेष रूप से भाग लेने वाले सम्मिलित होते थे, उनकी सूची और लम्बी दिखाई देती है । विशेष मण्डप की रचना करना तथा देवालय प्रांगण की शुद्धता पर ध्यान देना भी महत्त्वपूर्ण कार्य था । इसके अतिरिक्त ध्वज निर्माण, ध्वजारोहण, बलिदानकर्म, अंकुरार्पण, आवाहन, अनेक प्रकार की होम-क्रिया, देवालयस्थ प्रतिमा के स्नान आदि सम्बन्धी कृत्य सम्पादित होते थे । प्रमुख कर्मकाण्ड में ही विसर्जन सम्बन्धी कृत्य-उपवास और देव प्रतिमाओं के अन्तिम स्नानादि कृत्य सम्पादित होते थे । पाञ्चरात्र संहिताओं में इन बातों का विशद विवेचन विभिन्न उत्सवों के प्रसंग में मिलता है ।[2]

प्रमुख वार्षिक उत्सव : त्रिविध

पाञ्चरात्र आगमों से तीन प्रकार के विशिष्ट वार्षिकोत्सव ज्ञात होते हैं । वे हैं—(1) महोत्सव, (2) जयन्ती उत्सव, (3) पवित्रारोपण या पवित्रारोहण ।

1. **महोत्सव**—महोत्सव को कभी-कभी ब्रह्मोत्सव भी कहा जाता था यदा-कदा

---

1. **ईश्वर संहिता**, 10 1-24; **परमपुरुष संहिता**, 10.41-44; **पौष्कर संहिता**, 231.93-309; अन्य सन्दर्भों के लिए द्रष्टव्य एच० डैनियल स्मिथ, **फैस्टिवल्स इन पाञ्चरात्र लिटरेचर**, पाद टिप्पणी 3, पृ० 46
2. डैनियल स्मिथ : **फैस्टिवल्स इन पाञ्चरात्र लिट चर**, पृ० 28-29

श्राद्धोत्सव भी। महोत्सव शब्द के उच्चारण से ही वार्षिक रूप से सम्पन्न होने वाले महान उत्सव का बोध हो जाता है। पाञ्चरात्र वाङ्मय की कुछ संहिताओं में विस्तारपूर्वक तथा कुछ में संक्षिप्त रूप में महोत्सव की चर्चा हुई है। उदाहरण के लिए अनिरुद्ध संहिता[1] में दस दिन जबकि ईश्वर संहिता[2] में नौ दिन के एक पूर्ण महोत्सव के विधि विधान का विस्तार पूर्वक विवरण मिलता है। इसी प्रकार नारदीय संहिता[3] में भी महोत्सव का विस्तार से वर्णन हुआ है। इसके अतिरिक्त परम पुरुष, पाद्म, पारमेश्वर और पुरुषोत्तम संहिताओं में भी महोत्सव सम्बन्धी स्रोत-सामग्री उपलब्ध हैं।[4] मार्कण्डेय संहिता में श्राद्धोत्सव का समीकरण महोत्सव के रूप में किया गया है। ऐसा महोत्सव जो बिना अंकुरार्पण-कृत्य के संपन्न किया जाता हो।[5] इसके अतिरिक्त विश्वामित्र, विष्णुतिलक, विष्णु एवं शाण्डिल्य संहिताओं में भी महोत्सव के वर्णन मिलते हैं।[6]

श्रीप्रश्न संहिता में महोत्सव शब्द को इस प्रकार पारिभाषित किया गया है।[7]

महत्प्रीतिर्येन मम उत्सवेन भविष्यति।
उत्सूते हर्षमिति च तस्मादेष महोत्सवः॥

उपर्युक्त संहिताओं के जो महोत्सव सम्बन्धी विवरण मिलते हैं उनके अनुसार महोत्सव की कालावधि 1-3, 5, 7 दिन तक और इससे ऊपर 10, 15, 30 दिन तक निर्देश मिलते हैं। सामान्यतया बड़े वार्षिक महोत्सव देव-प्रतिमा के शुभ तिथि अथवा मन्दिर के स्थापना दिवस की स्मृति में मनाये जाते थे। यजमान की पुण्यस्मृति और स्थानीय सन्त की जयन्ती पर भी महोत्सव होते थे। कतिपय श्री वैष्णव मन्दिरों में आज भी वार्षिक महोत्सव सम्पन्न किये जाते हैं। उदाहरण के लिए श्री रंगम् के देवालय पर ऐसे तीन

---

1. **अनिरुद्ध संहिता,** 21.1-112
2. **ईश्वर संहिता,** 10.1-412
3. **नारदीय संहिता,** 18.8-95, 19.1-174 तथा 20वें से लेकर 22वें अध्याय तक।
4. **परम पुरुष,** 4.131-134; पाद्म (चर्यापाद) 11.1-292; **पारमेश्वर,** 16.1-551, 40-197 विशेष महत्त्व का है, 25.1-66
5. **मार्कण्डेय,** 17.13, 22.1-127, में महोत्सव का विस्तारपूर्वक वर्णन है।
6. **विश्वामित्र संहिता,** 17.1-257, 18.1-189; **विष्णु तिलक,** 8.12 2-225; **विष्णु संहिता,** 20.1-102, 21.1-30; **शाण्डिल्य,**1. 15-33
7. **श्री प्रश्न संहिता,** 30.8, इसी संहिता में अन्यत्र 30.9-37, एवं 32-34 अध्याय, 49.217-220,228,229-239 तथा 262-264

विशिष्ट अवसर प्रत्येक वर्ष आते हैं ।[1]

इन सभी महोत्सव विधियों में सबसे अधिक ध्यान दैनिक शोभा यात्राओं पर दिया जाता था । इनमें उत्सव बेर उल्लेखनीय है । उत्सव बेर में उस बेर अर्थात् प्रतिमा की शोभा यात्रा विशिष्ट वाहन द्वारा देवालय से दूर की वीथिकाओं से निकाली जाती थी ।[2] महोत्सव की अवधि में एक दो अवसर ऐसे आते थे जो बड़े महत्व के होते थे । उदाहरण के लिए महोत्सव सत्र की सबसे बड़ी शोभा यात्रा को रथोत्सव कहा जाता था । इस अवसर पर विवध प्रकार के कृत्य संपादित होते थे ।[3] उदाहरण के लिए महोत्सवकाल में किसी दिन प्रातः उत्सव बेर को स्नान कराया जाता था । यह स्नान सुगंधित अंगराग, जल एवं तैल पदार्थ से कराया जाता था । इस क्रिया को विभिन्न नाम दिया गया है यथा—अवभृथोत्सव, तीर्थोत्सव, तीर्थयात्रा अथवा तीर्थयात्रोत्सव आदि । विभिन्न संहिताओं में इस प्रसंग पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है ।[4] यह बड़े महत्त्व का अवसर होता है और सामान्य तौर पर बहुत बड़ी संख्या में तीर्थ यात्रियों, दर्शनार्थियों की भीड़ इस अवसर पर बड़ी सज-धज के साथ उपस्थित रहती है ।

2. जयन्ती-उत्सव—दूसरा महत्वपूर्ण प्रमुख वार्षिक पाञ्चरात्र-मन्दिर-उत्सब जयन्ती-उत्सव ज्ञात होता है । पाञ्चरात्र मन्दिर के प्रमुख देवता के लिए जयन्ती-उत्सव पाञ्चरात्र साहित्य में वर्णित है । यह इतना महत्वपूर्ण उत्सव बताया गया है कि इसे चातुर्मास में जबकि अन्य उत्सव-क्रम न होते हों तब संपन्न किया जाता था । इन उत्सवों में सबसे महत्वपूर्ण 'कृष्ण-जयन्ती' श्रावणमास में सम्पन्न होता था । एतदर्थ अनिरुद्ध, ईश्वर, नारदीय, परमपुरुष, पाद्म (चर्यापाद), पुरुषोत्तम, विश्वामित्र, विष्णु तिलक, विष्वक्सेन और श्रीप्रश्न आदि संहिताओं में वर्णन मिलता है ।[5] कृष्ण जयन्ती को कृष्णोत्सव भी कहा जाता था । कृष्णोत्सव से ही

---

1. विस्तार के लिए द्रष्टव्य, डैनियल स्मिथ, **तत्रैव**, पृ० 29
2. द्रष्टव्य **पारमेश्वर संहिता**, 22.123-252
3. द्रष्टव्य, **ईश्वर संहिता**, 11.277-311; **विश्वामित्र संहिता**, 18.95-104; **विष्णु तिलक**, 8-154 से आगे तक तथा **श्री प्रश्न संहिता**, 36
4. देखिये, प्रस्तुत शोध प्रबंध, अगले पृष्ठों पर अवभृथोत्सव ।
5. **अनिरुद्ध संहिता**, 25.5-27; **ईश्वर संहिता**, 13.1-86; **नारदीय संहिता**, 24.8-22; **परम पुरुष संहिता**, 9.1-82; **पाद्म संहिता** (चर्यापाद), 14.30-33, **पुरुषोत्तम**, 7.17-20; **विश्वामित्रसंहिता**, 16.65-103; **विष्णु तिलक**, 8.289-292, **विष्वक्सेन सं०**, 30.1-55, **श्री प्रश्न सं०**, 41.1-77

सिक्योत्सव (श्री प्रश्न संहिता, 41.53-68) भी मनाया जाता था।

जयन्ती उत्सव सामान्य रूप से 1, 3, 5, 7, 9, 15, अथवा 30 दिनों में सम्पन्न होता था।[1] अनिरुद्ध संहिता के पच्चीसवें अध्याय में कृष्ण जयन्ती-पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है। इस अध्याय का नाम ही जयन्ती कृत्तिकोत्सव विधान है। इस सन्दर्भ में कहा गया है कि अब्दपूजा के विनाश से मास पूजा नष्ट होती है, मास पूजा के विनाश से नित्य पूजा विनष्ट होती है और नित्य पूजा के विनाश से तो राजा और राष्ट्र नष्ट हो जाते हैं। अस्तु हर प्रकार से प्रयत्न पूर्वक नित्य कर्म सम्पादित करना चाहिए।[2] इस विधान के साथ ही कृष्णोत्सव का वर्णन इस प्रकार हुआ है—

श्रावण्यां कृष्णपक्षे तु अष्टम्यां रोहिणीयुते।
जयन्ती नाम सा प्रोक्ता जयत्यशुभमित्यसौ ॥
बुधवारसमायुक्तं सर्वदोषविवर्जितम्।
तिथिनक्षत्रयोगे वा केवलं ऋक्ष्केऽपिवा ॥
पूर्वेद्युरङ्कुरं कृत्वा कौतुकं बन्धयेद्बुधः।
तद्रात्रौ स्नपनं कुर्यात् कलशैः पंचविंशकैः ॥
उक्तद्रव्ययुतं वापि केवलं क्षीरमेव वा।
धृतं वा केवलं बिप्र नारिकेलजलं तु वा ॥
द्वारादियजनं कृत्वा कुम्भमण्डलकं यजेत्।
केवलं कृष्णमन्त्रेण जयाख्यं मण्डलं भवेत् ॥
परमान्नं तथावापि भूतावासमथापि वा।
होमकार्यं ततः कृत्वा शयने सन्निवेशयेत् ॥
शयनं वालवत्कृत्वा मृद्वास्तरणभूषितम्।
यद्वा पूर्वं प्रपूज्यार्थं चूर्णस्नानं तथैव च ॥
पायसं चैव मुद्गान्नं फलं नानाविधैं तथा।
जम्बुकाख्य फलञ्चैव विशेषेण निवेदयेत् ॥

1, डैनियल स्मिथ, **फेस्टिवल्स इन पाञ्चरात्र लिटरेचर**, पृ० 30; द्र० **अनिरुद्ध संहिता**, 25. 1-4

2. अब्दपूजाविनाशे तु मासपूजा विनश्यति।
मासपूजाविनाशे तु नित्यपूजा विनश्यति ॥
नित्यपूजाविनाशे तु राजा राष्ट्रं विनश्यति।
तस्मात्सर्वंप्रयत्नेन उक्तं कर्म समाचरेत् ॥

अनिरुद्ध संहिता, 25. 3-4

कृष्णबिम्बस्याभावे तु लब्धबिम्बे समाचरेत् ।
तदभावे तु मूले स्याच्चतुः स्थानसमन्वितम् ॥
तद्दिने समुपोष्याथ तत्पूजान्ते तु पारणम् ।
निवेदनस्य पूर्वं तु चन्द्रपूजां समाचरेत् ॥
चन्द्रभूमौ विशेषेण गोमयालेपनं भवेत् ।
सुधाचूर्णैर लंकृत्य चन्द्रमण्डलमालिखेत् ॥ **अनिरुद्ध संहिता, 25.5-15**

पाञ्चरात्र साहित्य में जयन्ती उत्सवों का जो विधान मिलता है उसमें मुख्य देवता, देव-पत्नी, सहायक देवगण, और कभी-कभी किसी पूज्य सन्त की जयन्ती का भी विधान है ।[1] पाञ्चरात्र साहित्य में केशव, नारायण, वामन, त्रिविक्रम, नृसिंह, राम, हनुमान, लक्ष्मी आदि अनेक देवताओं की जयन्ती के उत्सव का विधान वर्णित है ।[2] इनमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण एवं भव्य जन्मोत्सव श्री कृष्ण का मनाया जाता है । इस सन्दर्भ में हमने इसी अध्याय के अगले पृष्ठों में विभिन्न उत्सव प्रकारों के बीच 'जयन्ती उत्सव' शीर्षक में विशेष उल्लेख किया है ।

3. पवित्रारोपण (पवित्रारोहण)---यह उत्सव एक दिन से लेकर 3,5,7, 11 दिनों तक और कभी-कभी 30 दिनों तक मनाया जाता है । संहिताओं में कहा गया है कि इस प्रकार के उत्सव, जिनकी प्रकृति प्रायश्चित्त कर्म के रूप में है अन्य सभी उत्सवों को प्रामाणिक बताते हैं । ईश्वर को पवित्र (सूत्र) से परिशुद्ध माल्यार्पण करते हुए यह विश्वास किया जाता था कि अतीत में की गयी

---

1. श्री पेरुम्बुदुर के प्रसिद्ध वैष्णव मन्दिर में सम्पन्न होने वाले एक जयन्ती-उत्सव पर "पिलग्रिमेज टू ए हिन्दू टेंपुल" शीर्षक से एक रंगीन फिल्म का निर्माण Syracuse University U.S.A. ने 1968 में किया था । चौदह मिनट की यह फिल्म बारहवीं शताब्दी के प्रसिद्ध सन्त श्री रामानुजाचार्य के जन्मोत्सव पर आधारित है ।
स्मिथ, **तत्रैव** पृ० 47 पा० टि० 9 के आधार पर ज्ञात ।

2. **ईश्वर संहिता**, 13.86-90; **परम पुरुष संहिता**, 9.8-82; **पारमेश्वर संहिता**, 26.61-71 (हँस-जयन्ती); **वृहद् ब्रह्म संहिता**, 1.11-40 (लक्ष्मी); **पाद्म संहिता**, (चर्यापाद) 14.3-11, (राम एवं नृसिंह); **विष्वक्सेनसंहिता**, 29.1-22, (राम); **श्री प्रश्न संहिता**, 47.39-58 (राम, वराह, नृसिंह आदि); विभिन्नदेवताओं की जयन्तियों से सम्बन्ध व्रतों के लिए द्रष्टव्य **सात्वत संहिता**, 8.40-116

उपासना सम्बन्धी त्रुटियों और नैतिक कार्यों को उपशमित किया जाता है ।[1]

उक्त विविध उत्सवों में प्रथम दो उत्सव—महोत्सव एवं जयन्ती उत्सव देवालय में स्थापित प्रतिमा से सम्बद्ध हैं। तृतीय उत्सव पवित्रारोपण माल्यार्पण का मूल उद्देश्य देवोपासना द्वारा शुद्धीकरण से है। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि प्रथम दो प्रकार के उत्सव नैमित्तक कर्म के स्वभाव को व्यक्त करते हैं जबकि तृतीय प्रकार का उत्सव काम्य-कर्म से सम्बद्ध है ।

विविध उत्सव

पाञ्चरात्र संहिताओं में देवालय से सम्बद्ध विविध प्रकार के उत्सवों के वर्णन प्राप्त होते हैं जिनकी संख्या पच्चास से ऊपर है। इनमें से आधे ऐसे हैं जिनके उल्लेख मात्र एक दो बार, यत्र-तत्र हुए हैं अतः उनका परिचय विस्तार से नहीं मिलता है ।[2] अनिरुद्ध संहिता, नारदीय संहिता, ईश्वर संहिता में ऐसे विभिन्न उत्सवों के उल्लेख हैं जो पक्ष, मास अथवा सम्वत्सर-उत्सव के रूप में परिगणित हैं। पाञ्चरात्र संहिताओं से ज्ञात होने वाले इस प्रकार के प्रमुख तथा कतिपय अन्य उत्सवों का परिचय इस प्रकार है।

1. उत्थापनोत्सव—पाञ्चरात्र संहिताओं में 'उत्थापन' एक विशिष्ट पद के रूप में है जिसका अभिप्राय चातुर्मास शयन के पश्चात् जब भगवान अपने शयनासन से उत्थित होते हैं, उस समय जो उत्सव सम्पन्न किया जाता है उसे उत्थापनोत्सव कहा जाता है। संहिताओं में इस उत्सव के लिए 'बोधनोत्सव' अथवा 'प्रबोधनोत्सव' भी कहा गया है।[3] इसे परिवर्तन भी कहा गया है। पाद्म संहिता (चर्यापाद), 15.3-7 में उत्थापन उत्सव का विवरण दिया गया है। पाद्म संहिता का वचन है कि कार्तिक मास के असित (कृष्ण पक्ष) के विपरीत शुक्ल पक्ष की द्वादसी में इस उत्सव का आयोजन किया जाता है। भगवान के इस उत्थापन को बोधन और प्रबोधन भी कहा गया है।[4] मण्डल में विम्ब की अभ्यर्चना करके द्वार को तोरण कुम्भ आदि के द्वारा शोभित करके पुर और

---

1. विस्तार के लिए द्रष्टव्य डेनियल स्मिथ, **फेस्टिवल्स इन पाञ्चरात्र लिटरेचर**, पृष्ठ 31
2. स्मिथ, **तत्रैव**, पृ० 32
3. **डेनियल** स्मिथ, **इन्डेक्स**, भाग दो, पृ० 141
4. **पाद्म संहिता**, (चर्यापाद), 15.3-5

ग्राम में यह महोत्सव आयोजित किया जाना चाहिए। उत्सव के विसर्जन के अवसर पर गुरु को 10 निष्क (अथवा उसका आधा) दक्षिणा देनी चाहिए।[1]

पारमेश्वर संहिता के 13 वें अध्याय में 126 से 190 श्लोक तक उत्थापनोत्सव का विशद वर्णन किया गया है। इस संहिता में लिखा गया है कि भगवान के शयन काल की परिसमाप्ति के पश्चात् जब भगवान जागृत होकर उत्थित होते है, उस समय कार्तिक मास में यह उत्सव सम्पन्न किया जाता है। भगवान के जागरण के पश्चात् आचार्य प्रात:काल भगवान के मण्डप में प्रवेश कर स्तोत्रों और मंत्रों से उन्हें उत्थित करता है। भगवान के उत्थित होने के पश्चात् उन्हें उनके रथ पर आरूढ़ कराकर विभिन्न प्रकार से सजाये गये ग्राम-वीथिकाओं में उनकी शोभा-यात्रा निकाली जाती है। इसे एक अति पवित्र समय माना जाता है और भगवान के ग्राम-गलियों में पहुंचने से सभी प्रकार के रोग, अकाल, दुष्काल, मृत्यु आदि का निरोध हो जाता है। शोभा यात्रा के पश्चात् भगवान के अपनी पुण्यपीठिका पर लौटकर आसीन हो जाने पर उनके द्वारा रक्षा, दया और कृपा करने के लिए स्तुतियां की जाती है।[2] इसी प्रकार पुरुषोत्तम संहिता के 47 वें अध्याय में 37 से लेकर 39 तक उत्थापनोत्सव के स्थान पर बोधनोत्सव का विवरण दिया गया है। पाञ्चरात्र संहिताओं की परम्परा के अनुसार इस संहिता में भी यह लिखा गया है कि कार्तिक मास (नवम्बर, दिसम्बर) में भगवान के चार मास शयन के पश्चात् जागरण होने पर यह बोधनोत्सव आयोजित किया जाता है।[3]

श्री प्रश्न संहिता के 40 वें अध्याय के 37 से 52 श्लोक तक उत्थापन उत्सव के सम्पादन की विधियों का विस्तार से विवरण दिया गया है। इस संहिता का वचन है कि कार्तिक माह के शुक्ल पक्ष की एकादशी को भगवान के शयन के पश्चात् उत्थित होने पर संहिता में विहित विधानानुसार पूजा-अर्चा करने के पश्चात् भगवान के उत्थान का अनुष्ठान किया जाता है। इसे उत्थानोत्सव इसलिए कहा जाता है क्योंकि भगवान विष्णु प्रसन्न होकर शयन से उत्थित होते हैं।[4]

विश्वामित्र संहिता के 16 वें अध्याय में 55-65 श्लोक तक उत्थानोत्सव का वर्णन किया गया है। इस संहिता में उल्लेख है कि सित की द्वादशी को इस

---

1. **पाद्म सं०**, 15.5-7
2. **पारमेश्वर संहिता**, 13. 126-190
3. **पुरुषोत्तम संहिता**, 27.37-39
4. **श्री प्रश्न संहिता**, 40.37-52

उत्सव का आयोजन किया जाता था। पाञ्चरात्र संहिताओं, विशेषतः विश्वामित्र संहिता, में उत्थानोत्सव का उल्लेख विशेष रूप से किया गया है।

2. **कृतिकोत्सव**—अनिरुद्ध संहिता में इसके लिए 'दीपारोहण' तथा 'दीपारोपण' शब्द का उल्लेख किया गया है।[1] कृतिकोत्सव को दीपोत्सव[2] के रूप में स्वीकार कर अनिरुद्ध संहिता में इसके अनुष्ठान की विधियों का विस्तृत विवरण दिया गया है। इस उत्सव का आयोजन कार्तिक मास में करने का निर्देश है।[3] इसलिए इसे कार्तिक मासोत्सव भी कहा जाता है। अनिरुद्ध संहिता के 26वें अध्याय में 1-17 श्लोक तक 'कृत्तिका दिवस' के 'नीराजन-विधि' का वर्णन किया गया है, जिसमें दीप-प्रज्ज्वलन, दीपार्चन, दीपकुम्भ आदि की विधियों का विशेष वर्णन है।[4]

ईश्वर संहिता में यद्यपि कृत्तिकोत्सव शब्द का उल्लेख नहीं हुआ है तथापि (कृतिका) दीपोत्सव का उल्लेख हुआ है जिसके लिए दीपारोपण शब्द भी प्रयुक्त है।[5] परमपुरुष संहिता में उल्लेख है कि कृतिकोत्सव करने से व्यक्ति को धन-धान्य की प्राप्ति होती है और उसे आध्यात्मिक फल के साथ ही साथ दैहिक सुख भी प्राप्त होता है।[6] पाद्म संहिता, चर्यापाद के भाग दो के 8-24 श्लोक तक कृत्तिका दीपोत्सव के आयोजन का विवरण दिया गया है। इस उत्सव के आयोजन के अभिप्राय का भी परम्परागत उल्लेख किया गया है एवं आगमों में वर्णित विधियों का उल्लेख है। यह आयोजन कार्तिक पूर्णिमा को सम्पन्न होना चाहिए, ऐसा निर्देश है।[7]

पारमेश्वर संहिता में कार्तिक मास में किये जाने वाले अनेक अनुष्ठानों का उल्लेख है परन्तु कृत्तिकोत्सव का नामोल्लेख नहीं है।[8] भगवान विष्णु के शयन के पश्चात् जब उनका जागरण होता है उस उपलक्ष में इसका

---

1. **अनिरुद्ध संहिता**, 22.16 (दीपारोहण) तथा 25.28 (दीपारोपण)
2. **तत्रैव**, 'कृतिकादीपोत्सव प्रकरण', 25.27-28
3. **तत्रैव**, 22.16
4. **तत्रैव**, 26.1-17
5. **ईश्वर संहिता**, 13.149-152
6. **परमपुरुष संहिता**, 4.180
7 **पाद्मसंहिता** (चर्यापाद), 15.8-24
8. कार्तिके मासि कार्तिक्यां विशेषार्चनमाचरेत् ।
घृततैलमहादीपैः प्रभूतैर्दर्शयेत् प्रभुम् ।। **पारमेश्वर संहिता**, 17.612

आयोजन किया जाता है। भारतीय उत्सव-विधान में चतुर्मास अर्थात् वर्षारम्भ से लेकर वर्षान्त तक यह माना जाता है कि भगवान विष्णु का क्षीरसागर में यह शयन का काल है। पुन: उनका जागरण कार्तिक मास में होता है। उनके जागरण के उपलक्ष्य में दीपों की मालिका सजायी जाती है इसलिए इसे विभिन्न संहिताओं में[1] कृत्तिकोत्सव (दीपोत्सव) 'दीपार्पण' तथा 'कार्तिकदीपोत्सव' कहा गया है। इसका आयोजन कार्तिक मास में किया जाता है। मन्दिरों की सजावट की जाती है, गांवों में स्वच्छता की जाती है। इसी उत्सव का एक अंग स्नपन विधि है जिसमें भगवान की प्रतिमा का स्नान कराया जाता है। इस उत्सव का वैशिष्ट्य दीपमालिकाओं को प्रज्वलित करना है (मार्कण्डेय, 25.55-60)। इस उत्सव का आयोजन 15 दिन तक चलता है। कतिपय स्रोतों में यह विवरण दिया गया है कि उत्सव बेर का प्रदर्शन सुसज्जित और सप्रकाशित रथ पर स्थापित कर वीथियों में प्रदक्षिणा की जाय। श्रीप्रश्न संहिता के अनुसार इस उत्सव का सम्वन्ध दैत्यराज बलि से है। जिसपर विष्णु ने त्रिविक्रम के रूप में विजय प्राप्त किया था और जिसके उपलक्ष्य में एक पर्णशाला बनाकर उसके ऊपर दीपक जलाया जाता था।[2]

सात्वत संहिता (7.11-37) के अनुसार कार्तिक मास की दशमी तिथि को निशा-आगमन में बिम्ब के पाद की पूजा घृत, पञ्चगव्य तथा जल से करनी चाहिए। एकादशी में प्रभात काल में स्नान करके देवता का ध्यान, अभ्यर्चना उसके अनेक नामों का स्मरण करते हुए भगवान की पूजा करनी चाहिए। पुण्डरीकाक्ष वासुदेव की पूजा के विधान के साथ संकर्षण, प्रद्युम्न, ऋषी केश, अनिरुद्ध की पूजा का विधान भी इसमें किया गया है। इस प्रकार की पूजा से नि: श्रेयस और कैवल्य की प्राप्ति होती है।

3. अध्ययनोत्सव – यह उत्सव वार्षिक काल-चक्र में परिगणित 'धनुर्मास' (दिसम्बर-जनवरी) में विशेषत: सम्पन्न किया जाता था यद्यपि अध्ययनोत्सव का विधान पूर्णमास के लिए विहित किया गया है परन्तु कतिपय ग्रन्थों में बीस दिवस तथा अन्य में बाइस दिवस का भी विवरण प्राप्त होता है। अध्ययनोत्सव का अभिप्राय वैदिक तथा अन्य वेदविहित मंत्रों का पाठ उच्चारण और गायन विशेषत: ईश्वर की स्तुति के लिए होता था। अध्ययनोत्सव का प्रारम्भ शुक्ल पक्ष के प्रथम दिन प्रारम्भ किया जाता था और प्राय: चक्र के अपराह्न में किया

---

1. डैनियल स्मिथ, **फेस्टिवल्स इन पाञ्चरात्र लिटरेचर**, पृ० 34
2. **श्री प्रश्न संहिता**, 44.1-56

जाता था । अनिरुद्ध संहिता में अध्ययनोत्सव के विविध पूजन का उल्लेख है कि विष्वक्सेन (ब्रह्म) की उपासना मानसिक, कायिक और वाचिक रूप से मार्गशीर्ष मास की एकादशी से प्रारम्भ करना चाहिए । चूंकि वेद से बढ़कर कोई दूसरा स्रोत नहीं है इसलिए वेदों को भी वाचिक पूजा के अन्तर्गत ईश्वर को सुनाना चाहिए ।[1]

श्री प्रश्न संहिता में अध्ययनोत्सव के काल के संबंध में कार्तिक या मार्गशीर्ष मास का विकल्प दिया गया है । परन्तु श्रेष्ठ मार्गशीर्ष के शुक्ल पक्ष की प्रथमा से उपक्रमित करने का निर्देश दिया है ।[2] दसमी तथा एकादशी तक अध्ययनोत्सव करना चाहिए । इस उत्सव में श्री प्रश्न संहिता ने विष्वक्सेन की स्तुति का विवरण दिया है; क्योंकि विष्वक्सेन ज्ञानानन्द, ज्ञानमूर्ति और सर्वत्र हैं ।[3] इसलिए उसके विग्रह की उपासना-स्तुति वैदिक मंत्रों तथा वेद समर्थित आगमों और संहिताओं के अनुसार की जानी चाहिए ।

पुरुषोत्तम संहिता के वचनानुसार धनुर्मास में एक विशेष पूजा के आयोजन का उल्लेख है जो सम्पूर्ण मास में सूर्योदय के काल में किया जाता है ।[4] पुरुषोत्तम संहिता के वचनानुसार अध्ययनोत्सव में बीस दिवस तक अपराह्न में पवित्र ग्रन्थों के मन्त्र एवं स्तोत्र का वाचन निरन्तर होना चाहिए ।[5]

पाञ्चरात्र संहिताओं में अध्ययनोत्सव को ही 'मोक्षोत्सव' भी कहा गया है । श्रीप्रश्न संहिता में एक विशेष सन्दर्भ उल्लिखित है कि एकादशी तिथि को विष्वक्सेन के ज्ञानोत्सव से स्तुति करने के पश्चात् मोक्ष का द्वार उन्मुक्त हो जाता है ।[6] वैकुण्ठ एकादशी की जो अवधारणा शास्त्रों में मुक्ति के लिए वर्णित है, वही प्रकारान्तर से मोक्षोत्सव के सम्बन्ध में पाञ्चरात्र ग्रन्थों में वर्णित है ।[7]

---

1. **अनिरुद्ध संहिता**, 26.18-24
2. कार्तिके मार्गशीर्षे वा श्री मदध्ययनोत्सवम् ।
   मार्गशीर्षस्य शुक्लस्य प्रथमायामुपक्रमेत् ॥ **श्री प्रश्न संहिता**, 46.7
3. ज्ञानानन्द ज्ञान मूर्ते सर्वज्ञाचिन्त्यविग्रह ।
   नित्यानन्द निराकर संसारोदधितारक ॥ **श्री प्रश्न संहिता**, 46.34
4. **पुरुषोत्तम संहिता**, 27.46-47 अ
5. **तत्रैव**, 47ब-50
6. कृत्कोत्सवं तथा भूतमेकादश्यां विशेषतः ।
   विशन्ति मोक्षं तस्मात् सो मोक्षोत्सव इतीर्यते ॥
   श्री प्रश्न संहिता, 46.42
7. स्मिथ : **फेस्टिवल्स इन पाञ्चरात्र लिटरेचर**, पृ० 34

4. **मृगयोत्सव**—इस उत्सव का वर्णन ईश्वर[1], पाद्म[2], पारमेश्वर[3], विश्वामित्र[4], श्री प्रश्न[5], अगस्त्य[6], पुरुषोत्तम[7] तथा विष्णुतिलक[8] में प्राप्त है।

पाद्म संहिता के अनुसार तीर्थोत्सव के एक दिन पूर्व भगवान का मृगयोत्सव होता है। और इसके एक दिन पूर्व जल कुम्भ में स्नान[9] तथा उससे एक दिन पूर्व श्री और भूमि के सहित भगवान की अर्चना का विधान है। मृगयोत्सव में मृगया के अनुरूप समस्त भूषणों से विभूषित होकर तथा तद्योग्य आयुध को हस्ति आदि पर रखकर वहन करे। देवियों के साथ हस्ति आदि से युक्त उद्यान में आसीन भगवान को महाहवि निवेदित करे। प्रातःकाल से लेकर कहे हुए क्रम से उत्सव का समापन करना चाहिए।

पारमेश्वर संहिता के अनुसार निशा-उत्सव के आठवें दिन भगवान के मृगयोत्सव का आचरण करे।[10] इस उत्सव में समग्र अलंकारों से समलंकृत अश्व को लाकर तथा बहुत से अश्वों के साथ अलंकृत हाथी को लाकर उस पर भगवान को आसीन करे। मृगया के योग्य भूषण तथा आयुधों से अलंकृत यान को एवं उस हाथी को ले जाय तथा ग्राम के बाहर उद्यान, वृक्षों तथा पुष्पित लताओं से सुशोभित मण्डप में सुनहरे आसन पर भगवान को बैठावे तदनन्तर वहां नाना प्रकार के कदली फल, मूलादि द्वारा भगवान की अर्चना करके, सायं काल हो जाने पर उत्सव का समापन करे।

---

1. **ईश्वर संहिता**, 13.254-262
2. **पाद्म संहिता**, [चर्यापाद], 11.180-209
3. **पारमेश्वर संहिता**, 17.348-361,510
4. **विश्वामित्र संहिता**, 18.129-132
5. **श्री प्रश्न सं०**, 43.1-23
6. **पुरुषोत्तम सं०**, 24.174-181
7. **मार्कण्डेय सं०**, 22.57-62
8. **विष्णु तिलक**, 8.152-153
9. पूर्वेद्युस्तीर्थ दिवसाद्देवस्य मृगया भवेत्।
   मृगयादिवसात्पूर्वं जलद्रोण्यवगाहनम्॥
   पाद्म सं० (चर्यापाद), 11.180
10. ततो निशोत्सवान्तं च सर्वं पूर्ववदाचरेत्।
   अष्टमे दिवसे प्राप्ते आचरेन्मृगयां विभोः॥
   पारमेश्वर सं०, (क्रिया काण्ड), 17.47

विश्वामित्र संहिता में भी पाद्म संहिता की ही भांति वर्णन प्राप्त होता है। यहां यह समर्थित किया गया है कि भगवान को देवियों के साथ सुनहरे आसन पर बैठाकर वीथिकाओं के मार्ग से उद्यान वाटिका में ले जाये और वहां भी विशेष अर्चना करे।[1]

श्री प्रश्न संहिता के वचनानुसार इस उत्सव का विधान वानप्रस्थों के लिए ही है।[2] श्रावण शुक्ल दशमी को मृगयोत्सव का आरम्भ होता है।[3] मृगयोत्सव के लिए नवमी तिथि को हयवाहन आदि लेकर आयुधों के सहित नदी के तट पर जाकर भगवान को वहाँ आसीन करे। उनसे यह निवेदित करे कि हे भगवान मैं आप का मृगयोत्सव करने का इच्छुक हूं, आप अपने बिम्ब को यहाँ स्थापित करें। तदनन्तर अर्घ्यादि से हवि-पर्यन्त भगवान की अर्चना करके मृगयोत्सव के लिए भगवान को स्थापित करे तथा पवित्र जल से प्रोक्षण करके आयुधों को रखे। वानप्रस्थ एवं तापस के द्वारा दिये गये कन्द, मूल, फल, ताम्बूल आदि प्रदान करे तथा सायं काल पुनः अश्वों को रथ में जोत करके सभी गलियों की प्रदक्षिणा करवाकर भगवान को मूल स्थान पर स्थापित करे और उनसे यह प्रार्थना करे कि हे भगवान् इस उत्सव में जो न्यूनाधिक दोष हुआ हो, उसे क्षमा करें।

5. डोलोत्सव—यह उत्सव उत्तरायण या दक्षिणायण में विशेष रूप से शुक्ल पक्ष की पंचमी, सप्तमी, एकादशी, दसमी, द्वादसी या पूर्णिमा तिथियों पर सम्पन्न किया जाता है तथा यह 7, 9, 5, या 3 दिन तक अपने सामर्थ्य के अनुसार चलाया जाता है।[5] इस उत्सव के प्रथम दिन रात्रि में अङ्कुरार्पण एवं रक्षाबन्धन विहित

---

1. परिभ्राम्य च सर्वत्र नयेदुद्यानवाटिकाम्।
तत्रापि च विशेषार्चां कारयेतद्विचक्षणः॥ **विश्वामित्र संहिता**, 18.31
2. पूज्यन्ति नमस्यन्ति वानप्रस्थाः कदाचन्। **श्री प्रश्न संहिता**, 43.2अ
3. नमस्यस्य तु मासस्य शुक्लपक्षस्य वै गुरुः। **श्री प्रश्न संहिता**, 43.3 ब
4. यन्मयानुष्ठितं देव दशम्युत्सवमद्य ते।
तस्मिन्न्यूनाधिकं चेत्रत क्षम्यतां भक्तपूजनम्॥
श्री प्रश्न संहिता, 43.22 ब 23 अ
5. अथ डोलोत्सवविधिं श्रृणुध्वं मुनिपुंगवाः।
उत्तरायणकाले वा दक्षिणायन एव च॥
शुक्लपक्षे विशेषेण पंचमी सप्तमी तु वा।
एकादशी वा दशमी द्वादशी पूर्णिमां तु वा॥
समारभ्योत्सवं कुर्यात्सप्ताहं वा नवाहकम्।
पंचाहं वा त्र्यहं वापि विभवेच्छानुसारतः॥ **ईश्वर संहिता**, 12.161-163

है। पुनः मण्डप-निर्माण की विधि विस्तृत रूप से ईश्वर संहिता में वर्णित की गयी है। पुण्याहवाचन आदि कर्म करके डोला के चारों तरफ इन्द्रादि देवताओं की अर्चना विहित है। मंत्र के द्वारा समलंकृत डोला पर भगवान को बैठाकर उनको अलंकारादि से अर्चना करे।[1] तदनन्तर डोला की रज्जु को चारों दिशाओं में पकड़ कर डुलाने तथा विविध ताम्बूलादि उपचारों के द्वारा अर्चना करने का निर्देश है।

जो व्यक्ति डोला-चालन के समय लक्ष्मी पति का दर्शन करता है वह इस लोक में अपने अभीष्ट कामनाओं को प्राप्त करके परलोक में उत्तम गति को प्राप्त करता है।[2]

6. वसन्तोत्सव—वसन्त काल की दृष्टि के लिए आहृत नाना प्रकार के पुष्पों से दक्षिणामुख मण्डप में आसीन होकर भगवान की अर्चना इस उत्सव में की जाती है। उद्यान, मन्दिर या नदी तट आदि क्षेत्र में इस उत्सव को करने का विधान है।[3]

चैत्र मास के पुनर्वसु नक्षत्र में वसन्तोत्सव का विधान पारमेश्वर संहिता में किया गया हैं।[4] शाण्डिल्य संहिता में इसे वसन्त 'क्रीडनोत्सव' कहा गया है तथा इस उत्सव का विधान माघ मास में किया गया है।[5] इसे 'दमनोत्सव, दमनिकोत्सव और दमनारोपण' भी कहा गया है।[6]

अन्यत्र श्रीप्रश्न संहिता में वसन्त के समय या ग्रीष्म ऋतु के शुक्ल पक्ष की पूर्णिमा को या प्रतिपदा को इस उत्सव को सम्पादित करने का विधान

---

1. सुमुहूर्त्ते सुलग्ने च डोलामारोपयेद्विभुम्।
तत्रार्चयेज्जगन्नाथमलंकारासनोदितैः॥ **ईश्वर संहिता**, 12.191
2. डोलाचालनवेलायां ये पश्यन्ति श्रियः पतिम्।
इह ते प्राप्य चाभीष्टान् प्राप्नुवन्ति परां गतिम्॥
ईश्वर संहिता, 12.201
3. **पाद्म संहिता**, (चर्यापाद), 14.119-130
4. चैत्रे मासि पुनर्वस्योः वसन्तोत्सवमाचरेत्।
पारमेश्वर संहिता, (क्रिया काण्ड), 17.565 अ
5. माघे वसन्तक्रीडनोत्सवः। **शाण्डिल्य संहिता**, 1.15.14 अ
6. **अनिरुद्ध संहिता**, 22.7,23.1 एवं आगे; **ईश्वर संहिता**, 12.63-92; **पाद्म सं०**, (चर्यापाद) 14.14-15; **पारमेश्वर संहिता**, 17.565-95; **पुरुषोत्तम संहिता**, 27.66-68; **विश्वामित्र**, 24.101, 26.1-91; **विष्णु तिलक**, 111.261

है ।[1] इस उत्सव में 7 रात भगवान के पूजन का विधान है। उत्सव के आरम्भ करने से लेकर प्रत्येक दिन बलिदान, तोरण पूजन, मण्डप निर्माण आदि कर्म यहाँ विस्तृत रूप से वर्णित हैं । इस उत्सव की इच्छा करने वाला भक्त भगवान की की पूजा करके यह् प्रार्थना करे कि हे भगवान वसन्तोत्सव करने का इच्छुक हूं आप अपना सन्निधान यहाँ करें। इस प्रकार भगवान से प्राथंना करके रत्न-खचित नाना प्रकार के भूषणों तथा चन्दनादि से चर्चित शिबिका में भगवान को बैठाकर पुष्प-मण्डित गलियों में घुमावे तथा नाना प्रकार के भक्ष्य पदार्थों से से उनकी अर्चना करके भगवान को मूलस्थान पर निवेसित करे। और यह प्रार्थना करे कि हे भगवान आप की कृपा से इस उत्सव में सक्षम हुआ। नदी के तीर अथवा तड़ाग पर अवभृथ स्नान करे। इस प्रकार वसन्त के समय शैत्य सौरभ वस्तुओं से जो भगवान की अर्चना करता है वह उनके धाम को प्राप्त करता है ।[2]

पुरुषोत्तम संहिता में भी इस उत्सव का वर्णन प्राप्त है ।[3] श्री प्रश्न संहिता के अनुसार इस वसन्तोत्सव को शयित्योत्सव नाम से अभिहित किया गया है तथा यह कहा गया है कि इस उत्सव के लिए निश्चित दिनों की संख्या नहीं है।[4] यहाँ चतुःस्थान पूजा नहीं की जाती है तथा नृत्य-गीत तथा वाद्य से इस उत्सव में भगवान को सन्तुष्ट किया जाता है। सायंकाल अर्ध्य आदि के द्वारा भगवान की आराधना यहाँ विहित है।[5] इस प्रकार श्री प्रश्न संहिता में उपर्युक्त अन्य संहिताओं की अपेक्षा इस उत्सव का विस्तृत वर्णन किया गया है ।

7. **फलोत्सव**—फलोत्सव या तो ज्येष्ठ (मई-जून) में अथवा श्रावण

---

1. शृणु देवि प्रवक्ष्यामि वसन्ते पूजनं हरेः ।
   वसन्तसमये वापि ग्रीष्मे वा शुक्लपक्षगे ।।
   पूर्णिमायामवभृथमविद्धायां वा वरानने ।
   विद्धा चेत् प्रथमायां वा निश्चित्यावभृथं गुरुः ।।

   श्री प्रश्न संहिता, 38.2-3
2. एवं वसन्तसमये शैत्यसौरभ्य वस्तुभिः ।
   भगवन्तं पूजयेद्यः स याति मम् मन्दिरम् ।। **श्री प्रश्न संहिता**, 38.30
3. **पुरुषोत्तम संहिता**, 27.103
4. शैत्योत्सवस्य चैतस्य दिनसंख्या न विद्यते ।

   श्री प्रश्न संहिता, 37.100 ब
5. **तत्रैव**, 37.110

(जुलाई-अगस्त) में होता है। वास्तव में सूर्य के उत्तरायण से दक्षिणायन होने पर जो विशिष्ट उत्सव सम्पन्न होता है, फलोत्सव उसका एक अंश है। ये उत्सव विशेष शस्य का उत्सव है जिनमें प्रमुख है आग्रायणोत्सव। प्रथमतः फलोत्सव पुनः आग्रायणोत्सव (आग्रेणोत्सव) का परिचय प्रस्तुत है।

विशेषरूप से ज्येष्ठ मास के अनुराधानक्षत्र में इस उत्सव का विधान है।[1] यह फलोत्सव कदली, पनस, और आम्र फलों के साथ मनाया जाता है। इस सन्दर्भ में यहाँ पनस, कदली, आम्र के तीन भेदों का वर्णन किया गया है। इसमें भगवान की अर्चना नैवेद्य अर्पण, होम, वासुदेव आदि के मंत्र, विष्णु सूक्त, चारों वेद का विनियोग है। उत्सव के अन्त में फलों को मण्डप में रखकर इसका समापन करे तथा शुद्धस्नान कर वासगृह में प्रवेश करे। यहाँ यह ध्यातव्य है कि पनस आदि के अभाव होने पर उनके स्थान पर विनियुक्त होने वाले फलों का वर्णन भी किया गया है।[2]

श्री प्रश्न संहिता के अनुसार तुला आदि में और कुम्भ मास के अन्त में सात दिन, पाँच दिन या तीन दिन शुक्ल अथवा कृष्ण पक्ष की दशमी को यह उत्सव किया जाता है। सप्तमी और पूर्णिमा को या श्रावण मास के श्रवण नक्षत्र के रोहिणी, चित्रा, फाल्गुनी, पुष्य या संक्रान्ति के दिन मण्डप की परिकल्पना करनी चाहिए।[3] यहाँ मण्डप-निर्माण की विधि विस्तृत रूप से वर्णित है तथा डोलोत्सव की निर्विघ्नता पूर्णता हेतु ईश्वर की वन्दना की गयी है।[4] यहाँ भी ईश्वर संहिता की ही भाँति डोला में भगवान को रखकर हिलाने का विधान है तथा यह समर्थित किया गया है कि जो भगवान के इस उत्सव को करता है वह संसार की शृंखला से मुक्त होकर मोक्ष को प्राप्त करता है।[5]

---

1. अनुराधे विशेषेण फलोत्सवमथाचरेत्। **अनिरुद्ध संहिता**, 23.10 ब
2. पनसानामभावे तु सहकारैः प्रपूरयेत्।
   सहकारफलाभावे मोचकैः परिपूरयेत्॥
   त्रयं त्रिमाने वा विप्र मासमृक्षे समर्चयेत्।
   श्रावणे मासि विप्रेन्द्र बीजपूराष्ट्रकैर्यजेत्॥
   तदभावे तु विप्रेन्द्र आर्द्रपूगीफलैर्यजेत्।
   मासेचाश्चयुजे विप्र जलजैः परितो यजेत्॥ **तत्रैव**, 23.24-26
3. **श्री प्रश्न संहिता**, 45.1-?
4. भगवन्तं प्रार्थमीत डोलोत्सवसमृद्धये। **तत्रैव**, 45.16
5. संसारशृङ्खलामुक्तो मोक्षं प्राप्य स मोदते॥
   श्री प्रश्न संहिता, 45.45 अ

आग्रायणोत्सव शस्योत्सव है। फसल कटने के पश्चात् यह उत्सव सम्पन्न किया जाता था। पाञ्चरात्र पूजा-पद्धति के वार्षिक अनुष्ठानों में यह एक महत्व-पूर्ण और आवश्यक उत्सव माना गया है। अनिरुद्ध संहिता के 25वें अध्याय के 1-4 तक श्लोकों में आग्रायण विधि का विस्तृत वर्णन किया गया है। इस उत्सव को सम्वत्सरोत्सव भी कहा गया है। इसी संहिता में आग्रायण विधि के सम्बन्ध में भगवान का वचन है कि आग्रायण विधि का सम्पादन पुष्य मास के शुक्ल पक्ष में करना चाहिए।[1] फसल की कटाई के पश्चात् तीसरे या पाँचवें दिन में इस उत्सव का आयोजन किया जाता है। इस उत्सव में भी देवता के बिम्ब का विधान किया जाता था और विधिवत् सभी प्रकार से स्नान आदि कराकर उसकी पूजा की जाती थी और ब्राह्मण को विविध प्रकार की वस्तुओं से प्रसन्न किया जाता था, जिसमें लवन प्रमुख होता था।[2] ईश्वर संहिता के 12वें अध्याय के 143 से 160 श्लोक तक आग्रायण उत्सव के सम्बन्ध में विवरण दिया गया है। इस संहिता का वचन है कि अषाढ़ के पूर्वा फाल्गुनी तथा पौष मास में विशेषत: और माघ मास की पञ्चमी या सप्तमी को इस उत्सव का आयोजन किया जाना चाहिए। इसमें विष्वक्सेन की प्रतिमा को आगे करके सभी प्रकार की निर्धारित विधियों के साथ स्नान, पूजा, अर्चना आदि करके आग्रायण उत्सव को प्रत्येक सम्बत्सर में करना चाहिए। आग्रायण उत्सव के करने से एक सहस्र अश्वमेध यज्ञ का फल प्राप्त होता है।[3] पाद्म संहिता में आग्रायण उत्सव का विस्तृत विवरण दिया गया है। इस उत्सव के काल के सम्बन्ध में पाद्म संहिता का वचन है कि श्रावण, कार्तिक, माघ, फाल्गुन, चैत्र तथा वैशाख मासों में से किसी भी मास में किया जा सकता है। इस उत्सव में भी परम्परागत विधान का वर्णन किया गया है परन्तु इसमें लवन का विधान विशिष्ट रूप से किया गया है। पाद्म संहिता के वचन की विशेषता यह है कि काल के सम्बन्ध में अनेक विकल्पों को प्रस्तुत किया है और नवान्न विधि के वर्णन का भी उल्लेख किया गया है।[4] इसी प्रकार विष्णुतिलक संहिता में भी आग्रायण उत्सव

---

1. आग्रायणविधिं वक्ष्ये अवधारय सांप्रतम्।
 पुष्यमासे सिते पक्षे पुण्यवारदिने मुने ॥
 पुष्य नक्षत्रके वापि पूर्वं चैवांकुरार्पणम्।
 तृतीये पंचमे वापि दिने लवनमाचरेत् ॥ **अनिरुद्ध सं०**, 27.1-2
2. **तत्रैव**, 27.2-36
3. **ईश्वर सं०**, 12.143-160
4. **पाद्म संहिता**, चर्यापाद, भाग दो, 14.168-185

का परम्परागत वर्णन आठवें अध्याय के 278-282 तक के श्लोकों में किया गया है।

8. **मधुमासोत्सव**—वसंत (मधु-माधव) में सम्पन्न होने वाले इस उत्सव को 'कलहोत्सव' और **'प्रणय कलहोत्सव'** भी कहा गया है जिसके लिए एक कथा भी दी गई है।

यह उत्सव मधु माधव मास में शुक्ल चतुर्दशी के दिन मनाया जाता है।[1] जलक्रीड़ा के अनुसार 7 दिन, 9 दिन, 5 दिन, 3 दिन या 1 दिन यह उत्सव मनाया जाता है।[2] इस उत्सव के आरम्भ के दिन अंकुरारोपण, रक्षा बन्धन चतुस्थानार्चन, बलि आदि कर्मविहित हैं। श्री एवं पुष्टि के साथ भगवान को शिविका में बैठाकर महामण्डप में लाकर, भद्र आसन पर बैठाकर अर्घ्य आदि से विधिपूर्वक अर्चना करके देवियों के साथ भगवान को ग्राम की वीथियों में घुमावे। उस समय भगवान एवं देवियों की युद्ध-क्रीड़ा करवावें। यहां युद्ध-क्रीड़ा विस्तृत रूप से वर्णित है। तदनन्तर भगवान को अन्त:प्रवेश करावे। इस प्रकार ईश्वर संहिता में मधुमासोत्सव का वर्णन विस्तृत रूप से किया गया है।[3] यहाँ यह ध्यातव्य है कि विष्णु तिलक संहिता में भी इस उत्सव का वर्णन किया गया है।[4]

उक्त उत्सव को कलहोत्सव भी कहा गया है। इस उत्सव का उल्लेख मात्र श्री प्रश्न संहिता में मिलता है। इस उत्सव से सम्बद्ध पूर्वकालीन प्रणय कलह की कथा दी गयी है। एक बार भगवान विष्णु लक्ष्मी सेवित थे, उसी समय एक भक्त जो शापवश गज रूप में एक वन में अपने परिवार सहित विराजमान था। ग्रीष्मातप से व्याकुल गज जल पीने निकट के सरोवर में गया जहाँ जल पीते समय सरोवर में रहने वाले नक्र ने उसके पैर को पकड़ लिया। पर्याप्त प्रयास के बाद भी जब वह मुक्त न हो सका तो आर्त्त स्वर में भगवान का उसने स्मरण किया और भगवान उसके वचन को सुनकर लक्ष्मी से सेवित अपने को मुक्त कर, लक्ष्मी को छोड़कर शीघ्र अपने भक्त की रक्षा के लिए गरुड़ पर आरूढ़ होकर

---

1. मधुमाधवमासे तु शुक्लपक्षे विशेषत:। **ईश्वर संहिता**, 12.24 ब
2. जलक्रीडानुसारेण सप्ताहं वा नवाहकम्।
पञ्चाहं वा त्र्यहं वापि एकाहंवोत्सवं चरेत्॥ **ईश्वर संहिता**, 12.26
3. **तत्रैव**, 12.27-40
4. **विष्णुतिलक संहिता**, 8.256-258

सरोवर के निकट पहुंच गये । वहाँ चक्र सुदर्शन से नक्र को विनष्ट कर गज को मुक्त किया और मकर को वैकुण्ठ निवास का आशीष दिया । इस घटना के उपलक्ष्य में यह उत्सव आयोजित किया जाता है ।[1] यही कथा 'श्रीमद्भागवत महापुराण' में 'गजेन्द्रमोक्ष' आख्यान के रूप में वर्णित है ।[2]

श्री प्रश्न संहिता के अनुसार उक्त प्रणयकलहोत्सव का प्रारम्भ मकर मास के शुक्रवार के दिन किया जाता है तथा मीन मास में इस उत्सव का समापन होता है ।[3] भक्त को चाहिए कि अरुणोदय के पूर्व नित्य कर्म करके भगवान से प्रार्थना करे कि हे पुण्डरीकाक्ष ! मैं आपकी प्रसन्नता के लिए प्रणयकलहोत्सव करने का इच्छुक हूं । आप अपने प्रतिबिम्ब का सन्निधान करें । ऐसी प्रार्थना करके भगवान को मुद्‌ग अन्न आदि निवेदित करे तथा उन्हें शिविका (डोली) से बैठाकर गलियों में घुमावे । सायंकाल दूर कहीं देवालय या मण्डप में भगवान को स्थापित करे और अर्घ्य आदि से उनकी अर्चना करे तथा नृत्य गीत-वादित्र आदि से परिचर्या करे । तदनन्तर शैया पर उन्हें स्थापित करके सुलावे तथा प्रातःकाल जगदाधार भगवान को उठाकर यह प्रार्थना करे कि हे लक्ष्मीश गजार्तिहर ! इस किये गये प्रणयकलहोत्सव में अज्ञानतावश मैंने जो कुछ भी आपका अपमान किया है उसे क्षमा करें । इस प्रकार की प्रार्थना करके पूजा का समापन करे ।[4]

9. **प्लवोत्सव**—पाञ्चरात्र संहिताओं में उडुपोत्सव को प्लवोत्सव कहा गया है और इसी अभिधान से इसका उल्लेख विभिन्न संहिताओं में किया गया है । अनिरुद्ध संहिता (अ० 22) के अनुसार इस उत्सव का आयोजन श्रावण मास में

---

1. **श्रीप्रश्न संहिता**, 47.1-18
2. **श्री मद्भागवत महापुराण**, अष्टम् स्कन्ध, तृतीय अध्याय
3. आरभ्य मकरान्मासान् मीनमासान्तमब्जजे ।
   शुक्रवारादि दिवसे प्रणयोत्सवमाचरेत् ॥ **श्री प्रश्न सं०**, 47.23
4. मूले शक्ति नियोज्याय प्रार्थयेच्च ततो गुरुः ।
   गजार्तिहर लक्ष्मीश प्रणयोत्सवमद्य ते ॥
   कृतं त्वनादरं किंचित् तत्क्षन्तव्यं दयानिधे ।
   इति सम्प्रार्थ्य लक्ष्मीशं ततः पूजामुपक्रमेत् ॥
   अवतारा ह्यसंख्येयास्त्वया सह मया कृताः ।
   तेषां मुख्यानिदानीं ते कथयामि शुचिस्मिते ॥
   श्री प्रश्न सं०, 47.35-47

किया जाता है । ईश्वर संहिता (12.110अ-143ब) के अनुसार शिशिर ऋतु के आरम्भ में शुक्ल पक्ष या कृष्ण पक्ष में प्लवोत्सव का आयोजन करना चाहिए। यह आयोजन यजमान के जन्मतिथि अथवा किसी देवता की जन्मतिथि पर आयोजित होना चाहिए जिससे राजा, राज्य या राष्ट्र की अभिवृद्धि हो। तत्कालीन नक्षत्र के अनुसार इस उत्सव को एक, तीन, पांच, सात या नौ दिन तक करना चाहिए । जिस देवता के उपलक्ष्य में यह आयोजन किया जाता है उसका आरोहण उडुप पर किया जाता है । यह अधिरोहण प्रायः वस्त्रादि से अलंकृत कर उडुप पर प्रतिष्ठापित कर ग्राम की प्रदक्षिणा करते हुए जल संस्थान पर शोभा यात्रा के साथ लाया जाता है । तत्पश्चात् स्नान कराकर देवता को पुनः मन्दिर में प्रतिष्ठित किया जाता है । दिव्य फल प्राप्ति हेतु पुष्पमाल, पुंगी फल, नारियल, कदली फल आदि अर्पित किया जाता है तथा पाञ्चरात्र-विधि से पूजा की जाती है । पुरुषोत्तम संहिता के अनुसार प्लवोत्सव का आयोजन तीसरे दिन होना चाहिए (114-128) । विष्णु तिलक संहिता (8.283) में भी प्लवोत्सव का संक्षिप्त विवरण दिया गया है । श्री प्रश्न संहिता के 39वें अध्याय में प्लवोत्सव के ध्वजारोहण, रक्षाबन्धन, अर्चन, मण्डप-परिकल्पना, कर्मकौतुक, शिबिकारोपण वीथीभ्रमण, मण्डप-पूजा, जल संस्थान पर आगम आदि का विस्तृत विवरण दिया गया है ।

श्री प्रश्न संहिता के अनुसार शिशिर या ग्रीष्म काल में शुक्ल पक्ष के शुभ दिन अथवा पूर्णिमा के दिन इसका आयोजन करना चाहिए । इसके आयोजन में कदली स्तम्भ, पूग आदि फल, वन्दनवार, तोरण, मण्डप, पुष्प-माला से मण्डप में स्थापित बिम्ब की पूजा करनी चाहिए । ग्राम की प्रदक्षिणा आदि का परम्परागत वर्णन है ।

10. स्वापोत्सव (शयनोत्सव)—आषाढ़ शुक्ल द्वादशी को स्वापोत्सव का विधान किया गया है ।[1] इस दिन से भगवान योगनिद्रा का आश्रय लेते हैं । यहाँ एकदशी में भगवान की निशि पूजा विहित है । तदनन्तर प्रातः काल स्नान करके भगवान की अर्चना के अनन्तर विसर्जन करने का विधान है । पूर्व की ओर मुख करके हवि पर्यन्त भगवान की ऊर्चना करनी चाहिए तथा होम का समर्पण करके पलंग पर उनको सुलाना चाहिए । इस प्रकार दो मास के व्यतीत हो जाने पर भाद्रपद द्वादशी शुक्ल पक्ष को भगवान का 'परिवर्तनोत्सव' करना चाहिए । और तदनन्तर कार्तिक शुक्ल द्वादशी को उत्थापनोत्सव करना चाहिए । द्वादशी के

---

1. आषाढ़ शुक्ल द्वादस्यां स्वापोत्सवमथाचरेत् । **ईश्वर सं०**, 12.205 ब

ब्राह्म मुहूर्त में मन्त्र के द्वारा मूर्ति को उठाना चाहिए। और विशेष प्रकार से अर्चना करके स्नान से लेकर हवि पर्यन्त कार्य करना चाहिए। और रथ आदि पर भगवान को ग्राम की प्रदक्षिणा कराकर अपने स्थान पर पुनः रख देना चाहिए। कुम्भ एवं मण्डल के देवताओं का विसर्जन करके यजमान ब्राह्मणों और गुरुओं को सन्तुष्ट करे। इस प्रकार ईश्वर संहिता में यह उत्सव विस्तार से वर्णित है।[1]

पाद्म संहिता के अनुसार आषाढ़ शुक्ल द्वादशी को भगवान की विधिवत् अर्चना करके बनाये गये शयनागार या मन्दिर में पर्यंक के ऊपर भगवान को शयन कराकर यह उत्सव मनाया जाता है।[2] व्रतोपवासादि से सर्प की शय्या पर शयन करने वाले भगवान के उठने तक इस उत्सव का अनुष्ठान वर्णित है।[3]

पारमेश्वर संहिता में भी आषाढ़ शुक्ल द्वादशी को भगवान के योगनिद्रा में शयन करने का वर्णन है।[4] यहाँ पर विस्तृत रूप से इस उत्सव में शयनागार आदि के निर्माण का वर्णन आया है तथा अनेक प्रकार के अलंकारों से अलंकृत पर्यंक पर भगवान को शयन कराकर स्तुति करने का विधान है। अन्य संहिताओं की भांति यहां भी भगवान के कक्ष (करवट) परिवर्तन तथा कार्तिक की द्वादशी को उठाने का विधान है। इससे इस उत्सव के द्वारा समग्र भुवन की दोष-निवृत्ति हो जाती है।[5]

वृहद्ब्रह्म संहिता के अनुसार प्रबोधोत्सव कार्तिक मास में मनाया जाता है।[6]

---

1. **ईश्वर सं०**, 12.206-33
2. आषाढ़े शुक्लपक्षे च द्वादश्यां कमलासन।
   चक्राब्जमण्डले देवमर्चयित्वा यथाविधि॥
   कल्पिते शयनागारे मन्दिरे वा यथावतु।
   पर्यंके कल्पिते तत्र शाययित्वाय कौतुकम्॥
   पाद्म सं०, (चर्यापाद), 14.25 अ 26
3. देवस्य यावदुत्थानं भोगिपर्यंकशायिनः। **तत्रैव**, 14.30 अ
4. द्वादश्यां शुक्लपक्षस्य आषाढ़स्य द्विजाधिपः ?
   योगनिद्रां महानिद्रां शेषाहिशयने स्वपन्।
   पारमेश्वर सं०, (क्रियाकाण्ड), 13.9 ब, 11ब
5. उत्थायामरनाथस्तु समाक्रम्य पतत्रिराट्।
   निश्शेषभुवनग्रामवीथीनां दोषशान्तये॥ **तत्रैव**, 13.125
6. अथ प्रबोध यात्रां च कार्तिक्यां प्रब्रवीमि वः।
   वृहद्ब्रह्म सं०, (प्रथम पाद), 11.208

यहाँ पन्द्रह वैष्णव ऋग्वेदियों के साथ एकादशी को याग मण्डप के निर्माण की विधि विस्तृत रूप से वर्णित है। यहाँ पर श्री सूक्त से देवी की अर्चना भी वर्णित है। इस संहिता में यह वर्णित है कि इस उत्सव के विज्ञान मात्र से ही मंत्रों की सिद्धि प्राप्त हो जाती है। इसमें अमावस्या के प्रदोष में लक्ष्मी को प्रबोधित करने का भी विधान है।[1] आषाढ़ शुक्ल द्वादशी को शयनोत्सव का विधान श्री प्रश्न संहिता में किया गया है।[2] सुवर्ण की शृखंला से युक्त रुई के विस्तरे, नाना प्रकार के रत्नों एवं गन्ध युक्त पदार्थों से सुगन्धित शैय्या पर भगवान को सुलाने के लिए भक्त भगवान की स्तुति करते हुए कहता है कि हे भगवान! उत्थान पर्यन्त अपने प्रतिबिम्ब को यहाँ स्थापित करो। उसके बाद महान घड़े के जल से भगवान की मूर्ति को प्रोक्षित करे। पर्यंक पर भगवान को सुलाकर चार-मास के व्यतीत हो जाने पर कार्तिक मास के शुक्ल पक्ष की द्वादशी को प्रातः काल नाना प्रकार की स्तुतियों एवं वेदान्तों के द्वारा उठावे।[3]

अन्य उत्सव-प्रकार

1. अन्नकूट महोत्सव—पाञ्चरात्र संहिताओं में इस उत्सव का उल्लेख अत्यल्प हुआ है। यह एक विशेष प्रकार का उत्सव था जिसमें रक्तिम् वर्ण के विशेष प्रकार के भोज्य का निर्माण चढ़ावे के लिए तैयार किया जाता था। अन्न-कूट महोत्सव (कार्तिक महोत्सव) कार्तिक मास की नन्दा तिथि को सम्पन्न किया जाता था। शाण्डिल्य संहिता[4] में उल्लेख है कि—अन्नकूट महोत्सव में जहाँ तक सम्भव हो, शाकादि से निर्मित बलि, उपहार से गिरेन्द्र की पूजा विधिवत् गीत-वाद्य आदि से की जानी चाहिए—

रक्ताऽम्बरानुलेपाद्यैर्महेभ्योऽर्चोपचारकैः ।
नन्दायां कार्त्तिके कुर्यादन्नकूटमहोत्सवम् ॥
यावत्संभावितैः पाकैः शाकै रत्नैर्मनोहरैः ।
गिरीन्द्रं पूज्य विधिवद्गीतवाद्यैर्द्विजार्चनैः ॥

---

1. यस्या विज्ञानमात्रेण मन्त्रासिद्धिमवाप्नुयात् ।
अमा प्रदोष समये बोधयेत्कमलालयाम् ॥
वृहद्ब्रह्म सं०, प्रथम पाद, 11.21

2. आषाढ्यां शुक्ल पक्षस्य द्वादश्यां शयनोत्सवम् । **श्री प्रश्न सं०**, 40.15 ब

3. ब्रह्मरुद्रादिदेवाश्च वेदान्तैर्बोधयन्त्यमुम् ।
भक्तैः कृतेन तेनाहं तोषयाम्यमृतोद्भवे ॥ **श्री प्रश्न सं०**, 40.35 ब

4. **शाण्डिल्य सं०**, (भक्ति खंड) भाग-1, 15.28-29

2. अमावस्योत्सव—यह उत्सव प्रतिष्ठा-अनुष्ठान के रूप में वार्षिक समारोह था जो मासिक रूप में आयोजित किया जाता था। विष्वक्सेन संहिता में अमावस्या उत्सव की विधियों का विवरण 28 वें अध्याय में विस्तार से किया गया है। यजमान के नक्षत्र, तिथि, राजा की जन्म-तिथि तथा मन्दिर के देवता की विशेष तिथि पर प्रतिष्ठा का आयोजन किया जाता था। अमावस्या उत्सव के आयोजन का अभिप्राय 'तमस' से ज्योति की आकांक्षा से रहा होगा। भारत में महालया अमावस्या तथा मार्गशीर्ष की कुम्भी अमावस्या अत्यधिक महत्त्वपूर्ण मानी जाती है, जिसका विधान विष्वक्सेन संहिता में मासिक आयोजन के रूप में निर्धारित किया है।[1]

3. अवभृथोत्सव—अवभृथ का सामान्य अर्थ स्नान होता है। विशेष अर्थ में अवभृथ का अर्थ मुख्य यज्ञ की समाप्ति पर शुद्धि के लिए किया जाने वाला स्नान, मार्जन के लिए जल, अतिरिक्त यज्ञ जो पूर्वकृत मुख्य यज्ञ की त्रुटियों की शान्ति के लिए किया जाता है। सामान्य यज्ञानुष्ठान तथा यज्ञानुष्ठान की समाप्ति पर देवता, आचार्य और भक्तों द्वारा किया जाने वाला स्नान होता है।[2] पाञ्चरात्र-परम्परानुसार सामान्यतया यह उत्सव महोत्सव की अवधि में नवें दिन प्रातःकाल तीर्थबेर, कौतुकबेर या बलिबेर पर किया जाता है। प्रतिमा को मन्दिर में तेल, सुगन्ध चूर्ण से स्नान कराया जाता है, तत्पश्चात् प्रतिमा को सरोवर में ले जाकर आचार्य द्वारा स्नान कराया जाता है। इस अवसर पर भक्तजनों को उसी स्थान पर ईश्वर की कृपा और आशीर्वाद प्राप्ति के लिए स्नान करना चाहिए।[3]

अवभृथोत्सव के सम्बध में ईश्वर संहिता के अध्याय 11 में 317 से 356 श्लोक तक विस्तृत विवरण दिया गया है। ईश्वर संहिता में अवभृथ कृत्य का वर्णन करते हुए कहा गया है कि आचार्य भगवान के गृह में प्रवेश कर मूर्ति के निकट यजमान सहित दण्डवत प्रणाम करके तीर्थ बिम्ब, बलि बिम्ब और मूल बिम्ब की स्थापना करे और पूजा के पश्चात् वाद्य और घंटा-घोष के साथ किसी सरिता-सरोवर या जल-संस्थान के पास मूर्ति को स्नान करावे। मूर्ति की शोभा-यात्रा के साथ मंगल गान करते हुए जाना चाहिए। अवभृथ रजनी के पूर्व भाग में करने से मुहूर्त की अतिक्रमणता का दोष नहीं होता।[4]

---

1. **विष्वक्सेन सं०**, 23.1-105
2. आप्टे, **संस्कृत-हिन्दी-कोश** में 'अवभृथ' शब्द।
3. एच० डेनियल स्मिथ, **बिब्लियोग्राफी ऑफ पाञ्चरात्रागम**, भाग-दो, पृ० 13
4. रजन्यां पूर्वभागे वा कुर्यादवभृथं विभोः।
   मुहूर्तातिक्रमप्राप्तदोषस्तत्र न विद्यते॥ **ईश्वर सं०**, 11.351

पाद्‌म संहिता के 11वें अध्याय के 201 से 230 श्लोक तक अवभृथ उत्सव का विवरण दिया गया है। पाद्‌म संहिता का वचन है कि इस महोत्सव का प्रारम्भ प्रातःकाल से करना चाहिए। देवता के विम्ब को विधिवत अगरु, चन्दन आदि से स्नान कराकर शुभ्र वस्त्र पहनाकर उसकी शोभा-यात्रा निकालनी चाहिए, जिसमें विप्र स्तोत्र वाचन करते हुए गमन करे साथ में विभिन्न वाद्यों का घोष होता रहे।

यह भी निर्देश है कि गणिकाएं और देवदासियां मंगल गान करती हुई सरिता या सरोवर पर पहुंचकर सर्वप्रथम देवविम्बों को स्नान करावे; साथ में जाने वाले भक्त जन स्नान करें और देव-विग्रह को पुनः मंडप में लाकर यथाविधि अभ्यर्चना करते हुए उसी रात्रि में स्थापित कर दें।[1]

पारमेश्वर संहिता के क्रियाकांड के 17वें अध्याय के 363 से 418 श्लोक तक अवभृथ उत्सव का विवरण दिया गया है। पारमेश्वर संहिता में भी अवभृथ महोत्सव की विधि का परम्परागत वर्णन किया गया है। नवें दिन रजनी के पूर्व भाग में इस उत्सव के किये जाने का निर्देश उसी प्रकार शब्दशः दिया गया है जैसा ईश्वर संहिता में उल्लिखित है।[2] पुरुषोत्तम संहिता ने भी अन्य संहिताओं की परम्परा में नवें दिन अवभृथ उत्सव के समापन स्नान का विधान किया है।[3] विष्णुतिलक संहिता में स्थान और विवरण दिया गया है तथा यहाँ अवभृथ उत्सव के लिए तीर्थोत्सव एवं अवभृथ स्नान शब्द का प्रयोग किया गया है।[4]

4. अवरोहणोत्सव—यह उत्सव विभिन्न देवताओं की अवतारणा के उपलक्ष्य में किया जाता है। गरुड़ का विशेषरूप से आवाहन इस उत्सव में किया जाता है। गरुड़ की उपस्थिति एक कुम्भ में संकल्पित की जाती है और कुम्भ, महोत्सव अवधि के रथोत्सव शोभा-यात्रा में, लेकर चला जाता है। संहिता ग्रंथों में इस उत्सव के लिए रथोत्सव प्रारम्भ होने के पहले 8वें दिन के सायंकाल अवरोहणोत्सव सम्पादित किया जाता है। इस उत्सव में विभिन्न देवताओं का

---

1. **पाद्‌म सं०**, चर्यापाद, 11.201-230
2. **ईश्वर सं०**, 11.351 तथा

   रजन्यां पूर्वभागे वा कुर्यादवभृथं विभोः।
   मुहूर्तातिक्रमप्राप्तदोषस्तत्र न विद्यते॥ **पारमेश्वर सं०**, 17.413
3. **पुरुषोत्तम सं०**, 24.182-197
4. **विष्णु तिलक सं०**, 8.79, 8.83-86

आवाहन करके कलश में स्थापना की जाती है। इसी को अवरोहणोत्सव कहा गया है। इसके स्रोत संदर्भ विष्णुतिलक संहिता एवं श्री प्रश्न संहिता में द्रष्टव्य हैं।[1]

5. कल्हारोत्सव—विश्वामित्र संहिता में इस उत्सव से सम्बद्ध एक कथा का वर्णन किया गया है जिसके माध्यम से कल्हारोत्सव की विधियों का वर्णन प्रस्तुत किया गया है। कथा यह है कि राजा अम्बरीष द्वारा एक ब्राह्मण की हत्या करने के पश्चात् उन्हें प्रायश्चित्त करना पड़ा था।[2] इस प्रायश्चित्त अनुष्ठान में कल्हार कुसुम और दमन पुष्प का आरोपण भगवान पर किया गया था। इसलिए इस उत्सव को कल्हारोत्सव कहा जाता है।[3]

पाञ्चरात्र संहिताओं में इस उत्सव के आयोजन के अभिप्राय के सन्दर्भ में उल्लेख है कि यह दुःख दूर करने अथवा किसी अधर्म करने के प्रायश्चित्त करने के उपलक्ष्य में किया जाता है। अन्यत्र यह भी उल्लेख है कि अकाल शत्रु के आक्रमण तथा अन्य दुष्परिस्थितियों से मुक्त करने के उपलक्ष्य में इस उत्सव को सम्पादित किया जाता है और इसके लिए जो भी अनुष्ठान किया जाता है उसमें कल्हार कुसुम तथा कमल दल को अर्पित किया जाता है।[4] विश्वामित्र का कथन है कि उन्हें महर्षिपद इस कल्हारोत्सव अनुष्ठान के सम्पन्न करने के

---

1. **विष्णुतिलक सं०**, 8.170-181; **श्रीप्रश्न संहिता**, 38. -32
3. **विश्वामित्र संहिता**, 25. 1-186
3. **तत्रैव**
4. द्र०, डेनियल स्मिथ, **फेस्टिवल्स इन पाञ्चरात्र लिटरेचर**, पृ० 36
5. ऐहिकान् सकलान् भोगान् भुक्त्वान्ते वैष्णवं पदम्।
   गच्छेदतः प्रवक्ष्यामि तव तेजोऽभिवृद्धये॥
   मयाप्याराधितो देवः कल्हारैः पुरुषोत्तमः।
   ब्राह्मण्यं तपसा लब्धं यदा कश्यपनन्दन॥
   तदा मां ब्रह्मणः पुत्रो वशिष्ठो भगवान ऋषिः।
   ब्रह्मर्षिस्त्वमसीत्युक्त्वा तव तेजोभिवृद्धये॥
   कल्हारैर्यजतं देवं विष्णुं जिष्णुं सनातनम्।
   इत्युक्त्वा तद्विधिं भूयः कथयित्वा मुनीश्वरः॥
   जगामादर्शनं भूयस्तच्छ्रुत्वाहमपि द्विज।
   जी (ची)र्णवांस्त् व्रतेनैव तदुक्तेनैव वर्त्मना॥
   सकृदेतेन चीर्णेन व्रतेन द्विजसत्तम्।
   तच्छृणुष्वा (?) वधानेन व्रतं सर्वार्थसाधनम्॥
   विश्वामित्र संहिता, 25.25-30]

पश्चात् ही प्राप्त हुआ था ।[5] यह उत्सव यजमान के लिए प्रथम तीन वर्गों में विहित है । अंकुरार्पण, अनुष्ठान तथा पुष्पहार अर्पित करने का निर्देश किया गया है ।[1]

पाद्म संहिता में उल्लेख है कि चैत्र मास या वैसाख मास के शुक्ल पक्ष के किसी शुभ दिन में कल्हार कुसुमोत्सव तथा दमनीदल उत्सव किया जाता है । इसमें होम आदि क्रियायें भी की जाती हैं ।

पुरुषोत्तम संहिता में इस उत्सव के सम्बन्ध में लिखा है कि यह उत्सव वसन्त ऋतु के वैशाख मास में सम्पन्न किया जाता है ।[2]

इसी प्रकार मार्कण्डेय संहिता में दमनारोपण अनुष्ठान को कल्हारोत्सव कहा गया है जो किसी दुष्कर्म के प्रायश्चित्त करने के उपलक्ष्य में किया जाता है ।[3] विष्णु तिलक संहिता में भी वसन्तोत्सव और दमनोत्सव का परम्परागत उल्लेख किया गया है ।[4]

श्री प्रश्न संहिता के 58वें अध्याय में कल्हारोत्सव का वर्णन किया गया है । इस संहिता का वचन है कि यदि किसी गंभीर स्थिति की सम्भावना हो, यथा—शत्रु का आक्रमण, अकाल, दुर्भिक्ष की आशंका हो, महामारी, महा उत्पात, ग्रहों की वक्रता की सम्भावना हो, तब यह कल्हारोत्सव चैत्र या वैशाख या शरद या ज्येष्ठ या श्रावण या पौष या फाल्गुन में करना चाहिए ।[5] इस उत्सव का वैशिष्ट्य यह है कि लगभग एक पद भूमि का स्थापन और विस्थापन करते हुये नगर वीथियों में भगवान की शोभा यात्रा निकाली जाती है और नदी तट पर स्नानोपरान्त पुन: मन्दिर में स्थापित कर दी जाती है । इस उत्सव में महीपति जगन्नाथ की कल्हारकुसुम से पूजा की जाती है । इसी को कल्हारोत्सव कहा गया है ।[6]

6. **गङ्गोत्पत्युत्सव**—इस उत्सव का सम्बन्ध गंगा नदी की उत्पत्ति से सम्बन्धित है । आषाढ़ मास में इस उत्सव का आयोजन किया जाता है । सरिता के तट पर नव कुम्भों के जल से गंगा की प्रतिमा तथा उपस्थित जन-समूह पर जल का छिड़काव किया जाता है । इसी को पवित्रोत्सव भी कहा गया है ।

---

1. **विश्वामित्र संहिता**
2. **पुरुषोत्तम संहिता**, 27.10-12
3. **मार्कण्डेय संहिता**, 28.2, 7
4. **विष्णु तिलक संहिता**, 8.259-261
5. **श्रीप्रश्न संहिता**, 48.1-6
6. **तत्रैव**, 48.8-14

श्रीप्रश्न संहिता (42.1-21) में गंगा की उत्पत्ति के उत्सव की कथा निरूपित है। राज्य और राष्ट्र की अभिवृद्धि के लिए प्रत्येक वर्ष के कटक (आषाढ़) मास के आठवें या दसवें दिन गंगा की उत्पत्ति का उत्सव किया जाता है। दैत्यराज महाबलि के यज्ञ के मध्य में देवताओं की हित-कामना के लिए वामन रूप धारण कर भगवान विष्णु बलि से तीन पग भूमि की याचना की थी। भगवान विष्णु के तीन पदों की कथा में तृतीय पद से गंगा की उत्पत्ति वर्णित है। गंगा नदी के तट पर गंगा, गोदावरी, यमुना, सरस्वती, नर्मदा, सिन्धु, कावेरी की पूजा का विधान वर्णित है। इसमें गंगा नदी के बिम्ब की पूजा होती है तथा किसी भी जल संस्थान पर गंगा-उत्पत्ति उत्सव का आयोजन किया जा सकता है। नव कुम्भों में जल पूरित कर यह उत्सव प्रारम्भ किया जाता है। इस उत्सव का प्रयोजन यह है कि गंगा विष्णु के चरण कमल से उत्पन्न होने के कारण सर्वपाप हारिणी हैं। गंगा की पूजा वस्त्र, पुष्प, फल आदि से की जाती है। इस उत्सव की अवधि को 14 दिन तक करने की संस्तुति श्रीप्रश्न संहिता ने किया है।

7. **गन्धोत्सव**—मार्गशीर्ष महीने के मृगशिरा नक्षत्र में गन्धोत्सव का विधान है।[1] इस उत्सव में अनेक प्रकार के मिश्रित गन्धों का प्रलेपन विहित है तथा गन्धयुक्त जल से स्नान भी इसी प्रसंग में वर्णित है। अपने सामर्थ्य के अनुसार यह गन्ध स्नान आठ सौ इक्यासी या छत्तीस कलश के जल से विहित है। कर्पूर, कुमकुम, चन्दन आदि इस जल में मिश्रित करना चाहिए। गन्धाभाव होने पर घृत, दुग्ध या नारिकेल के जल से स्नान विहित है। कार्तिक मास के द्वादशी को भी यह उत्सव विहित है और प्रातःकाल विशेष रूप से कौशिकी गीत का गायन करना चाहिए।[2] यदि मार्गशीर्ष में इस उत्सव का समायोजन किया जाय तो ह्वेर से पूजन करना चाहिए। और यदि इसी मास के मृगशिरा नक्षत्र में हो तो क्रमुक आदि फलों के द्वारा पूजन विहित है।[3] इस प्रकार से अनिरुद्ध संहिता में गन्धोत्सव का वर्णन किया गया है।

8. **चन्दनोत्सव**—यह उत्सव माधव (वसन्त) अथवा मधुमाधव दोनों ऋतुओं में आयोजित करना चाहिए। इस उत्सव का एकमात्र उल्लेख शाण्डिल्य संहिता (15.1.11) में हुआ है। यह उत्सव गन्धोत्सव के समान ही है तथा

1. मार्गशीर्षे मासि ऋक्षे गन्धालेपनमाचरेत्। **अनिरुद्ध संहिता**, 22.17
2. कार्तिकेमासि द्वादश्यां गन्धालेपनमाचरेत्।
उषःकाले विशेषेण कौशिकी गीति माचरेत्॥ **अनिरुद्ध संहिता**, 23.38
3. **तत्रैव**, 23.43

वसन्तोत्सव का एक अंश माना गया है। शाण्डिल्य संहिता के अनुसार फाल्गुन एकादशी अथवा चैत्र या माधव मास में पुष्पोत्सव के साथ चन्दनोत्सव भी आयोजित करना चाहिए।

फाल्गुनैकादशीपूर्णाप्रतिपत्सु सुपूजनम्।
पुष्पोत्सवश्चैत्रमासे माधवे चन्दनोत्सव: ॥

शाण्डिल्य संहिता, 11.14.11

9. चम्पकारोहण—इस उत्सव का प्रारम्भ चैत्र मास के चित्रा नक्षत्र में किया जाता है।[1] इस उत्सव में रात्रि में विष्णु की पूजा का विधान किया गया है। यजन एवं होम कर्म भी विहित हैं। उत्सव की समाप्ति पर नारिकेल के जल से स्नान तथा इसके अभाव होने से सुगन्धित जल से स्नान विहित है। यात्रा के समय पुष्प ग्रथित रज्जु की प्रशस्तता बतायी गयी है।[2] इस उत्सव में अन्य उत्सवों की भांति अन्य समग्र कर्म विहित हैं। अनिरुद्ध संहिता में वर्णित है कि चम्पक पुष्प के अभाव होने पर पाटल (गुलाब) पुष्प का समायोजन करना चाहिए। वैशाख मास में इस उत्सव का समापन किया जाता है। समापन के समय ब्राह्मणों को उत्सव का प्रसाद अर्पण करना चाहिए।[3]

10. जयन्ती उत्सव—जैसा कि हमने तीन विशिष्ट वार्षिकोत्सवों के परिचय-विश्लेषण के प्रसंग में संकेत किया है कि देवालय स्थित प्रमुख देव की जयन्ती बड़े धूम-धाम से मनाये जाने का आगमों में विधान है। जिनके जन्मोत्सव इस परम्परा में मनाये जाते रहे हैं उनमें विष्णु के प्रमुख अवतारों की गणना की जा सकती है। इनमें भी सर्वाधिक महत्त्व वासुदेव-कृष्ण के जन्मोत्सव का रहा है। इसीलिए अधिकांश संहिताओं में इस विशेष उत्सव पर अपेक्षया अधिक ध्यान दिया गया है। संभवत: इसीलिए इस उत्सव को कृष्णोत्सव, जन्माष्टमी उत्सव, श्रावण अष्टमी उत्सव भी कहा गया है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि जयन्ती उत्सव कहने से साधारणतया कृष्ण जयन्ती का बोध होने लगता है, क्योंकि सर्वाधिक वर्णन पाञ्चरात्र आगमों में कृष्ण जन्मोत्सव का ही मिलता है। दूसरा स्थान श्रीराम के जन्मोत्सव का है। शेष गौण हैं। रोचक बात यह है कि लोक में यही क्रम स्मार्त परम्परा में भी रहा है।

इस उत्सव का विधान श्रावण मास के कृष्ण पक्ष के अष्टमी को किया

---

1. चैत्र मासे कृक्षे तु चम्पकाराधनं चरेत्।
अनिरुद्ध संहिता, 22.8

2. यात्राकाले तु विप्रेन्द्र पुष्पदाम प्रशस्यते। **अनिरुद्ध संहिता**, 23.5

3. ब्राह्मणादीनां वर्णानां तत्प्रसादं प्रदापयेत्। **अनिरुद्ध संहिता**, 23.7

गया है ।[1] इस उत्सव के लिए रोहिणी नक्षत्र तथा बुधवार प्रशस्त है। इस उत्सव में 25 कलश जिनमें नारिकेल का जल या घृत समाहित किया गया हो उससे स्नपन करना चाहिए ।[2] जयाख्य नामक मण्डल को बनाकर होम कार्य किया जाता है । पायस, मुद्गान्न, जम्बू आदि नाना प्रकार के फल ईश्वर को अर्पित करने का उल्लेख किया गया है । उस दिन उपवास करके पूजा के अन्त में पारण करना चाहिए । फलार्पण के पूर्व चन्द्र-पूजा का विधान है। चन्द्रपूजा की भूमि का विशेष रूप से गोमय से लेपन करणीय है तथा चूने से अलंकृत करके चन्द्रमा के मण्डल का निर्माण विहित है । संकल्प, प्राणायाम, न्यास, आसनावाहन, पाद्य, आचमन, गन्ध, पुष्प, धूप, दीप आदि से चन्द्रमा की पूजा तथा रात्रि में जागरण करने के बाद प्रात:काल महोत्सव का समायोजन होता है । इस पूजा में तोरण आदि का विधान भी विहित है ।[3] इस संहिता में जयन्ती उत्सव के अन्तर्गत नाना प्रकार के द्रव्यों को मण्डप में रखकर 1, 3, 5, 7 या 9 दिन तक इस उत्सव को करने का विधान है। यह उत्सव मध्याह्न या अपराह्न में ही किया जाता है। अनिरुद्ध संहिता में यह वर्णन है कि जो व्यक्ति भक्ति पूर्वक इस उत्सव को करता है वह भुक्ति एवं मुक्ति को प्राप्त करता है तथा अनेक कन्यादान, गोदान तथा अनेक प्रकार के धार्मिक कार्यों के फलों के समान पुण्य एवं यश प्राप्त करता है ।[4]

ईश्वर संहिता में कृष्ण जन्म के दिन जन्माष्टमी और जयन्ती द्विविध उत्सव बताये गये हैं तथा जयन्ती उत्सव का विधान श्रावण मास में विहित है । यहां इस उत्सव के काल के बारे में विस्तृत विवेचना प्रस्तुत की गयी है तथा इसके फल का भी वर्णन किया गया है । कृष्ण जयन्ती उत्सव में दिन में उपवास करके रात्रि में अर्चना का विधान है। इस संहिता में अनिरुद्ध संहिता की भांति मण्डप को सुधा चूर्ण से समलंकृत करने का विधान है परन्तु अनिरुद्ध संहिता के विपरीत भद्र आसन पर कृष्ण की प्रतिमा की स्थापना विहित है।[5] मण्डप के

---

1. जयन्त्युत्सवमष्टम्यां श्रावणे कृष्णपक्षके । **अनिरुद्ध संहिता**, 22.14
2. **अनिरुद्ध संहिता**, 25.5-8
3. अनिरुद्ध संहिता, 25 9-4
4. एकाहं च त्र्यहं चैव पञ्चसप्तमवाहकम् ।
   उत्सवं कारयेन्नित्यं मध्याह्ने वापराह्णके ।।
   एवं यः कारयेद्भक्त्या भुक्तिमुक्ती भजेन्नरः ।
   बहुकन्याफलंचैव बहुगोदानजं फलम् ।
   बहुधर्मफलं चैव लभते नात्रसंशयः ।। **अनिरुद्ध संहिता**, 25.25-27
5. कृष्णविम्बं समानीय विन्यसेभ्यद्रविष्टरे । **ईश्वर संहिता**, 13.23

सामने कुण्ड का निर्माण करना चाहिए, चन्द्रमा के उदित हो जाने पर कृष्ण के जन्म के समय गो-क्षीर आदि से श्रीकृष्ण की अर्चना करने का विस्तृत विवरण प्राप्त होता है तथा इसी प्रसंग में चन्द्रमा की स्तुति भी यहां विहित है। दूसरे दिन उत्सव के सम्पन्न हो जाने पर व्रत का पारण करने का निर्देश प्राप्त होता है। प्रातःकाल स्नान करने के बाद कृष्ण की प्रतिमा को डोली या रथ में बैठाकर ग्राम की प्रदक्षिणा करे और पुष्प, धूप, दीप आदि का प्रक्षेप करे। यहां यह कहा गया है कि कृष्ण की प्रतिमा का अभाव होने पर अपने-अपने घर में स्थित कृष्ण की अर्चना करनी चाहिए।

इस संहिता में कहा गया है कि नृसिंह, राम, वराह तथा वामन आदि के जन्म के दिन भी सम्यक् रूप से विशेष स्नान आदि के द्वारा उत्सव मनाना चाहिए।[1] यहाँ यह अनुमोदित किया गया है कि इस प्रकार से जो भक्त इस जयन्ती उत्सव को करता है वह संसार में अपने इच्छित फलों को प्राप्त करके सायुज्य पद को प्राप्त करता है।[2]

नारदीय संहिता में भी इस उत्सव का वर्णन मिलता है। यहां यह कहा गया है कि जो इस उत्सव में उपवास करके हरि की उपासना करता है उसके सौ जन्मों के पाप को अच्युत विनष्ट कर देते हैं।[3] यहाँ इस उत्सव का फल विस्तृत रूप से वर्णित है।[4] चैत्रमास के पुनर्वसु नक्षत्र में नवमी तिथि तथा कुलीर लग्न को भगवान राम की जयन्ती[5] के उत्सव का वर्णन तथा पुष्य नक्षत्र एवं मीन लग्न में भरत की जयन्ती-उत्सव का वर्णन पाद्म संहिता में किया गया है। लक्ष्मण, शत्रुघ्न तथा हनुमान की अर्चना यहाँ वर्णित है। श्रावण मास के कृष्ण पक्ष के अष्टमी के रोहिणी नक्षत्र में कृष्ण की जयन्ती का विधान है।[6]

---

1. एव नृसिंहं रामं च वराहं वामनादिकान्।
   तत्तज्जन्मदिने सम्यग्विशेषस्नपनेन तु॥ **ईश्वर संहिता**, 13.87
2. **तत्रैव**, 13.90
3. जयन्त्यामुपवासं तु कृत्वा योऽर्चयेद्धरिम्।
   तस्य जन्मशतोद्भूतं पापं नाशयतेऽच्युतः। **नारदीय संहिता**, 24.8, 9
4. **तत्रैव**, 24.13-22
5. चैत्रे मासि पुनर्वस्वोर्जन्म रामस्य मङ्गलम्।
   तिथौ नवम्यां लग्ने च कुलीरे कमलासन॥
   पाद्म संहिता, (चर्यापाद) 14.3
6. श्रावणे मासि कृष्णे च पक्षेऽष्टम्यां तिथौ हरेः।
   रोहिण्यां जन्म कृष्णस्य लोकानां मङ्गलावहम्॥ **तत्रैव**, 14.30-31

विश्वामित्र संहिता में भी अन्य संहिताओं के ही अनुसार श्रावण कृष्ण अष्टमी की मध्य रात्रि को कृष्ण जन्मोत्सव विहित है। यहाँ यह अवधेय है कि मण्डल, तोरण, सविधि स्नान, रात्रि जागरण, निशा-पूजन, इतिहास, पुराणादि वाचन, गन्धार्पण, नैवेद्यार्पण, फलार्पण आदि कृत्यों का वर्णन विस्तृत रूप से किया गया है। पुनः यहां भी ईश्वर संहिता की ही भांति भगवान कृष्ण की प्रतिमा को डोली में बैठाकर ग्राम का परिभ्रमण कराके तथा पुनः मन्दिर में प्रतिस्थापित करने का निर्देश है। यहाँ 3, 5, 7 दिनों तक अपने सामर्थ्य के अनुसार इस उत्सव को सम्पन्न करने का विधान है।[1]

वसन्त के समय मधुमास में शुक्ल पक्ष को नवमी तिथि को सीता लक्ष्मण के साथ श्रीराम के जन्मोत्सव का पूर्वोक्त विधान वर्णित है।[2] इसी संहिता में नृसिंह जयन्ती का भी वर्णन कृष्णजयन्ती की ही भांति विहित है।[3] विष्वक्सेन संहिता में भगवान राम के जन्मोत्सव का वर्णन है। इस अवसर पर विधिवत् स्नान, आचार्य पूजन, गोदान, भूमिदान, सुवर्ण, रजत, पुष्प, घी, तिल, गोग्रास का दान विहित है। विधिवत् होम करके षोडशोपचार के द्वारा—**विष्णोर्नुकं वीर्याणि प्रवोचम**—इस विष्णु सूक्त वचन अथवा द्वादशाक्षर मंत्र से होम वर्णित है। तदनन्तर पुण्याहवाचन, दक्षिणादान करके भगवान राम के मंत्र में हवि निवेदन वर्णित है। ब्राह्मण भोजनोपरान्त नृत्य एवं गीत के द्वारा रात्रि का शेष भाग व्यतीत करना चाहिए। प्रातःकाल तिल, चन्दन, अंगराग, हल्दी चूर्ण, नाना प्रकार के पुष्प वस्त्रादि के द्वारा यह महोत्सव सम्पन्न करना चाहिए।[4] यहाँ इस उत्सव की महत्ता को बताते हुए कहा गया है कि जो व्यक्ति राम जन्म के दिन यह उत्सव करता है वह विष्णु के सालोक्य पद को प्राप्त करता है।[5]

श्रीप्रश्न संहिता में कृष्ण जन्मोत्सव का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है। परिवार के समग्र सदस्यों के साथ कृष्ण की विधिवत् अर्चना-अर्घ्य, पुष्प,

---

1. ततः प्रभृति (त आरभ्यः) दिवसान् त्रीन्वा पञ्चाथ सप्त वा।
   उत्सवं कारयेद्विद्वान् यथाश्रद्धं यथावसु॥
   विश्वामित्र संहिता, 16.103
2. द्र० **विश्वमित्र संहिता**, 16.104-108
3. **तत्रैव**, 16.109-111
4. द्र० **विष्वक्सेन संहिता**, 29.1-20
5. एवं यः कारयेद् भक्त्या चोत्सवं रामजन्मनि।
   स याति विष्णुसालोक्यं क्रमात् परिषदेश्वरः॥ **तत्रैव**, 29.21-22

समिद्धोम आदि के द्वारा अन्य संहिताओं की भांति ही वर्णित है।[1] जो व्यक्ति इस जयन्ती उत्सव का आयोजन करता है वह इस लोक के समग्र भोगों का भोग करके मरणोपरान्त देवताओं के साथ विष्णु लोक में आनन्दपूर्वक निवास करता है।[2]

श्रीप्रश्न संहिता के 47 वें अध्याय में राम की जयन्ती पूर्वोक्त तिथि को वर्णित है। तथा उसी मास के कृष्ण पक्ष के गुरुवार त्रयोदशी को प्रातःकाल वाराह रूपी भगवान का जन्म महोत्सव वर्णित है।[3] वैशाख शुक्ल चतुर्दशी दिन शुक्रवार, चित्रा नक्षत्र के योग होने पर सायं काल नृसिंह भगवान का पूजन भक्तों को समग्र सिद्धि प्रदान करता है। बलराम, कूर्म, वामन, परशुराम की जयन्ती उत्सव का समायोजन यहां वर्णित है।[4]

इसी प्रकार से इस जयन्ती उत्सव का वर्णन परमपुरुष[5], पराशर[6], पुरुषोत्तम[7] तथा विष्णुतिलक[8] आदि संहिताओं में भी विस्तृत रूप से मिलता है।

11. जलक्रीडोत्सव—जल क्रीडोत्सव जिसका जलोत्सव अपर नाम है, इसका अनुष्ठान ज्येष्ठ मास में किया जाता है।[9] इसी संहिता में अन्यत्र यह कहा गया है कि गंगा और यमुना के जन्म के दिन को इस जलोत्सव का समायोजन किया जाता है।[10]

---

1. **श्रीप्रश्न सं०**, 41.1-76
2. भोगानप्युत्तमानत्र ह्यनुभूय तथान्तिमे।
   मोदते स तु मल्लोके नित्यसूरिगणैः सह॥ **श्रीप्रश्न संहिता**, 41.77
3. तस्मिन् मास्यसिते पक्षे पूर्वप्रोष्ठपदीयुते॥
   गुरोर्वारे त्रयोदश्यां प्रातर्देवो रमापतिः।
   वाराहरूपी भगवान् वासुदेवांशसंभवः॥ **तत्रैव** 47.41-42
4. **श्रीप्रश्न संहिता**, 47.46-58
5. **परम पुरुष संहिता**, 9.1-82
6. **पराशर संहिता**, 26.61-71
7. **पुरुषोत्तम संहिता**, 27.4-21
8. **विष्णुतिलक संहिता**, 8.289-292
9. ज्येष्ठे जलोत्सवः कार्यः·········।
   शाण्डिल्य संहिता, 1.15.12
10. गंगायमुनयोर्जन्मदिने ज्येष्ठे जलोत्सवम्। **तत्रैव**, 20 अ

ईश्वर संहिता में घर के बाहर पुरुष के प्रमाण की खाई खोद करके शिला या ईंट के द्वारा उसको मजबूत बनाकर जिसमें सीढ़ियां बनी हों ऐसा जल रखने का स्थान बनाने और उसके ऊपर चार खम्भों से युक्त मण्डप का निर्माण करने का निर्देश किया गया है। उस खाई को शुद्ध जल से भर देना चाहिए और कस्तूरी, कुमकुम, सुगन्धित पुष्प आदि का प्रक्षेप करने का विधान है। कुण्ड में अथवा बालुकामय वेदी पर अग्नि का स्थापन करके लक्ष्मी का आह्वान करे और घृत से आहुति करे।

इस प्रकार बलि आदि के द्वारा जल द्रोणी (खाई) का संस्कार करे और उसके समीप लक्ष्मी सहित भगवान विष्णु की आराधना करे। भेरी, शंख आदि की ध्वनि से समन्वित वैदिक मंत्रोचारण करना चाहिए। यजमान, ब्राह्मण, यति, स्त्री, गणिका आदि परस्पर उस मंगल जल से आत्मसिञ्चन करें। जो इस प्रकार से करता है वह गंगा में स्नान करने के फल को प्राप्त करके विष्णु के सायुज्य को प्राप्त करता है।[1] स्नान से भीगे हुए कपड़े को पहने ही रथ में भगवान को बैठाकर गांव की गलियों में वरुण की प्रसन्नता और प्रजा गण को पवित्र करने के लिए घुमाये। तदनन्तर भगवान को मन्दिर में स्थापित कर शास्त्रानुसार पच्चीस घड़े के जल से स्नान करावे और हवि पर्यन्त अर्चना करे।[2]

12 जागरणोत्सव—इस उत्सव का विधान भाद्र मास के दशमी तिथि को किया जाता है। इसका वर्णन शाण्डिल्य संहिता में किया गया है।[3]

13. तिलदान—पूर्व पृष्ठों में हमने तिलपद्म व्रत पर प्रकाश डाला है, यहां ध्यातव्य है कि तिलदान उत्सव में तदनुसार पुष्य मास एवं पुष्य नक्षत्र में रात्रि में स्नान करके मण्डप का अलंकरण करना चाहिए। द्वारपूजा विधि को सम्पादित करके पूर्ववत् समग्र कर्मों का सम्पादन करना चाहिए। रजनी चूर्ण को गन्ध से संयुक्त करके पीसना चाहिए। कुम्भ के चारों तरफ और कुण्डों पर मुष्टि पर्यन्त इसका लेपन करना चाहिए तथा प्रातःकाल इस पवित्र कुण्ड एवं घड़े

---

1. परस्परं च सिंचेयुः सर्वे मंगलवारिभिः।
गंगा स्नानफलं प्राप्य विष्णुसायुज्यमाप्नुयुः॥ **ईश्वर संहिता**, 12.56

2. तत्र देव यथा शास्त्रं पंचविशंतिभिर्घटैः।
अभिसिच्य विशेषेण हविरन्तं समर्चयेत्॥

ईश्वर संहिता, 12.59, 60

3. दशम्यादिषु देवस्य कुर्याज्जागरणोत्सवम्।

शाण्डिल्य संहिता, 1.15.31

के ऊपर गन्ध का लेपन करना चाहिए। यह लेपन प्रथम नाभि पर्यन्त, द्वितीय उसके नीचे, तृतीय जानुपर्यन्त एवं चतुर्थ नीचे किया जाता है। अन्त में महीने के मध्य भाग में तिल दान का विधान है।[1] तदनन्तर तिलमिश्रित पिण्ड के द्वारा पिण्ड दान करना चाहिए। इस प्रकार अनिरुद्ध संहिता में तिल दान विधि का वर्णन किया गया है।

14. **तीर्थोत्सव**—इस उत्सव में यात्रा के शुभ एवं अशुभ फल का विचार वर्णित है। इसमें प्रथम दिन रात्रि में विष्णु परिषदों के लिए महाबलि दी जाती है तथा पुनः माह गणों के लिए भी बलि देने का विधान है। पुण्याह स्वस्ति वाचन तथा समित आदि चरु की आहुति देने के विधान हैं। शकुन की परीक्षा करके स्नान के लिए यात्रा करनी चाहिए। इस समय विभिन्न पूजन का यहां विधान है। अघमर्षण करके 'आपो हि्ष्ठा…' आदि पांच मंत्रों के द्वारा प्रोक्षण करे तदनन्तर जल में स्नान करे[2] तथा भगवान को भी स्नान करावे। इस प्रकार का स्नान महापुण्य को प्रदान करने वाला तथा महापाप को हरने वाला है। पुनः विधिपूर्वक भगवान का पूजन करे और प्रार्थना करे कि हे भगवान आज हम महापुण्य के लिए स्नान किए हैं।

पाद्म संहिता में वर्णित है कि भगवान को हस्ति आदि पर बैठाकर उत्सव मनाते हुए नदी, तीर्थ, समुद्र तीर पर ले जाकर रखे। और भगवान को वहां स्नान करावे। तदनन्तर स्वयं स्नान करे। जो व्यक्ति भगवान के स्नानोपरान्त तत्क्षण स्वयं स्नान करता है वह अपने समग्र अशुभ कर्मों एवं महापातकों को क्षालित करके निश्चय ही चन्द्रमा एवं ताराओं के दुष्प्राप्य स्थान को प्राप्त करता है।[3]

विश्वामित्र संहिता में भी भगवान को नदी, तालाब या समुद्र के तीर पर पूर्वनिर्मित मण्डप में ले जाकर श्रेष्ठ आसन पर बैठाकर चक्रादि के सहित पूजा करने का विधान है।[4] यहाँ पर सत्रह या पच्चीस घड़ों के द्वारा भगवान

1. मासार्द्धे न तु पश्चार्द्धे तिलदानं समाचरेत्। **अनिरुद्ध संहिता**, 28.10 ब
2. आपोहिष्ठादिभिः प्रोक्ष्य पंचभिश्च समाहितः।
तमादाय पुनर्मज्जेत् तोये कृत्वाघमर्षणम्॥ **विष्णु संहिता**, 21.25
3. देवेन सह तत्काले निमज्जन्ति च ये जनाः।
ते निर्धूयाशुभं सर्वं महापातकमप्यथ॥
यान्ति ध्रुवं सुदुष्पापं स्थानमाचन्द्रतारकम्।
पाद्म संहिता, (चर्यापाद), 11.227, 228
4. नीत्वाथ सरितस्तीरं सरसस्तटमेव वा।
जलधेरथवा तीरे मण्डपे पूर्वकारिते॥ **विश्वामित्र संहिता**, 18.140-41

को स्नान कराने का विधान है। इस संहिता में अन्य संहिताओं से पृथक् यह वर्णन मिलता है कि नदी आदि के अभाव होने पर उनका आवाहन करके भगवान को स्नान करावे।[1] पाद्म की भाँति यहाँ भी यह वर्णन है कि जो व्यक्ति भगवान के साथ स्नान करता है वह समग्र शुभों का अनुभव करके दुष्प्राप्य चन्द्र-ताराओं के पद को प्राप्त करता है। तदनन्तर विविध प्रकार के फलों एवं पुष्पों से भगवान के यजन का विस्तृत वर्णन है।

नारदीय संहिता में भी तीर्थोत्सव का वर्णन मिलता है। यहाँ वर्णित है कि भगवान के प्रतिबिम्ब को रथ, हाथी या वाहन पर बैठा करके नदी के पास ले जाय और वाहन से उतरकर स्नान करे।[2] इसी प्रकार से कपिंजलादि संहिताओं में भी तीर्थोत्सव का वर्णन समान रूप से प्राप्त होता है। परन्तु वर्णन क्रम में यत् किंचित भेद स्पष्ट है।[3]

15. दमनारोपण—दमनारोपण को दमनिकोत्सव भी कहते हैं। माघ मास के मघा नक्षत्र में दमनारोपण उत्सव का आयोजन किया जाता है[4] तथा फाल्गुन मास के फाल्गुनी नक्षत्र में तुलस्यारोपण विहित है।[5] तुलसीरोपण में दमनारोपण वर्णित है।[6] ईश्वर संहिता में दमनारोपण को दमनिकोत्सव नाम से अभिहित किया गया है तथा अनिरुद्ध संहिता के विपरीत यहाँ इस उत्सव का अनुष्ठान चैत्र शुक्ल द्वादशी को विहित है।[7] इस संहिता में दमनिकोत्सव के अवसर पर 25 कुम्भों का अभिसेचन एवं 'नारायण', 'अथ पुनरेव नारायण…' आदि मंत्रों से अभिसेचन वर्णित है। रजनी के चूर्ण से मिश्रित नव कुम्भों की अर्घ्य आदि से अर्चना करके उनसे अभिसेचन करना चाहिए। इससे समग्र विघ्न दूर हो जाते हैं और उत्सव में पूर्णता आती है।[8] यहाँ भगवान को स्नान कराने के

---

1. अभावे सरिदादीनां तेषामावाहनं बुधः।
   कारयित्वा तीर्थबिम्बं चक्रं भक्तांश्च देशिकः॥ **तत्रैव**, 18.144
2. **नारदीय संहिता**, 19.140
3. **कपिंजल संहिता**, 22.6, 23.44-70
4. माघमासे तु माघर्क्षे दमनारोपणं चरेत्। **अनिरुद्ध संहिता**, 22.7
5. **तत्रैव**, 22.8
6. तुलस्यारोपणे चैव दमनारोपणं भवेत्। **अनिरुद्ध संहिता**, 23.1
7. चैत्रे तु शुक्ल द्वादश्यां कुर्यात दमनिकोत्सव॥ **ईश्वर संहिता**, 12.63
8. रजनीचूर्णसमिश्रान् संस्थाप्य नवकुम्भकान्।
   × × ×
   सर्वविघ्ननिरासार्थं सर्वसम्पूरणाय च॥ **ईश्वर संहिता**, 12.81-82

विविध मंत्र उपदिष्ट है। तदनन्तर मधु में डुबोयी गयी तीन समिधाओं से हवन करके विधिवत दमनारोपण करना चाहिए।[1]

पाद्‌म संहिता में दमनिकोत्सव का विधान पूर्णमासी तिथि को किया गया है।[2] इस उत्सव में दमनिका पुष्प के द्वारा मण्डप बनाकर हरि की पूजा करने का विधान है। इस उत्सव में दमनिका के पत्र द्वारा होम करने का भी वर्णन आया है।[3]

पारमेश्वर संहिता के अनुसार चैत्र मास के पुनर्वसु नक्षत्र में शुक्ल द्वादशी तिथि को दमनिकोत्सव का आयोजन वर्णित है।[4] यहाँ भी ईश्वर संहिता की भाँति 25 कुम्भों का स्थापन विविध मंत्र से विस्तृत रूप में विवेचित किया गया है।[5] इस संहिता में दमनिकोत्सव का वर्णन-क्रम ईश्वर संहिता से भिन्न नहीं है। विश्वामित्र संहिता में भी ईश्वर को दमनक के पत्रों का अर्पण विहित है।[6] इससे भक्त के साम्वत्सरिक भोगों की संतृप्ति होती है। यह फलश्रुति पाद्‌म संहिता, ईश्वर संहिता, पारमेश्वर संहिता, अनिरुद्ध संहिता में उपलब्ध नहीं है। इस दमनारोपण उत्सव का विस्तृत विवेचन विश्वामित्र संहिता के 26वें अध्याय में वर्णित है।[7]

16. दानकोत्सव—शाण्डिल्य संहिता के अनुसार श्रावण मास की त्रयोदशी या चतुर्दशी को इस उत्सव का विधान है।[8] इस उत्सव में दान की प्रधानता बतलायी गयी है।

17. द्वादशी उत्सव—इस उत्सव का प्रारम्भ मार्गशीर्ष मास के शुक्ल पक्ष की द्वादसी को किया जाता है। जिसमें हरि की आराधना की प्रधानता है।[9]

---

1. होमं कृत्वा विशेषेण संमद्‌भिस्त्रिमधुप्लुतैः।
   ततो दमनिकारोपमाचरेत्तु यथाविधि।। **ईश्वर संहिता**, 12.92
2. पौर्णमास्यां तिथौ तस्मिन् मासे दमनिका दलैः।
   पाद्‌म संहिता, (चर्यापाद), 14.14
3. उत्सवश्च भवेत्तस्मिन् होमो दमनिकादलैः। **ईश्वर संहिता**, 14.15
4. तस्मिन् तु शुक्ल द्वादश्यां कुर्याद्दमनिकोत्सवं।
   पारमेश्वर संहिता, 17.565
5. पञ्चविंशति कुम्भांस्तु स्थापयित्वाभिषेचयेत्। **तत्रैव**, 17.567
6. तथा दमन्याः पत्राणि देवस्यारोपयेद् द्विज। **विश्वामित्र संहिता**, 24.101
7. द्रष्टव्य **विश्वामित्र संहिता**, 26
8. त्रयोदश्यां चतुर्दश्यां पूर्णायां दानकोत्सवम्। **शाण्डिल्य संहिता**, 15.27
9. मार्गशीर्षे सिते पक्षे मासि व्रतमनुत्तमम्।
   द्वादशीव्रतपूर्वत्वात् व्रतमाराधनं हरेः।। **पाद्‌म संहिता**, (चर्यापाद) 15.25

इस उत्सव में दसमी के दिन भगवान की आराधना करके तथा ब्राह्मणों को यथाशक्ति दक्षिणा देकर द्वादसी व्रत का संकल्प उनकी आज्ञा से करे। इस उत्सव में हवि का भक्षण करके दैनन्दिन कृत्य करने के पश्चात् रात्रि में भगवान का चिंतन करे। पुनः दूसरे दिन एकादशी को विधिपूर्वक दिन में तीन बार स्नान करके निराहार रहकर भगवान की आराधना करके मौन होकर होम पर्यन्त कर्म करे तथा भगवान के ध्यान में आसक्त होकर ही लौकिक व्यवहार भी करे।[1] भक्त रात्रि में कुश पर शयन करे तथा द्वादशी के दिन ब्रह्म बेला में उठकर नित्यक्रिया से निवृत्त होने के पश्चात् वेदाध्ययन एवं ब्राह्मणों को तृप्त करे।

इस उत्सव में दिन में शयन, दूसरों के अन्न का भोजन, मांस भक्षण, स्त्री संसर्ग, तैल सम्मर्दन तथा कांस्य के पात्र में भोजन न करे।[2] द्वादशी उत्सव का पारण त्रयोदशी में कदापि न करे क्योंकि अज्ञानतावश त्रयोदशी में किया गया पारण राक्षसी हो जाता है। इस उत्सव में पाखण्डी एवं गर्हित कर्म करने वाले मनुष्यों से तथा नास्तिकों से कदापि सम्भाषण न करे।[3]

नारदीय संहिता में यह उत्सव द्वादश दिन तक चलने वाला बताया गया है।[4] यहां पर द्वादश रात्रियों में वराह, कृष्ण, कल्कि, मत्स्य, कूर्म, अनन्त एवं नारायण की उपासना वर्णित है।[5]

ईश्वर संहिता में इस उत्सव का प्रारम्भ द्वादशी को वर्णित है। भगवान की अर्चना करके अलंकृत सुवर्ण एवं पुष्प से संयुत रथ पर उन्हें बैठाकर ग्राम की प्रदक्षिणा करावे तथा इस अवसर पर बन्दी, गणिकादि का स्तुति पाठ एवं नर्तनादि करावे। तदनन्तर पुनः ईश्वर को मूल स्थान पर स्थापित करे।[6] ईश्वर संहिता का यह वर्णन अन्य संहिताओं में पृथक है।

पौष्कर संहिता के वचनानुसार वैष्णवों के लिए द्वादशी उत्सव की अत्यन्त उपादेयता है। इस उत्सव में मन्त्रज्ञ ब्राह्मणों को तृप्त करे तथा मन्त्रज्ञ देवताओं की अर्चना होम तथा अपनी शक्ति के अनुसार जप एवं दान करे।[7] इस उत्सव

1. अनश्नन देवमाराध्य होमान्तं मौनमास्थितः।
   भगवद्ध्यानिरतो व्यवहारं च लौकिकम्॥ **तत्रैव**, 15.31
2. **तत्रैव**, 15.39, 40
3. **तत्रैव**, 15.43
4. श्रृणु द्वादशरात्राणां क्रमाद्वक्ष्येऽधि दैवतम्। **नारदीय संहिता**, 19.47
5. **नारदीय संहिता**, 19.48-49
6. **ईश्वर संहिता**, 12.11-23
7. अमन्त्रज्ञस्य देवानामधिकं द्विजतर्पणम्।
   मन्त्रज्ञास्यार्चनं होमं जपदाने स्वशक्तितः॥ **श्री पौष्कर संहिता**, 31.299

में सुवर्ण, रत्न, तिल, घृत आदि का दान विहित है। द्वादशी उत्सव का वर्णन पराशर संहिता में किया गया है।[1]

18. पंकजोत्सव—भाद्रपद मास तथा भाद्रपद नक्षत्र में पंकजोत्सव का विधान किया गया है। आश्विन मास तथा आश्विन नक्षत्र में श्वेत पद्मों के द्वारा इस उत्सव का विधान किया गया है।[2] अनिरुद्ध संहिता में तीन प्रकार के कमलों का वर्णन किया गया है। कमल के न मिलने पर जाति पुष्प के द्वारा उत्सव का विधान बताया गया है।[3] इस उत्सव में रक्त पद्म, श्वेत् पद्म एवं इनके अभाव में कल्हार पुष्पों की पंखुड़ियों का मण्डल बनाना चाहिए। इस उत्सव में अनेक प्रकार के पंकजों का मण्डल विहित है।[4]

19. पाकोत्सव—इस उत्सव का आरम्भ पौष मास में किया जाता है।[5] यह यह उत्सव रहस्य लीला के अवसर पर किया जाता है जो अत्यन्त ही शुभावह है।[6]

20. पुष्यमासोत्सव— पुष्य मास के पुष्य नक्षत्र में इस उत्सव का समायोजन किया जाता है। इस उत्सव में रजनी के चूर्ण का शरीर में लेपन करके रजनी संयुत जल से स्नान किया जाता है।[7] पाद्म संहिता में पुष्य नक्षत्र के पूर्णिमा के दिन इसका समायोजन विहित है। इस समय भगवान की आराधना से समग्र पाप विनष्ट हो जाते हैं।

21. प्रावरणोत्सव—मार्ग शीर्ष मास में प्रावरणोत्सव का समायोजन शाण्डिल्य संहिता में वर्णित है।[8]

22. प्लवोत्सव—शिशिर ऋतु के पूर्व की तीन ऋतुओं में से किसी एक ऋतु में शुक्ल पक्ष या कृष्ण पक्ष में भगवान विष्णु का प्लवोत्सव मनाया जाता है।[9]

---

1. **पराशर संहिता**, 10.41-44
2. **अनिरुद्ध संहिता**, 22.15
3. पंकजानां अभावे तु जाति पुष्पैः प्रपूजयेत्। **अनिरुद्ध संहिता**, 23.28
4. पंकजोत्सवके विप्र मण्डलं बहुपंकजम्। **अनिरुद्ध संहिता**, 23.30
5. पौष्ये पाकोत्सवः। **शाण्डिल्य संहिता**, 1.15.14
6. **अनिरुद्ध संहिता**, 23.44-45
7. पुष्ये च मासि नक्षत्रै पौर्णमास्यामथापि वा।
   आराधनं भगवतस्सर्वपाप विनाशनम्॥
   पाद्म संहिता, (चर्यापाद), 15-57, 58
8. मार्गेप्रावरणोत्सवः। **शाण्डिल्य संहिता**, 1.15.13
9. **ईश्वर संहिता**, 12.111

यजमान के जन्म दिन के नक्षत्र या भगवान के जन्म दिन के नक्षत्र को राज्य एवं राष्ट्र की अभिवृद्धि के लिए प्लवोत्सव किया जाता है ।[1] नक्षत्र के अनुसार यह उत्सव 7 दिन, 9 दिन, 5 दिन, 3 दिन या 1 दिन का होता है । इस उत्सव में रक्षा बन्ध, चतुस्थानार्चन बलिदान, वाहनारोहण आदि करके दिव्य सुमनोहर मण्डप में विशेष रूप से विष्णु को स्थापित करके अर्घ्य हवि आदि के द्वारा उनकी अर्चना करनी चाहिए । तथा अनेक स्तम्भों एवं लौह कीलों से पुष्ट विमान के आकार की दो, तीन, चार या पांच तल की नौका जो अनेक प्रकार के विमानों और पुष्प, माल्य, चामर, दर्पण, अनेक प्रकार के ध्वज पूंगी फल, कदली फल, हूबेर आदि से समलंकृत हो उसमें फणीन्द्र का आवाहन करके कुम्भ का पूजन करे । विधिवत् अग्नि का हवन करके नौका को कुम्भ के जल से प्रोक्षण करे। तदनन्तर उस नौका पर लक्ष्मी (देवी) के साथ विष्णु को स्थापित करके उनके चारो तरफ आचार्य, परिचारक, साधक, दीक्षित, वैष्णव तथा वेद पाठी पृथक्-पृथक् बैठे। अन्य नौकाओं पर वास्वनिता (वेश्या), वन्दी, वादक, नर्तक आदि बैठे । इस प्रकार से पुनः भगवान को तीर पर लाकर मन्दिर में प्रवेश करायें तथा विशेष यजन-पूजन करे । यजमान गुरु को दक्षिणा आदि से संतुष्ट करे । ईश्वर संहिता में इसकी विस्तृत विवेचना की गयी है ।[2] श्री प्रश्न संहिता में भी इस प्लवोत्सव का विस्तृत विवरण प्राप्त होता है । यहाँ यह वर्णन मिलता है कि शुक्ल पक्ष की एकादशी के दिन भगवान पुण्डरीकाक्ष के महाभिषेक करने के लिए प्रार्थना करे ।[3] यहाँ 81 घड़े की स्थापना विहित है और उसमें घृत आदि सभी पदार्थों का मंत्र द्वारा प्रक्षेप करने का विधान है । भगवान को अभिषेक करा करके लक्ष्मी के साथ उन्हें नैवेद्य, भक्ष्य-भोज्य आदि प्रदान करे। यहाँ प्लवोत्सव का वर्णन विस्तृत रूप से किया गया है ।

अनिरुद्ध संहिता में इस उत्सव का समायोजन श्रावण मास के श्रावण नक्षत्र, द्वादशी तिथि, शुक्रवासर, व्यतीपात योग तथा विष्टिकरण में वर्णित हैं ।[4] इस उत्सव का वर्णन विष्णु तिलक[5] एवं पुरुषोत्तम संहिता[6] में भी मिलता है ।

---

1 कुर्याद्राजराष्ट्राभिवृद्धिदम् । **ईश्वर संहिता**, 12.112

2. **ईश्वर संहिता**, 12.115-143

3. भगवन् पुण्डरीकाक्ष लक्ष्मीकान्त दयानिधे ।
महाभिषेकं भवतः कर्तुं संप्रार्थयाम्यहम् ।। **श्रीप्रश्न संहिता**, 40.4

4. नक्षत्रेषु च सर्वेषु श्रवणं चोत्तमं भवेत् ।
तिथीनां द्वादशी श्रेष्ठा वाराणां शुक्रवासरम् । **अनिरुद्ध संहिता**, 22.2

5. **विष्णु तिलक**, 8.283

6 **पुरुषोत्तम संहिता**, 24.114-128

23. बाल्यक्रीडोत्सव—इस उत्सव को राशिकेलि के अवसर पर तथा आश्विन मास में करना चाहिए ।[1]

24. मखोत्सव—कार्तिक के महीने में मखोत्सव का विधान विहित है ।[2]

25. मार्गशीर्षोत्सव—यह उत्सव सूर्य के धनु में स्थित होने पर धनु संक्रान्ति में सम्पन्न होता है ।[3] भगवान को स्नान कराकर, अलंकार, आसनादि से अलंकृत कर, नौ घटों से स्नान करावे । तदनन्तर सुन्दर नाना भोज्य-पदार्थों से ईश्वर की परिचर्या करे । तथा पूर्व वर्णित व्रतों के अनुसार भगबान को ग्राम्य-गलियों में परिभ्रमण कराकर इस उत्सव का विसर्जन करे ।

सात्वत संहिता में भी मार्गशीर्षोत्सव में हरि की विधिवत् उपासना विस्तृत रूप से वर्णित है ।[4]

26. मोक्षोत्सव—उत्सवों को करने के पश्चात् विशेष रूप से एकादशी को जिस उत्सव के द्वारा मोक्ष प्राप्त किया जाता है, वह मोक्षोत्सव है ।[5] इस उत्सव को सर्वप्रथम दैत्यों ने किया था । मार्गशीर्ष में अनुष्ठित होने वाले इस उत्सव में मुद्गान्न, गुलान्न एवं सात्विक अन्नों से भगवान की संतृप्ति की जाती है । इसमें अंकुरार्पण, भगवान को यान में स्थापन, गाथा पाठ आदि किया जाता है ।

इस उत्सव को प्रारम्भ करने के पूर्व दशमी के सायंकाल भगवान की प्रार्थना करता हुआ भक्त कहता है कि हे वैकुण्ठ धाम के भूषण ! आप हमें मोक्षोत्सव करने की आज्ञा दें । ईश्वर से आज्ञा लेकर भक्त वैष्णव एकादशी को प्रातःकाल भद्र आसन पर भगवान को बैठाकर अर्घ्यादि से पूजन करे । और यह प्रार्थना करे कि हे भगवान हम मोक्षोत्सव का प्रारम्भ कर रहे हैं । इसमें होने वाली त्रुटियों को आप क्षमा करें । यहाँ यह बताया गया है कि यह

---

1. बाल्यक्रीडोत्सवः कार्यो रासः केल्यास्तथाश्विने ।
   शाण्डिल्य संहिता, 1.15.13
2. मखोत्सवः कार्तिके । **शाण्डिल्य संहिता**, 1.15.13
3. अतः परं प्रवक्ष्यामि मार्गशीर्षोत्सवं परम् ।
   कोदण्डस्थे दिनकरे तत्काले संङ्क्रमे द्विजाः ॥ **ईश्वर संहिता**, 3.212
4. **सात्वत संहिता**, (परिच्छेद) 8.47-79
5. कृत्वोत्सवं तथाभूतमेकादश्यां विशेषतः ।
   विशन्ति मोक्षं तस्मात् सो मोक्षोत्सव इतीर्यते ॥
   श्रीप्रश्न संहिता, 46.42

उत्सव मार्गशीर्ष के प्रथम दिन से लेकर बीस दिन तक किया जाता है ।[1]

27. रथोत्सव—आषाढ़ मास में रथोत्सव किया जाता है ।[2] ईश्वर संहिता के अनुसार गजोत्सव के सातवें दिन बलि पर्यन्त कर्म करके अनेक प्रकार से रथ को अलंकृत करें। यहां रथ के अलंकरण के विषय में विस्तृत विवेचना की गयी है। इस रथ पर श्री पुष्टि के सहित भगवान को बैठाकर अर्घ्य आदि के द्वारा इनकी अर्चना करें ।[3] रथ पर आरूढ़ भगवान की गन्ध, माल्य, दीप, धूप आदि से विविध प्रकार की अर्चना करे। आचार्य और साधक रथ के ऊपर स्थित होकर उसे ग्राम, नगर एवं पत्तन में भी प्रदक्षिणा करावे। तदनन्तर भगवान को रथ से उतारकर उनके मुख्य निवास स्थान पर रखे ।[4] विष्णु तिलक संहिता में भी रथोत्सव का वर्णन प्राप्त होता है ।[5]

पारमेश्वर संहिता में भी बहुमूल्य सुवर्णादि के द्वारा रथ को अलंकृत कर उस पर भगवान को स्थापित करके पूजन का वर्णन किया गया है ।[6] इस संहिता का वर्णन ईश्वर संहिता से सर्वथा भिन्न नहीं है अतः इसकी विस्तृत विवेचना मात्र बौद्धिक व्यायाम है।

विश्वामित्र संहिता में इस उत्सव का वर्णन ईश्वर एवं पारमेश्वर संहिता से भिन्न है। उपर्युक्त दोनों संहिताओं में भगवान को मात्र रथ पर ही बैठाने का विधान है जबकि इस संहिता में रथ के न रहने पर गज, अश्व या शिविका में बैठाने का वर्णन मिलता है ।[7] यहां पर रथारूढ़ भगवान की अर्चना विहित है। इस संहिता में भगवान को मात्र ग्राम की गलियों के चारों ओर परिक्रमा कराने का ही वर्णन मिलता है जो ईश्वर संहिता से भिन्न है ।[8]

श्री प्रश्न संहिता में लौह और काष्ठ के विशाल रथ को स्वर्ण, घंटा आदि

---

1. मार्गशीर्ष प्रथमदिनाद्यावद्विंशति वै दिनम् । **श्रीप्रश्न संहिता**, 46.82
2. आषाढ़े तु रथोत्सवः । **शाण्डिल्य संहिता**, 15.12
3. यानमारोप्य देवेशं श्री पुष्टिरम्या समन्वितम् ।
   × × ×
   अर्घ्याद्यैः देवमभ्यर्च्य विविधैःरूप चारकैः ॥
   ईश्वर संहिता, 11.295, 296
4. द्रष्टव्य, **ईश्वर संहिता**, 11.311
5. **विष्णु तिलक संहिता**, 8.154
6. **पारमेश्वर संहिता**, 17.126
7. रथाभावे गजं वाश्वं शिबिकां वाधिरोपयेत् । **विश्वामित्र संहिता**, 18.98
8. ग्रामवीथीःसमन्ताच्च परिभ्राम्य प्रदक्षिणम् । **तत्रैव**, 18.114

से समलंकृत करने का वर्णन मिलता है। रथ को पुण्याह जल से प्रोक्षण करके उस पर भगवान को बैठाने का विधान है। भगवान को रथ पर बैठाने की विधा यहाँ विस्तृत रूप से वर्णित है। इस प्रकार से रथोत्सव का वर्णन श्री प्रश्न संहिता में विस्तृत रूप से है।[1]

28. रासक्रीडोत्सव—शाण्डिल्य संहिता के अनुसार इस उत्सव का विधान आश्विन मास में किया जाता है। इसे रासकेलि भी कहते हैं।[2]

29. वीरलक्ष्म्युत्सव, विजयादशमी उत्सव एवं रनवात्र उत्सव—इस उत्सव का विधान आश्विन मास के शुक्ल पक्ष की नवमी से अविद्ध (असंयुत) अष्टमी में श्री देवी के लिए किया जाता है।[3] आरम्भ होने के दिन से नव दिन पर्यन्त यह उत्सव चलता है। तिथि का लोप होने प अमावस्या को आरम्भ करके इस उत्सव को किया जाता है।

यह उत्सव विष्णु के लिए 9 दिन, ऋषियों के लिए 7 दिन, इन्द्र के लिए 5 दिन, शिव के लिए 3 दिन, ब्रह्मा के लिए 1 दिन, इस प्रकार वह पञ्च भेदों में विभक्त है।[4] ब्रह्मसिद्धि की प्राप्ति के लिए ब्रह्मा, रोग के विनाश, दुर्भिक्षनाश के लिए इन्द्र, राष्ट्र की अभिवृद्धि के लिए ऋषि एवं भुक्ति एवं मुक्ति के फल को प्राप्त करने के लिए विष्णु सम्बन्धी उत्सव कहा गया है।[5]

इस उत्सव में अंकुरार्पण, रक्षाबन्ध, विशेषार्चन, कुम्भार्चन आदि विविध कर्मों की चर्चा की गयी है।

चण्डी, प्राचण्डी, वलाकिनी, वनमालिनी विभाजिका, शांकरी, शंख पद्मिनी, सत्या आदि देवियों की अर्चना विस्तृत रूप से वर्णित है। सभी प्रकार के वांछित फलों को प्रदान करने वाली श्री सूक्त से लक्ष्मी की अर्चना भी यहां वर्णित है।[6] प्रातःकाल विशेष यज्ञ के अन्त में स्वर्ण युक्त शिविका पर अथवा

---

1. **श्री प्रश्न संहिता** 36.86·106
2. रासः कैल्यास्तथाश्विने। **शाण्डिल्य संहिता**, 1.15-13
3. तस्मिन् मासि सिते पक्षे ह्यष्टमी कल्याणि वा।
   अविद्धाया नवम्यां तु श्री देव्युत्सवसमाचरेत्॥ **ईश्वर संहिता**, 13.92
4. नवाहं वैष्णवं प्रोक्तं सप्ताहंत्वार्षकं भवेत।
   पञ्चाहं त्वैन्द्रकं प्रोक्तं त्रियहं शैवमुच्यते॥
   एकाहमुत्सवं ब्राह्मं पञ्चधैवं प्रकीर्तितम्॥ **ईश्वर सहिता**, 95, 96
5. द्रष्टव्य ईश्वर संहिता, 13.97, 98
6. द्रष्टव्य ईश्वर संहिता, 13.120

पुष्प मण्डल में श्री देवी को अलंकृत कर ग्राम की प्रदक्षिणा करावे। पुनः स्वर्ण आसन पर रखकर भोज्य पदार्थ अर्पण करें तथा मधुपर्क, ताम्बूल आदि से विशेष अर्चना करें। इस प्रकार प्रतिदिन यह उत्सव नवमी पर्यन्त करना चाहिए और सायं तथा प्रातः चतुःस्थान पूजन भी विहित है।[1]

विशेष याग करने के बाद श्री का विसर्जन करके श्री सूक्त के द्वारा देवी की अर्चना करें तथा हवि पर्यन्त कर्म करके विनीत भाव से देवी से क्षमा प्रार्थना करें।

इस प्रकार जो यजमान 'महा नवमी' उत्सव को भक्तिपूर्वक करता है वह आयुष्य, आरोग्य, ऐश्वर्य, तेज, कीर्ति, पुत्र एवं सभी अभीष्ट कामनाओं को प्राप्त करके ब्रह्म-सायुज्य को प्राप्त करता है।[2]

श्री प्रश्न संहिता में भी वीरलक्ष्मी उत्सव का वर्णन प्राप्त होता है और नवरात्र पर्यन्त इस उत्सव को मनाने का विधान है।[3] इस संहिता में भी स्वर्ण-खचित शिविका में देवी को अलंकृत करके बैठाने का विधान है और चार प्रकार के भक्ष्य अन्नों को निवेदित करने का भी वर्णन आया है। यहां यह विदित है कि इस प्रकार उत्सव करके देवी को घर के अन्दर प्रवेश कराना चाहिए।[4] इसे ही विजया दशमी के नाम से अभिहित किया जाता है।[5] यहां यह वर्णित है कि विजया नाम का काल है जो सभी सिद्धियों का प्रदाता है इसीलिए संध्याकाल से युक्त दशमी मनुष्यों को कल्याण देने वाली है।[6]

30. **वैशाखोत्सव**—यह उत्सव वैशाख मास के विशाखा नक्षत्र की पूर्णमासी को किया जाता है।[7] इस उत्सव में द्राक्षा, खर्जूर, आम्र आदि तथा फलों

---

1. एवं प्रतिदिनं कुर्यान्नवम्यन्तं महोत्सवम्।
   सायं प्रातश्चतुःस्थान पूजनेन समन्वितम्॥ **ईश्वर संहिता**, 13.121
2. एवं यः कारयेद्भक्त्या महानवमिकोत्सवम्।
   आयुष्यारोग्यमैश्वर्यं तेजः कीर्तिः च सन्ततिम्॥
   सर्वाभिष्टांश्च सम्प्राप्य ब्रह्मसायुज्यमाप्नुयात्॥
   ईश्वर संहिता, 13.125, 126
3. नवरात्रं प्रकल्पयेत्। **श्री प्रश्न संहिता**, 48.49
4. एवं कृतोत्सवं देवीं प्रासादान्तः प्रवेशयेत्। **श्री प्रश्न संहिता**, 48.56
5. ···स्याद्दशमी विजयाधिया। **श्री प्रश्न संहिता**, 48.57
6. विजयो नाम कालोऽयं सर्वकामार्थसिद्धिदः।
   तस्मात् सायाह्नसंयुक्तदशमी क्षेमदा नृणाम्॥ **तत्रैव**, 48.59
7. **ईश्वर संहिता**, 12.94

को लेकर और इनको एक स्थान पर रखकर ईश्वर को समर्पित किया जाता है और भेरी आदि वाद्य-घोष के साथ विष्वक्सेन को ग्राम की प्रदक्षिणा कराकर मन्दिर में रखा जाता है। पच्चीस कुम्भों के द्वारा भगवान को स्नान कराकर अलंकार आसन तथा भोज्य पदार्थों से अर्चना करके ताम्बूल निवेदित करना चाहिए। भगवान को मन्दिर में रखने के बाद यजमान् गुरु आदि को दक्षिणा के द्वारा सन्तुष्ट करें।[1] इस प्रकार ईश्वर संहिता में वैशाखोत्सव का वर्णन किया गया है।

वैशाख मास के शुक्ल पक्ष के विशाखा से युक्त पूर्णिमा तिथि को वसन्त ऋतु की शाखाओं एवं फलों के द्वारा भगवान की अर्चना इस उत्सव में की जाती है।[2] यहां भगवान की स्तुति करते हुए भक्त कहता है कि हे भगवान् इस उत्सव की पूर्णता के लिए इस विम्ब में अपना सन्निधान कीजिए। ऐसी स्तुति करके वह भगवान को यान में बैठाकर पच्चीस घड़ों से स्नान करावे तथा पनस, कदली आदि फल तथा क्षीर-शर्करादि से भगवान की अर्चना करे। इस अवसर पर दासियों का नृत्य एवं गायकों का गान भी विहित है। इस प्रकार उत्सव करके भगवान को मन्दिर में स्थापित कर इस उत्सव का समापन करे जो व्यक्ति इस प्रकार पत्र-पुष्प-फलादि के द्वारा ईश्वर की अर्चना करता है उसके धन-धान्य की अभिवृद्धि होती है।[3]

31. व्यञ्जनोत्सव—मार्गशीर्ष में वर प्राप्ति के दिन इस उत्सव का समायोजन किया जाता है।[4]

32. शतपत्र-पूजा—वैशाख मास के विशाखा नक्षत्र में इस उत्सव का विधान किया गया है। इसका वर्णन अनिरुद्ध संहिता में किया गया है।[5]

33. शिक्योत्सव—शिक्य का अर्थ शिकहर है। भगवान के शिकहर की क्रीड़ा का यह उत्सव सर्वजनानुरंजक है। 'हे देवदेव जगदाधार! शिक्योत्सव के लिए इस बिम्ब में सन्निधान करें', इस प्रकार प्रार्थना करके तथा पूजन करके अव्यय हरि को यान में बैठावे तथा वस्त्रादि माला आदि से विभूषित करके तथा हरदी के जल से सभी गलियों में बहुत से मण्डप का निर्माण करे। तदनन्तर

---

1. यजमानोऽथ गुर्वादीन् तोये दक्षिणादिभिः। **ईश्वर संहिता**, 12.109
2. **श्री प्रश्न संहिता**, 38.33-35
3. एवं यः पूजयेद्देवं पत्र पुष्पफलादिभिः।
   तस्य सस्याभिवृद्धिस्यात्फलं च सुमहद्भवेत्॥
   श्री प्रश्न संहिता, 38.52 ब, 53
4. मार्गमासे वरप्राप्तिर्दिनेऽस्य व्यंजनोत्सवः॥ **शाण्डिल्य संहिता**, 1.15.31
5. वैशाखमासे ऋक्षे च शतपत्रेण पूजयेत्। अनिरुद्ध **संहिता**, 22 9

गोपाल और बालकों को दण्ड देकर यह कहे कि वे डण्डे से शिकहर (शिक्य) पर स्थित भाण्डों को जो भगवान को प्रिय है उन्हें ताड़ित करे।[1] उन भाण्डों के फूट जाने पर दधि एवं क्षीर को बालक खाये और उसे चारों तरफ फैलायें इस प्रकार सभी गलियों में गोपाल और बालक दधि, क्षीर और हरदी के जल को फैलाये तथा कृष्ण के विग्रह पर नवनीत का लेप करें। कृष्ण को गलियों में घुमाकर पुनः देवालय में स्थापित करें और प्रार्थना करे कि हे भगवान इस शिक्योत्सव में जो भी अज्ञानता एवं अनवधानता किया है उसे क्षमा करे।[2]

34. **शृंगारोत्सव**—यह उत्सव श्रावण मास की तृतीया या पूर्णिमा को किया जाता है।[3]

35. **हिण्डोल्कोत्सव**—भगवान के इस उत्सव का प्रणयन श्रावण मास या भाद्रपद में किया जाता है।[4]

36. **होलाक्रीडोत्सव**—यह उत्सव फाल्गुन मास में किया जाता है।[5]

ज्ञातव्य है कि जिन व्रतोत्सवों का पाञ्चरात्र संहिताओं में वर्णन है उनका अधिकांशतया प्रचलन दक्षिण भारतीय श्री वैष्णव-मंदिरों में दिखाई देता रहा है। जहां तक उत्तर भारत में आगम-व्रतों का प्रश्न है, स्मार्त धार्मिक-परम्परा के प्रसंग में प्रो० पाठक ने अत्यन्त महत्वपूर्ण निष्कर्ष प्रस्तुत किया है। तदनुसार आगम परम्परा के व्रत न्यूनाधिक रूप से पाल-प्रतिहार राजवंशों के काल में लोकप्रिय थे तथा चेदि-कलचुरि राजाओं के शासन-काल में दाहलमण्डल में इन आगम-व्रतों का अतिशय महत्व था। परमार, गुहिल, सोलंकी व चाहमान राजवंशों के काल में स्मार्त एवं आगम दोनों प्रकार के व्रत लोकप्रिय थे।[6]

---

1. ततो गोपाल बालानां दण्डं दत्वानियोजयेत।
   ते दण्डैः शिक्यभाण्डानि ताडयेयुर्हरेः प्रियः॥ **श्री प्रश्न संहिता**, 41.61
2. द्रष्टव्य **श्री प्रश्न संहिता**, 41.62-67
3. तृतीयापूर्णिमास्वस्य शृंगारोत्सवमाचरेत्।
   शाण्डिल्य संहिता, 1.15.25
4. हिण्डोल्कोत्सवः प्रोक्तः श्रावणे भाद्रके हरेः।
   शाण्डिल्य संहिता, 1.15.12
5. होलाक्रीडोत्सवस्तस्य फाल्गुने तु विधीयते।
   शांडिल्य संहिता, 1.15.14
6. विस्तार के लिए द्रष्टव्य विश्वम्भर शरण पाठक : **स्मार्त रेलिजस-ट्रेडीशन**, पृ० 124-125

चतुर्थ अध्याय

पञ्चकाल

अभिप्राय : स्वरूप

सामान्यत: 'पञ्चकाल' शब्द का अभिधार्थ समय का पांच वर्गीकरण प्रतीत होताहै। परन्तु इसका असन्दिग्धार्थ अहोरात्र रूप एक ही समय का पृथक्-पृथक् पाँच कर्मों के विभाग से है।[1] कहने का तात्पर्य यह है कि काल एक ही है, परन्तु भिन्न-भिन्न कर्मों के कारण काल की विविधता अभिहित है। उल्लेख्य है कि 'पञ्चरात्र' या 'पाञ्चरात्र' के पञ्च शब्द का मूलार्थ 'समग्र' मान लेने पर पञ्चकाल में पञ्च का अर्थ और भी स्पष्ट हो जाता है। पञ्चकाल शब्द काल शब्द कर्म का उपलक्षण है, अर्थात् पाँच कर्मों का प्रणयन जिस काल में होता है, वह पञ्चकाल है। कर्म के भेद से एक ही काल की पञ्च परिकल्पना 'पञ्चकाल' है। इसे ही हम पञ्चप्रकारार्चन भी कह सकते हैं।

पाञ्चरात्र संहिताओं में पञ्चकाल विषयक सामग्री प्रभूत मात्रा में उपलब्ध है। रत्नत्रय में से एक जयाख्य[2] में कुछ महत्वपूर्ण सन्दर्भों के अलावा पाद्म तन्त्र[3] (चर्यापाद), पारमेश्वर संहिता[4], लक्ष्मीतन्त्र[5], विश्वामित्र संहिता[6], श्री प्रश्न संहिता,[7] सनत्कुमार संहिता[8] (ऋषिरात्र) में पञ्चकाल की व्याख्या तथा एतत्सम्बन्धी वर्णन प्राप्त है। ज्ञातव्य है कि पाद्म-तन्त्र के चर्यापाद तथा

---

1. पञ्च कालास्त्वयोद्दिष्टा: किमेतन्येत्र संशय: ।।
   एकस्यैव हि कालस्य वासरीयस्य नारद ।।
   आप्रभातान्निशान्तं वै पञ्चधा परिकल्पना ।
   पृथक्कर्मवशात्कार्या न काला बहव: स्थिता ।।
   जयाख्य संहिता, पटल 22.65-66
2. **जयाख्य संहिता**, पटल 22.64, 81
3. **पाद्म तन्त्र**, 'चर्यापाद', 5.54-59, 13.1-82
4. **पारमेश्वर संहिता**, 9.155-179
5. **लक्ष्मी तन्त्र**, 28.1-59
6. **विश्वामित्र संहिता**, 3.6 एवं यत्र-तत्र
7. श्री प्रश्न संहिता, 17.1-71
8. **सनत्कुमार संहिता**, ऋषिरात्र, 1.1-14

पराशर संहिता[1] के एक अध्याय में पञ्चकाल का विस्तृत विवरण प्राप्त होता है लेकिन विष्णु तिलक[2] का हम विशेष रूप से उल्लेख कर सकते हैं, जहां एतत्सम्बन्धी विपुल सामग्री मिलती है। विष्णु तिलक में पञ्चकाल-विषयक कम-से कम 473 श्लोक मिलते हैं।

वैष्णव-दर्शनों की आधारशिला शरणागति या 'प्रपत्ति' का सिद्धान्त है। वास्तव में अभिगमन का आरम्भ प्रपत्तिपूर्वक किया जाता है।[3] प्रपत्ति का यह सिद्धान्त[4] भक्त की मानसिक भावना है परन्तु यह मानसिक भावना पञ्चकाल के रूप में कायिक रूप धारण करती है। अर्थात् भक्त अपने शरणागति के भाव को पूरे अहोरात्र के समय को पाँच भागों में विभक्त करके शारीरिक क्रिया से अपने भावानुसार व्यवहार करता है।[5]

भक्त अहोरात्र के विभक्त किए पांच कालों में ईश्वर का स्मरण करने से अपने मन को सर्वदा ईश्वर में ही आसक्त रखता है, जिससे उसकी प्रपत्ति की भावना सुदृढ़ होती है अर्थात् पञ्चकाल से प्रपत्ति स्थिर होती है।[6] ईश्वर भक्त के इस सदाचार से प्रसन्न होकर अभीष्ट फल प्रदान करता है। लक्ष्मीतन्त्र के उक्त प्रसंग के प्रारम्भ में ही इस आचार को धर्म संज्ञा से अभिहित किया गया है।[7]

---

1. **पराशर संहिता**, 4.1-142
2. **विष्णु तिलक**, 3.42, 43-514
3. हित्वा योगमयी निद्रामुत्थायापररात्रतः।
   प्रपद्येत हृषीकेशं शरण्यं श्रीपतिं हरिम्॥ **लक्ष्मी तन्त्र**, 28.8
4. तत्र ये स्वाधिकारानुरूपं प्रपत्तिमेव केवलमव्यवहितमपवर्ग साधनमवलभ्यवन्त तैरयं पञ्चकालचक्रमः परित्याज्यः परिग्राह्यो वेति···। परित्याज्य इति पूर्व पक्षः। राद्धान्तस्तु परिग्राह्य एवायमिति।
   पाञ्चरात्र रक्षा, द्वितीय अधिकार, पृ० 55
5. प्रतिपत्तिश्च सकला स्वरूपं च यथास्थितम्।
   आहोरात्रमाचारमिदानीं वक्तुमर्हसि॥ **लक्ष्मी तन्त्र**, 28.2
6. प्रपत्तिं तां प्रयुञ्जीत स्वाङ्गैः पञ्चभिरन्विताम्।
   प्रातिकूल्यं परित्यक्तमानुकूल्यं च संश्रितम्॥
7. ददामि विविधान भोगान् धर्मेण परितोषिता।
   सद्धर्मपरसंस्थानां मम सत्वादिका तनुः॥
   आचाररूपो धर्मोऽसावाचारस्तस्य लक्षणम्।
   तमाचारं प्रवक्ष्यामि यः सद्भिरनुपाल्यते॥ **लक्ष्मी तन्त्र**, 28.6-7

पञ्चकाल के भेद

पाञ्चरात्रागमों में पञ्चकाल को पञ्चविध बताया गया है।[1] वस्तुतः अहोरात्र पञ्चविध विभक्त है—(1) 'अभिगमन', (2) 'उपादान', (3) 'इज्या', (4) 'स्वाध्याय' एवं (5) 'योग' रूप में। जयाख्य संहिता के 22वें पटल में इन भागों की कालक्रमिक स्थित का निदर्शन किया गया है जिसके अनुसार सम्पूर्ण अहोरात्र पञ्च प्रहरों में बँटा हुआ है; पहला प्रहर अभिगमन काल है—प्रातः ब्राह्ममुहूर्त से लेकर दिन के प्रथम प्रहर तक। दिन का दूसरा प्रहर उपादानकाल है। इज्याकाल अगले तीसरे तथा चौथे प्रहर के पूर्वार्द्ध काल की सीमा में आता है। स्वाध्याय-काल चतुर्थ प्रहर का शेष भाग है और अन्तिम काल योग काल उसी रात्रि के आरम्भ से दूसरे दिन के ब्राह्ममुहूर्त काल तक चलता है। जयाख्य संहिता में ही इन क्रमिक पञ्चकालों में अन्तिम योगकाल को ब्रह्मसिद्धि प्रदायक कहा गया है[2]—'पञ्चमो योगसंज्ञोऽसौ कालांशो ब्रह्मसिद्धिदः।'

जयाख्य संहिता के अतिरिक्त अन्य संहिताओं में भी पञ्चकाल का यही क्रमिक विधान दृष्टिगत होता है। तदनुसार पञ्चविध काल-क्रम इस प्रकार है—

1. अभिगमन-काल

---

1. ब्राह्ममुहूर्तादारभ्य प्रागशं विप्र वासरे।
जपध्यानार्चनस्तोत्रैः कर्मवाक्चित्त संयुतैः॥
अभिगच्छेज्जगद्योनिं तच्चाभिगमनं स्मृतम्।
ततः पुष्पफलादीनामुत्थायार्जनमाचरेत्॥
भगवद्यागनिपत्तिकारणं प्रहरं परम्।
तदुपादानसंज्ञं वै कर्मकालपदाश्रितम्॥
ततोऽष्टांगेन यागेन पूजयेत्परमेश्वरम्।
सार्धं तु ? प्रहरं विप्र इज्याकालस्तु स्मृतः॥
श्रवणं चिन्तनंव्याख्या ततः पाठसमन्विता।
अध्यायसंज्ञं तं विद्धि कालांशं मुनिसत्तम्॥
दिनावसाने संप्राप्ते पूजा कृत्वा समभ्यसेत्।
योगं निशावसाने च विश्रमैरन्तरीकृतम्॥
पञ्चमोऽ्योगसंज्ञोऽसौ कालांशो ब्रह्मसिद्धिदः।
श्रुतो मयाऽखिलः पूर्वं भगवद्याग उत्तमः॥
जयाख्य संहिता, पटल 22.68-74

2. **जयाख्य संहिता**, 22.74

2. उपादान-काल
3. इज्या-काल
4. स्वाध्याय-काल
5. योग-काल

अभिगमन काल—जयाख्य संहिता के वचनानुसार प्रातः काल ब्राह्ममुहूर्त से लेकर दिन के प्रथम प्रहर तक अभिगमन का काल है ।[1] शैया को छोड़ने के पश्चात् प्रथम प्रहर के अन्त तक अभिगमन काल नारदीय संहिता में भी प्रतिपादित है ।[2]

यही बात सनत्कुमार संहिता के 'ऋषि रात्र' में भी अभिहित है ।[3] अभिगमन-काल का अभिप्राय शास्त्रों में उषःकाल से प्रतिपादित है, यह श्री प्रश्न संहिता का मत है ।[4] शैया से ब्राह्म मुहूर्त में उठने के बाद का काल अभिगमन काल है यह पाद्म संहिता के चर्यापाद में वर्णित है ।[5] भार्गवतन्त्र में भी प्रातः काल शैया से उठने के पश्चात् दिन के प्रथम प्रहर के काल को अभिगमन-काल कहा जाता है ।[6]

अभिगमन शब्द 'अभि' उपसर्ग पूर्वक गत्यर्थक गम् धातु में ल्युट् प्रत्यय से

---

1. **जयाख्य संहिता**, पटल 22.68, 69
2. आरभ्य शयनात् प्रातः यावत्पूर्वावसानकम् **नारदीय संहिता**, 30.4
3. अथाभिगमनं पूर्वं काल एष मयोच्यते ।
   शयनोत्थान कर्मादि क्रियतेऽथ यथा तु यत् ।
   सनत्कुमार संहिता, (ऋषि रात्र) 1.3
4. तत्क्रमानिह वक्ष्यामि श्रृणुपद्मसमुद्भवे ।
   पञ्च पञ्च उषःकाल इति शास्त्रे समीरितः ॥
   ब्राह्मो मुहूर्तः सैव स्यात् तदा निद्रां परित्यजेत ।
   प्रक्षाल्य पाणिपादं च स्मरेत् पापहरं हरिम् ॥
   श्री प्रश्न संहिता, 17.4-5
5. उत्थानादि क्रमादेतदभियानमुदीरितम् ।
   ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत ध्यायन्नारायणं परम् ॥
   उत्थायासीत शयने कीर्तयन् नाम वैष्णवम् ।
   क्रमेण स्पृष्ट्वा तत्त्वानि देहमुत्पाद्य तत्ववित् ॥
   पाद्म संहिता, (चर्यापाद) 13.5-6
6. प्रातरुत्थाय शयनाद्धरेर्नामानि कीर्तयेत् । **भार्गवतन्त्रम्**, 25.3

निष्पन्न है। जिसका अर्थ है 'अभिमुख गमन' अर्थात् जिन क्रियाओं के द्वारा शरणागत भक्तवत्सल ईश्वर के अभिमुख गमन करता है, वे अभिगमन-क्रियायें हैं। ऐसा विधान है कि इन क्रियाओं में भक्त प्रातःकाल उठकर हाथ एवं पाद का प्रक्षालन करके समस्त कल्मषों को दूर करने वाले ईश्वर का स्मरण करे; तदनन्तर गुरु की कृपा से विष्णु सम्बन्धी ज्ञान अर्थात् जीव व ब्रह्म के सम्बन्धों का चिन्तन करे।[1] लक्ष्मी तन्त्र के निर्देशानुसार अभिगमन का आरम्भ प्रपत्ति पूर्वक किया जाता है।[2]

पाञ्चरात्रागमों में अभिगमन-क्रिया के विवरण भी उपलब्ध हैं। जिसके अनुसार स्नान में उपयोगी शुद्ध मिट्टी को अपने हाथ में लेकर मार्ग में भी विष्णु का स्मरण करते हुए तड़ाग या नदी के तट पर जाकर उस शुद्ध मिट्टी को परम पावन तट पर रख दे, भक्त वैष्णव अपने दाहिने कान में यज्ञ सूत्र को आवेष्टित करके और उत्तरीय वस्त्र को अपने शिर में बांधकर श्मशान की तरफ कभी भी जाना हो तो जाय। मल-मूत्र का त्याग करते समय भूमि के ऊपर तृण या पत्ते को रखकर प्रातः उत्तराभिमुख होकर और सायं दक्षिणाभिमुख होकर मल-मूत्र का उत्सर्ग करे। हस्तशोधनोपरान्त द्वादश बार गंडुश (कुल्ला) करके यज्ञोपवीत को यथास्थान कर ले। काष्ठ या पत्ते से दन्तधावन करने के पश्चात् स्नान करके एक बार पुनः गण्डूश करे तथा पुनः आचमन करके व्याहृति (ओम भूः भुवः स्वः महः जनः तपः सत्यम्) के साथ विधि पूर्वक तीन बार प्राणायाम करे और यह भाव रखे कि मैं जगदाधार विष्णु की सेवा करने के लिए उनकी अनुमति लेकर यह स्नान कर रहा हूं। स्नानोपरान्त कुश की या सुवर्ण की पवित्री अनामिका के मध्य भाग में शुद्धि के लिए सर्वदा धारण करे। अघमर्षण सूक्त या पुरुष सूक्त से हरि का स्मरण करता हुआ स्नान करे।[3] भक्त वैष्णव सदा दो वस्त्र और कौपीन धारण करे। तदनन्तर ललाट पर पुण्ड्र धारण करके विधिपूर्वक भगवत् कृपा की सम्प्राप्ति के लिए

---

1. ब्राह्मोमुहूर्तः सैव स्यात् तदा निद्रां परित्यजेत्।
   प्रक्षाल्य पाणिपादं च स्मरेत् पापहरं हरिम्॥
   गुरोरनुग्रहज्ज्ञानं वैष्णवत्वमनुत्तमम्।
   शेषशेषित्वसंबन्धं जीवात्मपरमात्मनोः॥ **श्री प्रश्न संहिता**, 17.5-6

2. हित्वा योगमयीं निद्रामुत्थायापररात्रतः।
   प्रपद्येत हृषीकेशं शरण्यं श्री पतिं हरिम्॥ **लक्ष्मी तन्त्र**, 28.8

3. अघमर्षण सूक्तेन पुंसूक्तेन हरिं स्मरन्।
   मूलमन्त्रेण रत्नेन स्नानं कुर्याद् विचक्षणः॥ **श्री प्रश्न संहिता**, 17.22

सन्ध्योपासन कर्म करे ।[1] इसके बाद रविमण्डल में स्थित शंख, चक्र एवं गदा को धारण करने वाले किरीट एवं वनमाला तथा अन्यान्य भूषणों से भूषित सर्वव्यापी नारायण का स्मरण करता हुआ मानसिक एवं षोडश उपचारों से नारायण की अर्चना के प्रति अभिगमन करे ।[2]

इसी अभिप्राय को पाद्मसंहिता के 'चर्यापाद' के त्रयोदश अध्याय में प्रतिपादित किया गया है ।[3] श्री प्रश्न संहिता में दन्तधावन के लिए निश्चित काष्ठ का स्पष्ट निर्देश नहीं मिलता परन्तु पाद्म तन्त्र में वैष्णव भक्त के लिए दन्तधावन करने के लिए न्यग्रोध (बट), उदुम्बर (गूलर), अश्वत्थ (पीपल), प्लक्ष, आम्र, अर्जुन, धातकी, वेणु (बांस), खदिर, शमी, पलाश ये काष्ठ ही अभिहित हैं ।[4] पुनः दन्तधावन करने के लिए श्रीप्रश्न संहिता में कोई निश्चित दिशा का निर्देश नहीं है जबकि पाद्म संहिता में दन्तधावन के लिए पूर्व की दिशा का निर्देश है ।[5] ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्यों के लिए दन्तधावन

---

1. भगवत्कैंकर्यसिद्धयर्थं संध्योपासितं समाचरेत् । **श्रीप्रश्न संहिता**, 28

2. रविमण्डलमध्यस्थं शंखचक्रगदाधरम् ।
किरीटवनमालादि भूषणैरपि भूषितम् ।।
पुण्डरीकासनासीनं सर्वदेवनमस्कृतम् ।
श्रीभूमिसहितं देवं विभुं नारायणं स्मरन् ।।
मानसैरूपचारैस्तं षोडशैरर्चयंस्ततः ।
मूलमन्त्रेण संहितां गायत्रीं रहितां तु वा ।। **श्रीप्रश्न संहिता**, 17.40-42

3. **पाद्म संहिता**, (चर्यापाद), 13.5-15

4. न्यग्रोधोदम्बराश्वत्थप्लक्षाम्राजधातकी ।
पालाशवेणुखदिरशमीदारूणि धावन ।।
पाद्म संहिता, (चर्यापाद), 13.17; याज्ञवल्क्य ने अपनी शिक्षा में भी दन्तधावन के लिए आम्र, पलाश, बिल्व, अपामार्ग (चिचिड़ा), शिरीष, न्यग्रोध, खदिर, कदम्ब के काष्ठ को उपयोगी बताया है और उनका मत है कि सभी रसीले वृक्षों का दन्तधावन यश को देने वाला और कांटेदार वृक्षों का दन्तधावन पुण्य को प्रदान करने वाला है—
आम्रपालाश विल्बानां अपामार्ग शिरीषयोः ।
सर्वे कष्टकिनः पुण्याः क्षीरिणश्च यशस्विनः ।। **याज्ञवल्क्य शिक्षा**

5. प्रत्येकं मृत्तिकामात्रा चतुष्केण विशोधयेत् ।
आचम्य प्राङ्मुखो भूत्वादन्तधावनमाचरेत् ।। **तत्रैव**, 13.16

के काष्ठ की लम्बाई भी क्रमशः द्वादश, एकादश व अष्ट अंगुल अभिहित है।[1] यहाँ यह भी निर्देश है कि यदि वैष्णव को स्नान के लिए नदी व तड़ाग उपलब्ध न हो तो कुएं के जल से स्नान करे। यदि वैष्णव जन रोगग्रस्त है तो इस स्थिति में वह उष्ण जल से स्नान करे या नाभि के नीचे से ही कटि स्नान कर ले।[3] तदनन्तर भगवान भुवन भास्कर का उपस्थान, गायत्री जप आदि क्रियाओं को करके गुरु और वृद्धों को प्रणाम करने के बाद विधिवत देवालय में अभिगमन करे।[4]

ब्रह्ममुहूर्त में वैष्णव वाणी, मन से संयत होकर जप, ध्यान एवं अर्चना के स्त्रोतो के द्वारा जगदाधार विष्णु के अभिमुख गमन करे। यही अभिगमन है।[5] "मैं जो कुछ भी कर्म कर रहा हूं वह समग्र कर्म ईश्वर का ही है और उसी की प्रेरणा से मैं जगत के व्यवहार में प्रवर्तित हो रहा हूं।" इस प्रकार की भावना ही विष्णु की वास्तविक उपासना है।[6]

---

1. दन्तानामुदितान्येकादश चाम्भोरुहासन।
दन्तधावनकाष्ठं च द्वादशाङ्गुलमायतम्॥
दशाङ्गुलम् तथा मानमष्टाङ्गुलमथायतम्।
ब्राह्मण क्षत्रियविशां क्रमेण तदुदाहृतम्॥
याज्ञवल्क्य शिक्षा, 13.18-19

2. अवगाहो भवेद्वाप्यां स्नायाद्वा सरसीषु च।
वाप्याद्य (दि०) सम्भबे नैव कूपेष्वाप्लवनं भवेत॥ **तत्रैव,** 13.21

3. स्नानं वा तप्ततोयेन दोषवैषम्यसम्भवे।
नाभेरधस्ताद्वा देहं क्षालयित्वात्मनस्तनुम॥ **तत्रैव,** 13.6

4. अभिवाद्य गुरून् वृद्धान् तथा भागवतान् क्रमात्।
प्रविश्य स्वाश्रमं देवमभिगम्य यथाविधि॥ **तत्रैव,** 13.28

5. ब्राह्मान्मुहूर्तादारभ्य प्रागंशं विप्र वासरे।
जपध्यानार्चनस्तोत्रैः कर्मवाक्चित्तसंयुतैः॥
अभिगच्छेज्जगद्योनिं तच्चाभिगमनं स्मृतम्।
ततः पुष्पफलादीनामुत्थायार्जनमाचरेत्॥
जयाख्य संहिता, पटल 22.68-69

6. तत् सर्वं भगवत्कर्म करोमीत्यनुचिन्तयेत्।
तेनाभिसंहितं सर्वं कर्म कुर्वन् यथाविधि॥
दीक्षितः समयी नित्यमनेन स्यादुपासकः।
उपासितो भवेद्देवो नित्यमेव तु कर्मणा॥
सनत्कुमार संहिता, (ऋषि रात्र) 1.4-5

इस प्रकार जयाख्य, सनत्कुमार, नारदीय एवं विश्वामित्र संहिताओं में अभिगमन काल का विस्तृत वर्णन उपलब्ध नहीं होता, परन्तु पाद्म तन्त्र एवं श्री प्रश्न संहिता में इसकी विस्तृत विवेचना है। लक्ष्मी तन्त्र के अनुसार शैया से प्रातः काल उठकर विष्णु की स्तुति करे, तथा समस्त प्राणी सात्विक मार्ग पर विचरण करें यह ईश्वर से प्रार्थना करे तथा ये समग्र जीवधारी आपके परमपद को प्राप्त करें यह विष्णु से निवेदन करे।[1] तदनन्तर धर्मशास्त्रों में विहित विधान के अनुसार शौचादि क्रिया अर्थात् शौच दन्तधावन क्रिया को सम्पन्न करे। भक्त वैष्णव-विधि पूर्वक आचमन करके तीनों लोकों को पवित्र करने वाली सन्ध्या की उपासना करे। यह सन्ध्या सूर्य, सोम और अग्नि रूपा है जो समी प्राणियों को शुद्ध करने के लिए प्रवर्तित हुई है[2]—

प्लावयित्वाभ्युपासीत सन्ध्यां त्रैलोक्यपावनीम्।
मन्मयी त्रिविधा शक्तिः सूर्यसोमाग्निरूपिणी ॥
शुद्धये सर्वभूतानां संध्या देवी प्रवर्तते ।

तदनन्तर भक्त वैष्णव अपने अन्दर विद्यमान विवस्वान (सूर्य) का उपस्थान करे—

उपस्थाय विवस्वन्तमन्तःस्थं पुरुषोत्तमम्।

लक्ष्मी तंत्र, 28.23

भार्गवतंत्र के अनुसार शैया से उठकर विष्णु का नाम स्मरण करना तदनन्तर दन्तधावन करके नदी आदि के जल में अघमर्षण मंत्र का उच्चारण करते हुए देह की शुद्धि करनी चाहिए।[3] यद्यपि श्री प्रश्न संहिता में स्नान के समय पुरुष-सूक्त के मंत्रों के पाठ का विधान है परन्तु भार्गवतंत्र में मात्र अघमर्षण मंत्रों के ही पाठ का विधान है जो अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है, क्योंकि स्नान एवं अघमर्षण मंत्र का सीधा सम्बन्ध है। स्नान के समय पुरुषसूक्त के मंत्रों के पाठ का कोई औचित्य प्रतीत नहीं होता है। भार्गवतंत्र में ललाट पर चन्दन या

---

1. भवन्तु सर्वभूतानि सात्विके विमले पथि।
भजन्तां श्रीपतिं शश्वद्विशन्तु परमं पद्म ॥
इत्याशास्य प्रियं सम्यग्भूतेभ्यो मनसा गिरा।

लक्ष्मी तंत्र, 28.19-20

2. **लक्ष्मी तन्त्र**, 28.22-23

3. शोधयित्वा ततो देहं दन्तधावन पूर्वकम्।
अत्रगाह्याप्सु नद्यादे 'रघमर्षणमु' च्चरन् ॥ **भार्गवतंत्रम्**, 25.4

मिट्टी के उर्ध्वपुण्ड्र लगाने का विधान है ।[1] उर्ध्वपुण्ड्र शब्द संहिताओं में अभि-गमन के सन्दर्भ में अभिहित नहीं है । यद्यपि श्री प्रश्न संहिता में पुण्ड्र शब्द अभिगमन के सन्दर्भ में अभिहित है तथापि यहाँ पुण्ड्र लगाने के लिए मिट्टी या चन्दन का विधान नहीं है ।[2] यही विधान भार्गव तन्त्र में स्पष्ट रूप से कथित है । तदनुसार सावित्री मंत्र द्वारा तीन बार परिक्रमा करके देवता को तृप्त करे । तदन्तर प्राणयाम करके सूर्योपस्थान करे ।[3]

सावित्र्या त्रिः परिक्रम्य तर्पयित्वाथ देवताः ।
प्राणानायम्य संकल्प्य जपेदासूर्यमण्डलम् ॥
अष्टोत्तरसहस्रं वा शतमष्टोत्तरं तु वा ।
उपस्थाय रविं दृष्ट्वा कर्मशेषं समाप्य च ॥

पञ्चकाल में परायण वैष्णव भक्त आचार्य शब्द से सम्बोधित होता है ।[4] ईश्वर में प्रेम की प्रगाढ़ता को उत्पन्न करने के लिए पञ्चकाल विहित है ऐसा श्री प्रश्न संहिता में वर्णित है ।[5] इस पञ्चकाल-विधि का ज्ञान प्रशस्त-ज्ञान कहा गया है[6] क्योंकि इस पञ्चकाल विधि के ज्ञान से ही वैष्णव भक्तों की प्रपत्ति पुष्ट होती है । इस पञ्चकाल विधि का अनुष्ठान मात्र वैष्णव भक्तों के

---

1. वासोभ्यामथ संवीतश्चन्दनेन मृदापि वा ।
ऊर्ध्वपुण्ड्रं वहेत् फाले दद्यादर्घ्यं विवस्वते ॥ **भार्गवतन्त्रम्**, 25.5
2. ततः प्रक्षाल्य चरणौ पाणी चाचमनं चरेत् ।
ललाटादि द्वादशसु धरेत् पुण्ड्राणि वै द्विजः ॥
षट्पुण्ड्राण्यथवाप्येकं ललाटे धारयेद्रमे ।
अतः परं प्रवक्ष्यामि सन्ध्योपासनलक्षणम् ॥
श्री प्रश्न संहिता, 17.26-27
3. **भार्गव तन्त्रम्**, 25.6-7
4. वेदान्तविश्रन्तमनाः कर्मणां च प्रयोगवित् ।
पञ्चरात्रार्थनिष्णातः पञ्चकालपरायणः ॥
आभिरूप्यगुणोपेतः प्रजारञ्जनतत्परः ।
एवं लक्षणसंयुक्तो यः स आचार्य उच्यते ॥ **विश्वामित्र संहिता**, 3.6, 16
5. कालानित्थं विभज्यैव भगवत्प्रीतये नरः ।
तत्तत्कालेषु सत्कर्म नित्यं कुर्याद्यथाविधि ॥ **प्रश्न संहिता**, 17.3
6. पञ्चकाल विधिज्ञानं प्रशस्तं भगवन्निह ।
विहितं पञ्चके काले विधयश्चापि पञ्चके ॥
पाद्म संहिता, (चर्यापाद) 13.1

लिए ही विहित है[1], ऐसा अनेक संहिताओं द्वारा समर्थित है ।[2] भार्गवतन्त्र में पञ्चकाल-विधि का उपासक वैष्णव होने के अतिरिक्त ऋग, यजुः, सामरूप तीनों वेदों का ज्ञाता एवं दीक्षित अर्थात् निश्चित अनुष्ठान के नियम में आबद्ध होना चाहिए ।[3]

पञ्चकाल का विधिपूर्वक विधान करने से ईश्वर प्रसन्न होकर सायुज्य गति प्रदान करते हैं यह श्री प्रश्न संहिता में उद्घोषित है ।[4] लक्ष्मी तन्त्र में यह कहा गया है कि श्री पति की पञ्चकाल-विधि से उपासना करने पर परम पद प्राप्त हो जाता है ।[5] जयाख्य संहिता भी यह समर्थित करती है कि पञ्चकाल-विधि वैष्णव भक्तों को अतिशीघ्र पुनर्निवर्तित न होने वाले परम पद को प्रदान करती है ।[6] भगवान की इस पञ्चकाल विधि से आराधना करने वाला भक्त वैष्णव कभी भी सांसारिक व्यथाओं से व्यथित नहीं होता । अपने मन को बाह्य सांसारिक विषयों से खींचकर द्वादश वर्ष पर्यन्त भगवान् विष्णु की पञ्चकाल विधि से उपासना करने वाला उपासक सायुज्य पद को प्राप्त करता है और छः वर्षों तक समाहित चित्त होकर इस विधि से उपासना करने वाला भक्त सारूप्य, सामीप्य आदि पद को निश्चय ही प्राप्त कर लेता है ।

एक वर्ष तक जगत्-प्रपञ्चों को छोड़कर समाहित वैष्णव इस पञ्चकाल विधि द्वारा सालोक्य पद को प्राप्त करता है इसमें कोई संशय नहीं

---

1. यच्च विष्णुं समुद्दिश्य क्रियते कर्म दीक्षितैः ।
   तत् सर्वं काल संबद्धं ततोऽन्यत्तु न विद्यते ।।
   सनत्कुमार संहिता, (ऋषि रात्र) 1.2
2. **लक्ष्मी तंत्र**, 28.2; **विश्वामित्र संहिता**, 3.21; **जयाख्य संहिता**, पटल 22.80 के आगे की पंक्ति; **पाद्म संहिता**, 13.79-80; **प्रश्न संहिता**, 17.3.69-70
3. त्रैविद्यो दीक्षितस्त्वेवं जपध्यानपरायणः ।
   हरिन्यस्तमना भूत्वा पञ्चकालपरो भवेत् ।। **भार्गवतंत्रम्**, 25.1
4. एवं कुर्वन्यावदायुर्हरेः सायुज्यतामियात् ।
   सामान्य दीक्षितानां तु कर्म काण्डादिकर्मच ।। **श्री प्रश्न संहिता**, 17.69
5. भवन्तु सर्वभूतानि सात्विके विमले पथि ।
   भजन्तां श्रीपतिं शश्वद्विशन्तु परमं पदम् ।। **लक्ष्मी तन्त्र**, 28.19
6. प्रददात्यचिराद्यद्वै तन्निष्ठानां परं पदम् ।
   जयाख्य संहिता, पटल 22.80

है।[1] नारदीय संहिता के वचनानुसार पञ्चकाल विधि का ज्ञान हो जाने पर प्राणी जन्म एवं संसार रूपी बन्धनों से मुक्त हो जाता है और सर्वातिशय आनन्द-स्वरूप ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है, जिसके प्राप्त हो जाने पर कोई भी प्राप्तव्य शेष नहीं रह जाता है।[2]

उपादान काल—दिन का द्वितीय प्रहर उपादान काल है जो अभिगमन काल के बाद आता है। यह कथन श्रीप्रश्न संहिता, भार्गवतन्त्र एवं नारदीय संहिता में समान रूप से उल्लिखित है।[3] उपादान का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ संग्रह करना है।[4] जिस काल में भगवद्भक्ति के लिए खरीदे गये, प्रतिग्रह से प्राप्त या बिना याचना किये गये पुष्प, फल आदि का संग्रहण होता है, उस काल को उपादान काल कहते हैं।[5] भक्त वैष्णव उपादान काल के पश्चात् घर के बाहर से हरि की

---

1. आराधनं भगवतः कुर्वन्नैवावसीदति।
वर्षेषु द्वादशस्वेवमनुतिष्ठन् समाहितः॥
क्रिया कलापमाखिलं यात्ति सायुज्य सम्पदम्।
षट्षु वर्षेषु सारूप्यसामीप्यादि सुनिश्चितभ्॥
पाद्म संहिता, (चर्यापाद) 13.79-80

2. समाचक्ष्व मुनिश्रेष्ठ पञ्चकालविनिर्णयम्।
यज्ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुः जन्मसंसारबन्धनात्॥
यथाशक्त्यभ्यसन्नेवं मन्त्री नित्यमतन्द्रितः।
महानन्दमवाप्नोति महतीमपि सम्पदम्॥ **नारदीय संहिता** 30.1, 21

3. आद्यं कर्माभिगमनंमुपादानमतः परम्। **श्री प्रश्न संहिता**, 17.2
अथोपदान संज्ञस्तु द्वितीयः काल उच्यते। **नारदीय संहिता**, 30.3
प्रातः कुर्यादधि (भि ?) गममुपादद्यादततः परम्।
भार्गवतन्त्रम्, 25.2

4. उपादीयते इति उपादानम्।

5. इत्युक्तोऽभिगमनः कालः प्रीतस्तेन सुरेश्वरः।
उपादानं प्रबक्ष्यामि कालं कालविदां तु वः॥
वस्तु यद् गृह्यते सर्वं दीक्षितैस्तन्त्र वित्तमैः।
प्रतिग्रहं वा क्रीतं वा अयाचितमथापिवा॥
गृह्यते फल पुष्पादि विष्णवर्थमिति चिन्तया।
तदुपादानमित्युक्तः कालस्तेन सदाहरिः॥
सनत्कुमार संहिता, 'ऋषिरात्र' 1.6.7.8

आराधना के लिए सात्विक एवं पुष्पादिकों का संग्रह करता है वही उपादान काल से विवक्षित है यानी कथित है ।[1]

नारदीय संहिता भी इसी भाव को अभिव्यक्त करते हुए अपने मत की पुष्टि करती है । देव-पूजा के लिए भक्त वैष्णव जिस समय पुष्प-फलादि का संग्रहण करता है वही उपादान काल है ।[2] जयाख्य संहिता में पुष्प-फलादि को भगवदर्चना के लिए संग्रह करने का समय उपादान काल से विवक्षित है जो भगवद्भाग की निष्पत्ति का मूल कारण है ।[3]

जयाख्य संहिता, नारदीय संहिता, श्री प्रश्न संहिता एवं सनत्कुमार संहिता में उपादान काल की विस्तृत विवेचना समुपलब्ध नहीं है परन्तु पाद्म तंत्र में इस काल की विस्तृत विवेचना है । उपादान काल में पुष्प, फल, मूल, अनेक प्रकार की औषधि, दधि, तन्दुल, गुल, स्नान योग्य वस्त्र, सुस्वादु जल, कुश, पत्र, समिधा, और अपनी शक्ति एवं सामर्थ्य के अनुसार संग्रह करके पूजा गृह में रखे ।[4]

---

1. ततोऽभिगमनं कुर्यात् पूजनं भगवत्प्रियम् ।
कृत्वाततो बहिर्गच्छेदुपादानाय वै द्विजः ।।
हरेराराधनार्थाय सात्विकानि शुचीन्यपि ।
पुष्पादीनिच संगृह्य गच्छेद्गेह मथात्मनः ।।
श्रीप्रश्न संहिता, 17.44-45

2. यदासौ देवपूजार्थं सम्भाराण्याहरिष्यति ।
तदुपादान कालस्तु तत्परः काल उच्यते ।। **नारदीय संहिता,** 30.6

3. अभिगच्छेज्जगद्योनिं तच्चाभिगमनं स्मृतम् ।
ततः पुष्पफलादीनामुत्थायार्जनमाचरेत् ।।
भगवद्यागनिष्पत्तिकारणं प्रहरं परम् ।
तदुपादानसंज्ञं वै कर्मकालपदाश्रितम् ।।
जयाख्य संहिता, पटल 22.69-70

4. उपादद्यात्ततः पूजासाधनानि यथाविधि ।
पुष्पाणि फलमूलानि विविधान्योषधीनपि ।।
दध्यादि च हविर्योग्यं तण्डुलानि गुलानि च ।
स्नानीयानि च वस्त्राणि स्वादूनि सलिलानि च ।।
दर्भान् पर्णानि समिधो यथाशक्ति यथावसु ।
आहृत्य याज्ञिकार्थेर्वा पूजास्थाने विवेशयेत् ।।
पाद्म संहिता, (चर्यापाद) 13.31-33

लक्ष्मी तन्त्र में समागत उपादान[1] शब्द का अर्थ करते हुए पंडित वी० कृष्णमाचार्य ने लिखा है कि उपादान शब्द का अर्थ भगवद् आराधना के लिए उपयुक्त द्रव्य के संचय से है।[2] यह द्रव्य बिना याचना के स्वतः प्राप्त तण्डुल आदि का स्वीकार रूप है। समृद्ध शक्तियों के लिए तो उचित फल, पुष्प, तुलसी आदि का संग्रह करना उपादान है। पंडित कृष्णमाचार्य की इस उक्ति का मूल आधार पाद्म संहिता के पूर्वोद्धृत श्लोक हैं।[3]

उपादान-काल में संग्रह की गयी वस्तुओं में पुष्प का वैशिष्ट्य सर्वाधिक है परन्तु उपादान-काल के प्रसंग में भगवान विष्णु के लिए कौन-कौन से पुष्प उपयोगी हैं, उसकी विवेचना अनुपलब्ध है। अन्यत्र संहिताओं में भगवान विष्णु की अराधना में कौन-कौन से पुष्प ग्राह्य हैं इसका विस्तृत वर्णन मिलता है जो प्रासंगिक होने से अनुपेक्षणीय है। नारदीय संहिता में गौतम ने नारद से प्रश्न किया है कि भगवान विष्णु की अराधना में कौन-कौन से पुष्प, मूल, एवं फल उपयुक्त हैं ? नारद ने गौतम के प्रश्न का उत्तर देते हुए पुष्पों के नाम गिनाया है—

कमल, मालती, तुलसी, यूथिका, कुमुद, सिन्दुवार, उत्पल, कुब्जक, वाणीज्या, प्रियङ्गु, वनमाला, कुटज, चम्पक, मदन, कुखक, पिण्डितक, केतकी, भृंगराज, शहन्तिक, अशोक, केंड, नन्द्यावर्त्य, कर्णिकाकार, वकुल, पुन्नाग, सुवर्चल, शिरीष, द्रोण, नवमल्लिका, कुरण्डक, फलिनी, सदाभद्रा, कुन्दली, नीलिका, सिंहिका, केशरी, वनजाती, स्थल पद्म, विष्णुपर्णी, सहदेवी, वृहन्नल, शतपत्र, श्रीवेर, दूर्वा, काश, कुश, कदली, कुमुद, माधवी, श्वेतरोहित, विल्वपत्र, सितार्क, पलास, खदिर, खपुष्प, वैदूर्यवर्तनी, इस प्रकार नाना प्रकार के पुष्प उपयोगी हैं।[4] भगवदर्पण के लिए उपादान काल में संग्रहीत फलों का विवरण नारदीय संहिता में यहीं प्राप्त होता है। कदली, पनस (कटहल), आम्र, द्राक्षा (अंगूर), खर्जुर, नारिकेल, करीर, कपित्थ, जम्बू, बालुक, परावत, बदर, खेट,

---

1. कुर्यादग्निविधिं सम्यगुपादानामथाचरेत्।
सति वित्ते न कुर्वीतोपादानं तु विचक्षणः॥ **लक्ष्मी तन्त्र**, 28.24

2. लक्ष्मी तन्त्र : 28.24 पर वी० कृष्णमाचार्य की टीका : उपादानं नाम भगवदाराधनोपयुक्तद्रव्यार्जनम्। तच्च निःस्वस्य पञ्चयज्ञपञ्चकालपरायणभागवतोत्तमादयाचितोपनततण्डुलादिस्वीकाररूपम्। आढ्यस्य तु तदुपयुक्तफलपुष्पतुलस्यादिसंग्रहरूपम्।

3. **पाद्म संहिता**, (चर्यापाद) 13.31-33

4. **नारदीय संहिता**, 21.1-12

मातुलुंग, दाडिम (अनार), बिल्व, कारबल्ली, व्रितांटक, कर्णाटक, पिंडा, क्षुद्रपिंडा, इत्यादि ।[1]

पाद्म संहिता के 12वें अध्याय में ब्रह्मा ने श्री भगवान से प्रश्न किया है कि हरि की आराधना के लिए कौन-कौन से पुष्प, पत्र, फल, और मूल उपयोगी हैं। इसके उत्तर में श्री भगवान ने कहा है कि पुष्पों को नन्दन, अपनी वाटिका, जंगल, आपण से खरीदे हुए या बिना माँगे प्राप्त पुष्पों से हरि की आराधना करनी चाहिए। इन बताये गये स्थलों में पूर्व की अप्राप्ति में उत्तरोत्तर ग्राह्य है।[2] अन्याय से प्राप्त, दूसरे देवता की पूजा के लिए चुने गये, भ्रष्ट, परिम्लान भूमि पर गिरे हुए, पुराने, दूसरे दिन के तोड़े हुए, कीड़ों से खाये गये, पैर से कुचले गये पुष्प अग्राह्य हैं।[3]

स्नान करके शुद्ध वस्त्र पहनकर, मौनपाद प्रक्षालन करके वेन अथवा तृण से बने हुए पात्र में चुने हुए पुष्पों को रखे।[4] चम्पक, केतक, मालती, माधवी सुरपर्णी, एक पर्णिका, प्रियंगु, पाटल (गुलाब), मन्दार, कर्णिकार, यूथिका, कुख, जाती, मल्लिका, वकुल, नवमल्लिका, नवमल्ली आदि पुष्प ग्राह्य हैं।[5] दिन के औचित पुष्पों से दिन में पूजा तथा रात में चुने गये पुष्पों से रात्रि में पूजा करनी चाहिए।[6] प्रातः काल मालती, मध्याह्न करबीर, सान्ध्य वेला में जाती, प्रदोष काल में बकुल, मध्यरात्रि में मल्लिका के पुष्प अधिक प्रशस्त हैं।[7]

---

1. **नारदीय संहिता**, 21.12-27
2. **पाद्म तन्त्र**, (चर्या पाद) भाग दो 12.1-31
3. अन्यायोपार्जितान्यन्यदेवतार्थानि वा पुनः।
   अग्राह्याणि तथा भिन्नं मुकुलं पतितं तथा॥
   जीर्णं पर्युषितं कीटदूषितं पादलंघितम्।
   म्लानं स्पृष्टं तथास्पृश्यैर्नीतं च प्रतिलोमजैः॥
   पाद्म संहिता, (चर्यापाद) 12.4-5
4. स्नातश्शुद्धाम्बरो मौनी पादौ प्रक्षाल्य वारिणा।
   पात्रे पुष्पाणि गृह्णीयाद्वेत्रजे तृणजेऽथवा॥ **पाद्म संहिता** (चर्यापाद) 12.6
5. **पाद्म संहिता**, (चर्यापाद) 12.11-15
6. दिवापुष्पैर्दिवा पूजा निशापुष्पैस्तथा निशि।
   पाद्म संहिता, (चर्यापाद) 12.17
7. मालत्या पूजयेत्प्रातर्मध्याह्ने करवीरजैः।
   सायान्हे जातिपुष्पैस्तु प्रदोषे वकुलैरपि॥
   मध्यरात्रे मल्लिकाभिर्यजेत जलजैस्सदा।
   प्रत्यूषे नन्दिकावर्तैः काल एष उदाहृतः॥
   पाद्म संहिता, (चर्यापाद) 12.18-20

परन्तु आपत्ति काल में यथा प्राप्त पुष्पों से ही हरि की आराधना करनी चाहिए।[1] तुलसी के यहां चार भेद बतलाये गये हैं।[2] दूर्वा, विल्व, तमाल, दमनक भगवान् की आराधना के लिए ग्राह्य हैं। हरि की आराधना के लिए ग्राह्य फलों एवं मूलों में कदली, आम्र, पनस (कटहल), करकरी, उपमाण्ड, अलापू (लौकी), त्रपुस आदि विशेष प्रशस्त हैं।[3] शूरण (ओल), कन्द, पैर से लगे हुए अपवित्र स्थान पर पड़े हुए और अपवित्र स्थान पर पैदा होने वाले फल मूलादि ग्राह्य नहीं हैं।[4]

श्री प्रश्न संहिता के वचनानुसार स्नान करके शुद्ध वस्त्र पहनकर पाणि-पाद को शुद्ध करके द्वादशाक्षर मन्त्र का उच्चारण करते हुए अपनी वाटिका से पुष्प और तुलसी पत्र का आहरण करे।[5] भगवत् अर्चना में प्रातः काल दो पद्म, तीन कमल और मध्याह्न काल में माधवी एवं केतकी के दो पुष्प, मालती, चम्पक, पुन्नाग, सुरपर्णी, नन्द्यावर्त, श्वेत पुष्प, करवीर, मन्दार, पाटल पुष्प

---

1. आपत्काले यथायोगमर्चयेत् पुरुषोत्तमम् ।
पाद्म संहिता, (चर्यापाद) 12.18

2. तुलस्यौ सित्कृष्णे च केवलाक्षपकास्तथा ।
चत्वारस्तुलसीभेदा दूर्वा बिल्वदलानि च ॥
पाद्म संहिता, (चर्यापाद) 12.24

3. फलमूलानि तत्रादौ फलानि कदलीफलम ।
आम्रं पनसमुर्वारुं बृहतीं कर्करीमपि ॥
कारवल्लीमलाबुं च कूष्माण्डं तिन्त्रिणीमपि ।
करवर्तं च निष्पावं गवाक्षं त्रपुसं तथा ॥
पाद्म संहिता, (चर्यापाद) 12.36-37

4. घ्रातं लालाजलस्पृष्टममेध्यप्रभवं तथा ।
पादस्पृष्टं च पतितमकाले चाशुचि स्थितम् ॥
पाद्म संहिता, (चर्यापाद) 12.39

5. किंच पुष्पाणि तुलसीरन्यानि विधिवद्द्रुमे ।
स्नातः शुद्धाम्बरो मौनी पाणिपादं च शोधयेत् ॥
मंत्रमुच्चारयन्मूलं द्वादशाक्षरमेव वा ।
तत्तल्लताभ्यो वृक्षेभ्यः स्वारामाच्चिनुयाद्द्रुमे ॥
प्रश्न संहिता, 53.117-118

प्रशस्त है।[1] सायंकाल खिले हुए मल्लिका के पुष्प युगल, वकुल, जाति, मल्लिका, ह्वेर, दमनकत्रय प्रशस्त हैं।[2] यहाँ यह अवधेय है कि पाद्म संहिता में वर्णित तुलसी के चार भेदों की चर्चा श्री प्रश्न संहिता में भी की गयी है। शुभ्र, कृष्ण, केवला तथा क्षपका, ये तुलसी के चार भेद सर्वदा विष्णु की पूजा के लिए प्रशस्त हैं।[3] यहाँ यह भी स्पष्ट किया गया है कि जलोत्पन्न-होने वाले पुष्प ह्वेर आदि पुष्प पर्युषित होने से अपवित्र नहीं होते हैं। भक्त वैष्णव 108 बार विष्णु का नाम जपते हुए पद्म आदि पुष्पों एवं तुलसी-पत्रों से हरि की अराधना करे।[4]

कौन-कौन से पुष्प अग्राह्य हैं और कौन-कौन ग्राह्य हैं—इस सन्दर्भ में सनत्कुमार संहिता में विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है। सनत्कुमार संहिता में हरि की अराधना के लिए संग्रहीत पुष्पों में अपनी वाटिका से तोड़े गये, खरीदे गए, प्रतिग्रह से प्राप्त, बिना मांगे गये पुष्प गृहीत हैं। आघ्रात, विदीर्ण पत्ते वाले, कुम्हलाये हुए, कीड़े से खाये, वासी, विवर्ण पुष्प अग्राह्य हैं। उन्मत, पाटल, कोविदार, अकोल, गिरिकर्णिका, जया, लांगली, कुटज, कुरण्डक, आकुली, क्षेरिका, किंकिड़ी, हासक, कुमुद, कुन्दवीर, अर्जुन, ककुभ, कमल, करवीर, सक्तोत्पल, माधवी, कर्णिकार, केतकी, मल्लिक, नवमल्लिक, उर्वर, नवमाला, राजमाली, नवमल्लिका, दमनक, शिरीष, पलाश, खदिर, जाती, नवजाती,

---

1. पुनर्निक्षिप्य संशोध्य तैः पुष्पैरर्चयेद्धरिम्।
प्रातः पद्मद्वयं शस्तमुत्पलत्रयमेव च॥
मध्यंदिने माधवी च केतकीद्वयमेव च।
मालती चम्पकं चैव पुंनागं सुरपर्णिका॥
नन्द्यावर्तं श्वेतपुष्पं करवीरं च पद्मकम्।
मन्दारमवदातं च पाटलप्रभमेव च॥
श्री प्रश्न संहिता, 53.120-122

2. श्री प्रश्न संहिता, 53.123-124

3. तुलस्यौ सितकृष्णे च केवला क्षपकास्तथा।
एतैः संपूजयेत् सर्वकालेषु च तथार्चयेत्॥ श्री प्रश्न संहिता, 53.125

4. पद्मादिजलपुष्पाणि त्र्यहात्पर्युषितं भवेत्।
न पर्युषितदोषोऽस्ति ह्रीबेरादेस्तु पूजने॥
एतैर्भगवतः पूजां पद्माद्यैरर्चनं चरेत्।
साधको भगवन्नाम शतमष्टोत्तरं वदन्॥
श्री प्रश्न संहिता, 53 . 126:127

सिन्दुबार आदि पुष्प संग्राह्य हैं।[1] समय के भेद से पुष्पों का भेद भी यहाँ पाद्म संहिता की भाँति विस्तृत रूप से वर्णित है।[2] लक्ष्मी तन्त्र में भी हरि की आराधना के लिए सात्विकपुष्पों का चयन वर्णित है।[3]

इज्या-काल

भगवान की विधिवत अर्चना जिस काल में की जाती है वह इज्या काल है। दिन का सार्ध तृतीय प्रहर इस काल में गृहीत है। नारदीय संहिता में कहा गया है कि जिस काल बिष्णु का यजन किया जाय, वह इज्या-काल है।[4] इज्या शब्द 'यज्' धातु से निष्पन्न होता है। पाणिनि ने 'यज्' धातु का देव पूजा, संगतिकरण एवं दान अर्थ किया है।[5] अर्थात् जिस क्रिया में देवता की पूजा, देवताओं के संगतिकरण और देवोद्देश्य से दान दिया जाय वही इज्या है। जयाख्य संहिता में महर्षि नारद के प्रश्न का उत्तर देते हुए श्री भगवान ने कहा है कि उपादान काल के अनन्तर सार्ध तृतीय प्रहर में अष्टाङ्ग योग से ईश्वर की अर्चना करनी चाहिए यही इज्या काल कहा गया है।[6] सनत्कुमार संहिता के अनुसार भी भगवान विष्णु की अर्चना जिस काल में की जाती है वह इज्या काल है।[7] इसी संहिता में इज्या शब्द के लिए अर्चना-विधि, याग, पूजन, दान, और पूजा शब्द प्रयुक्त हैं।[8]

---

1. **सनत्कुमार संहिता**, (शिवरात्र) 6.1-26
2. विस्तार के लिए द्रष्टव्य **सनत्कुमार संहिता**, (शिवरात्र) 6.27-43
3. मुकुटाद्या अलंकाराः प्रदेयाः परमाद्भुताः।
   स्रजो नानाविधाकाराः सात्विकैः कुसुमैश्चिताः॥ **लक्ष्मी तन्त्र**, 39.21
4. यजेद्यदासौ देवेशम् इज्याकालः स उच्यते। **नारदीय संहिता**, 30.7
5. यज् देवपूजा संगतिकरण दानेषु। **पाणिनीय धातु पाठ समीक्षा**
6. ततोऽष्टाङ्गेन यागेन पूजयेत्परमेश्वरम्।
   सार्ध तु ? प्रहरं विप्र इज्याकालस्तु स्मृतः॥
   जयाख्य संहिता, पटल 22.71
7. अर्चितो देवदेवेशः कालज्ञेन तु मन्त्रिणा।
   इज्या चेति समाख्याता यागकर्मणि यत् कृतम्॥
   सनत्कुमार संहिता, 'ऋषिरात्र' 1.9
8. रजः पातादि यागश्च अर्चनाविधिरेव च।
   यतीनां चैव भक्तानां दीक्षितां च पूजनम्॥
   दानं चैव हरेर्नित्यमिज्या सेति प्रकीर्तिता।
   तेन कालेन देवशः पूजितः स्याद्विशेषतः॥
   सनत्कुमार संहिता, 'ऋषिरात्र' 1.10-11

इज्या-काल में विधेय कर्मों की विस्तृत विवेचना पाद्म संहिता में उपलब्ध है। उपादान समय के व्यतीत हो जाने पर भक्त वैष्णव विधिवत स्नान करे। तदनन्तर सर्वप्रथम षडङ्ग न्यास करके दाहिने हाथ में मिट्टी को लेकर मूल अग्र और मध्य रूप से तीन वर्गीकरण करे। मूल में स्थित मिट्टी को अस्त्र विद्या से अभिमन्त्रित करके दिशाओं विदिशाओं और ऊपर तथा नीचे फेंक दे। तदनन्तर मध्य स्थित मिट्टी को मूल विद्या से जल में छोड़ दें और अग्र भाग की मिट्टी को अपने हाथों से अस्त्र हीनाङ्ग विद्या के द्वारा पैर से लेकर सिर एवं समग्र देह में अवलेपन करके वारि में स्नान करे और भगवान विष्णु को अर्घ्य आदि दे। इसके बाद भगवान विष्णु के चरण कमल को क्षालित करने वाले परम पावन सुभग जल को कुम्भ मुद्रा के द्वारा हाथ में लेकर सिर पर धारण करे। वासुदेव का ध्यान करके अघमर्षण करे और समग्र मध्याह्न समय के विहित कर्मों को करे।[1] होम पर्यन्त भगवान विष्णु के यजनोपरान्त पृथ्वी पर दण्ड की भांति साष्टांग प्रणाम[2] करके—**'जितं मे पुण्डरीकाक्ष'**[3] इत्यादि का आत्मसमर्पण के भाव में पाठ करे।

देवेश की विनीत भाव से वन्दना करने के पश्चात् गृह्य सूत्रों में बतलाये पञ्चमहायज्ञों को करे, उसी समय अतिथियों को अपनी शक्ति के अनुसार पूजित करे और आश्रितों को भोजन कराकर स्वयं भोजन करे।[4]

इज्या-काल में वैष्णव भक्त विधिवत् स्नान कर शुद्ध होने के पश्चात् अपने सूत्र में कही गयी विधि के अनुसार मध्याह्न की क्रिया का अनुष्ठान करे।[5] ब्रह्म यज्ञ के लिए सस्वर वेद का पाठ करे और विष्णु को निवेदित किये गये

---

1. **पाद्म संहिता,** (चर्यापाद) 13.34-41
2. कृत्वा यजेत देवेशं होमान्तं कमलासन।
   स्तोत्रेणाभिष्टुयाद्देवं दण्डवत्पतितः क्षितौ॥
   पाद्म संहिता, (चर्यापाद), 13.42
3. **पाद्म संहिता,** (चर्यापाद) 13.43-63
4. इति विज्ञाप्य देवेशं वैश्वदेवं स्वधामनि।
   कुर्यात्पञ्च महायज्ञानपि गृह्योक्तवर्त्मना॥
   अतिथीनपि तत्काले यथाशक्ति समर्चयेत।
   पोष्यवर्गान् भोजयित्वा भुञ्जीत नियतस्स्वयम्॥
   पाद्म संहिता, (चर्यापाद) 13.64-65
5. इज्याकाले तु संप्राप्ते स्नात्वाथ नियतः शुचिः।
   स्वसूत्रोक्तविधानेन कुर्यान्माध्याह्निकी क्रियाः॥ **श्रीप्रश्न संहिता,** 17.46

अन्न से और चरणामृत से पंक्तिपावन बन्धुओं, पितरों, वृद्धों एवं अतिथियों के साथ बैठकर नित्य श्राद्ध आदि क्रिया तथा बलि वैश्वदेव करने के पश्चात् भोजन करे ।[1] भिन्न-भिन्न समय पर बालकों को भी भोजन करावे तथा भगवान विष्णु को समर्पित करने से शेष बचे हुए ताम्बूल व चन्दन को भी उन्हें देवे । तत्क्षण विष्णु के नैवेद्य का भक्षण करे और स्त्रियों तथा जिनका यज्ञोपवीत संस्कार नहीं हुआ है, उनके साथ बैठकर एक पंक्ति में भोजन न करे । अगर ब्राह्मण खड़ा होकर भोजन करता है तो वह चान्द्रायण व्रत करे । इसी प्रकार अगर कोई वैष्णव त्रयु (धातु) कांस्य आदि के पात्र में तथा दायें हाथ पर रखकर बायें हाथ से भोजन करता है तो वह निश्चय ही नरकगामी होता है ।[2]

इज्याकालीन कृत्य

जयाख्य संहिता में कहा गया है कि दिन के सार्ध तृतीय प्रहर में अष्टांग योग से परमेश्वर की पूजा करे यही इज्या काल है ।[3] विष्णु की अष्ट अंगों से जो आराधना की जाती है वही अष्टाङ्ग योग कहलाता है । लक्ष्मी तन्त्र में अष्टाङ्ग योग का वर्णन प्रासंगिक है । अष्टाङ्ग योग के अन्तर्गत—अन्तर्याग,

---

1. विष्णोर्निवेदितान्नेन विष्णुपादाम्बुना रमे ।
नित्यश्राद्धादिकं कृत्वा वैश्वदेवबलिं ततः ।।
पङ्क्तिपावनयोग्यैस्तु बन्धुभिः पितृभिस्तथा ।
वृद्धैरतिथिभिः साकं मौनी भुञ्जीत वैष्णवैः ।।

श्रीप्रश्न संहिता, 17.49-50

2. तत्तद्योग्यस्थले तावद् बालानपि च भोजयेत् ।
विष्णुशेषं च ताम्बूलं तेभ्यो दद्याच्च चन्दनम् ।।
तत्तत्काले समश्नीयाद् विष्णुनैवेद्यभक्षणम् ।
स्त्रीभिर्वानुपनीतैर्वा न भुज्यादेकपङ्क्तिषु ।।
तिष्ठन् भुंजीत चेद्विप्रः स तु चान्द्रायणं चरेत् ।
त्रपूकांस्यादिपात्रेषु करे वामे तथैव च ।।
अन्नादिकं वै निक्षिप्य दक्षिणेन च पाणिना ।
विप्रो भुंजीत चेद्देवि स याति नरकं ध्रुवम् ।।

श्रीप्रश्न संहिता, 17.51-54

3. ततोऽष्टाङ्गेन यागेन पूजयेत्परमेश्वरम् ।
सार्धं तु ? प्रहरं विप्र इज्याकास्तु स्मृतः ।।

जयाख्य संहिता, पटल 22.71

भोगयाग, मध्यादियाग, अन्नयाग, सम्प्रदान, वह्नि संतर्पण, पितृयाग तथा अनुयाग ये अष्ट अंग है ।[1]

अष्टाङ्ग-योग

1. अन्तर्याग

अन्तर्याग का अनुष्ठान पृथ्वी, जल, तेज, वायु, एवं आकाश नामक पञ्च-महाभूतों की शुद्धि के पश्चात् किया जाता है। 'देवो भूत्वा देवानि यजेत्। अर्थात् स्वयं देवस्वरूप होकर देवताओं की अराधना करनी चाहिए। यह देव पूजा का सामान्य नियम है। यह प्रथित है कि क्षणभंगुर शरीर की संरचना पञ्चमहाभूतों से हुई है। चूंकि देवाराधना के लिए पंचमहाभूतों की शुद्धि अनिवार्य है इसीलिए अन्तर्याग के लिए भूत शुद्धि का विधान अभिहित है। भूत शुद्धि का अर्थ साधक प्राकृत देह में रहने वाले मांस एवं अस्थि स्वरूप भूतों के शुद्धिकरण से है। यह भूत-शुद्धिकरण देवता की अराधना की योग्यता को उत्पन्न करने वाला है। भूत-शुद्धि का प्रकार भूतों का अपने-अपने कारणों में लय का चिन्तन करके भगवान के प्रति समर्पण करके ईश्वरमय अप्राकृत भूतों के आविर्भाव का चिन्तन है[2]—अर्थात् वैष्णव पृथ्वी का गन्ध तन्मात्रा में, जल का रस में, रस का अग्नि में, अग्नि का रूप में, रूप का वायु में, वायु का स्पर्श में, स्पर्श का आकाश में, आकाश का शब्द में, शब्द और इन्द्रियों का अहंकार में, अहंकार का बुद्धि में, बुद्धि का प्रकृति में, प्रकृति का तम में तथा तम और आत्मा के परमात्मा में लय का चिंतन करे।

पुनः परमात्मा से तम, तम से प्रकृति, प्रकृति से बुद्धि, बुद्धि से अहंकार और अहंकार से इन्द्रियां और तन्मात्रा—शब्द से आकाश, आकाश से स्पर्श,

---

1. स्नानं कृत्वा विधानेन त्रिविधं शास्त्रचोदितम् ।
भूतशुद्धिं विधायाथ यागमान्तरमाचरेत् ॥
स्वयमुत्पादितैः स्फीतैर्लब्धैः शिष्यादितस्तथा ।
भोगैर्यजेत् मां विष्णुमुभौ वा शास्त्रपूर्वकम् ॥
अष्टाङ्गेन विधानेन ह्यनुयागासनिकैः ।
स्वाध्यायमाचरेत् सम्यगपराह्णे विचक्षणः ॥ **लक्ष्मी तन्त्र**, 28.26-28

2. प्रकृत्यन्तस्य पृथिव्यादेः कादिभान्ततयैव च ।
मन्मयीकरणं बुद्धया भूतशुद्धिरिहोच्यते ॥
टीकाः कादि भान्तमिति । ककारेण पृथ्वी भकारेण प्रकृतिश्च गृह्यते ।
लक्ष्मी तन्त्र, 35.2, एवं टीका 35.2

स्पर्श से वायु, वायु से रूप, रूप से अग्नि, अग्नि से रस, रस से जल, जल से गन्ध और गन्ध से पृथ्वी की उत्पत्ति का चिन्तन करे। जिस प्रकार से समुद्र में तरंगों का लय हो जाता है उसी प्रकार से विषय एवं इन्द्रियों की तरंगे (उद्वेग) महाभूत रूपी समुद्र में विलीन हो जाती है।[1] इसका विस्तृत वर्णन लक्ष्मी तन्त्र के 35वें अध्याय में द्रष्टव्य है। अंगन्यास तथा करन्यास करने के पश्चात् योगी ईश्वर की अराधना के योग्य दिव्य शरीर को धारण करता है और दिव्य शरीर के धारण हो जाने पर मैं ही भगवान विष्णु एवं आद्या शक्ति हूं इस प्रकार की 'अहं ब्रह्मास्मि' की भावना उदित होती है, जिससे योगी का पुनर्जन्म नहीं होता।[2] यही योगों की पवित्र भावना संसार-बन्धन का उच्छेद करती है।

विश्वामित्र संहिता में भी भूतशुद्धि के महत्व को व्याकृत (स्पष्ट) करते हुए अप्राकृत शुद्ध देह को ही ईश्वर की आराधना के योग्य बतलाया गया है और ऋषि आदि प्रणव करके वासुदेव की गन्ध, पुष्पादि से अर्चना करने का निर्देश है।[3] भार्गव तन्त्र के नवें अध्याय में भी भूत-शुद्धि करने के अनन्तर मानस याग का वर्णन प्राप्त है।[4] श्री प्रश्न संहिता में स्थान-शुद्धि, पात्र-शुद्धि, बिम्ब-शुद्धि

---

1. तरङ्गा जलधौ यद्वदस्तं यान्ति समीरणात्।
   विषयेन्द्रियकल्लोला महाभूतमहोदधौ॥ **लक्ष्मी तन्त्र**, 35.7

2. अहं स भगवान् विष्णुरहं लक्ष्मीः सनातनी।
   इत्येवंभाववान् योगी भूयो नैव प्रजायते॥ **लक्ष्मी तन्त्र**, 35.80

3. स्नापयित्वा निजं देहं शुद्धमप्राकृतं स्वकम्।
   सामाराधनोग्यं तद्धरेरिति विचिन्त्य च॥
   संस्मृत्याष्टाक्षरं मन्त्रं द्विषडक्षरमेव वा।
   त्रिषु न्यासेष्वेकतमं कृत्वाङ्गन्यासमादरात्॥
   ऋष्यादिप्रणवं कृत्वा नमः स्वाहान्तमेव वा।
   वर्णात्मानं वासुदेवं गन्धपुष्पादिभिः क्रमात्॥
   अर्चयित्वा ततो देवं हृदयाम्भोजसंस्थितम्।
   मानसैरुपचारैश्च होमान्तैरर्चयेत् क्रमात्॥
   विश्वामित्र संहिता, 10.68-71

4. भूतशुद्धिं पुरा कृत्वा मानसं यागमाचरेत्।
   पूर्वस्मिन् तोरणे पूज्यो महेन्द्रः पाकशासनः॥ **भार्गव तन्त्रम्**, 9.5

एवं आत्म-शुद्धि के अनन्तर भूत-शुद्धि का भी विस्तृत वर्णन मिलता है।[1]

भूत-शुद्धि के पश्चात् क्रियमाण अन्तर्याग का वर्णन लक्ष्मी तन्त्र के 36वें अध्याय में प्राप्त होता है। पारमार्थिक भोगों के द्वारा हृदय में रहने वाली ब्रह्मानन्द स्वरूपिणी शक्ति का यजन ही अन्तर्याग है।[2] पद्म, स्वस्तिक या योनि आसन में आसीन होकर नाभि के मध्य में आराध्य चराचर को धारण करने वाली शक्ति की अराधना करे। तदनन्तर विमल विग्रह को धारण करने वाले, शंख, चक्र एवं गदा को धारण करने वाले पूर्ण चन्द्रमा की तरह मुख वाले, हजार फणों वाले सर्प को धारण करने वाले, चक्रधर परात्पर ब्रह्म का ध्यान करे। कुंकुमोक्षोध (क्षोध=चूर्ण) की आभा के समान शरीर वाली, प्रसन्न वदना, स्वर्ण एवं रत्न की दीप्ति से युक्त वसुधा देवी की अराधना करे। नाभि में कुन्द एवं चन्द्रमा के समान धवल आकृति वाले क्षीरसागर का ध्यान करे। इसी क्रम में लम्बोदर, धर्म, ज्ञान, वैराग्य, प्रागादिदिशा, ऋगादि चतुर्वेद, सूर्य, चन्द्र, अग्नि, सत्, रज, तम, प्रणव, वाक्, श्रोत, अहंकारादि, विष्णु-लक्ष्मी आदि की विस्तृत आराधना अन्तर्याग के अन्तर्गत वर्णित है।[3]

जयाख्य संहिता में भी अन्तर्याग की विस्तृत विवेचना की गयी है। नाभि के मध्य में जगत् को धारण करने वाली शक्ति का ध्यान करे और तदनन्तर कालाग्नि, अनन्त, वसुधा, धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऋगादि वेद, कृत आदि चतुर्युग आदि की चर्चा है। लक्ष्मी आदि के पूजन का विधान विहित है। यहां विष्णु के विशेष प्रभाव को दिखाया गया है। इसी क्रम में कामधेनु मुद्रा को बांधकर सभी कामनाओं को पूर्ण करने वाले विष्णु की आराधना का वर्णन है।[4]

---

1. पूजाकाले पुरा कुर्यात् पञ्चशुद्धिं गुरूत्तमः।
स्थानशुद्धि पात्रशुद्धि बिम्बशोधनमेव च॥
आत्मनो भूतशुद्धि च मन्त्रवर्णांस्ततो रमे।
श्री प्रश्न संहिता, 28.23-24

2. ब्रह्मानन्दमयी शक्र भोगैर्यत् पारमार्थिकैः।
इज्येयं हृदयान्तःस्था सोऽन्तर्याग इति स्मृतः॥ **लक्ष्मी तन्त्र**, 36.1

3. **लक्ष्मी तन्त्र**, 36.2-150

4. निवेद्य प्रणतो मूर्ध्ना आनन्दाश्रुसमन्वितः।
कामधेनु मयीं मुद्रां मनसा मन्त्रसंयुताम्॥
बध्वा संचिन्तयेद्विष्णोस्सर्वं कामप्रपूरणीम्।
हृद्व्योमपुष्कराग्रस्थ देवमिष्ट्वा जगद्गुरुम्॥
द्रष्टव्य—**जयाख्य संहिता**, पटल 12.74-75

लक्ष्मी का वर्णन जयाख्य संहिता में अत्यन्त ही रोचक ढंग से किया गया है। आदि शक्ति की पूजा भी यहाँ विहित है।[1] अच्छे वर्ण वाले पुष्पों से भरी हुई अञ्जलि के द्वारा भगवान विष्णु की विशेष पूजा का यहाँ विधान है। पुष्पांजलि के द्वारा भगवान नारायण को अर्घ्य देवे एवं जप करे।[2] यहीं मानस होम-विधि का वर्णन प्राप्त होता है।

नारायण के मंत्र की अराधना के मागे में लगे हुये श्रद्धालु भक्त की कभी भी पुनरावृत्ति नहीं होती है और वह परम पद को प्राप्त करता है। इस प्रकार यत्नपूर्वक जानकर अन्तर्याग करना चाहिए।[3] मानस याग का रहस्य अत्यन्त गोप्य एवं भक्त की भावना को समझ कर वर्णन करने योग्य है।[4] विश्वामित्र संहिता में भी होमावसानिक अन्तर्याग अभिहित है।[5]

सात्वत संहिता में भी संक्षिप्त रूप से अन्तर्याग का वर्णन है और तदन्तर बाह्य यजन का विधान है।[6] इस संहिता के नवम् परिच्छेद में अन्तर्याग सम्बन्धी

---

1. व्याप्य च तथात्वेन स्वे स्वे स्थाने तथात्मका: ।
   तद्देहसंस्थितास्सर्वे पूजनीया: क्रमेण तु ॥
   द्रष्टव्य—**जयाख्य संहिता**, पटल 12.78
2. तमंजलिं क्षिपेन्मूर्ध्नि तस्मिन्वै मन्त्रविग्रहे ।
   अर्घ्यं निवेदयेद्भूय: पुन: पुष्पांजलिं शुभम् ॥
   मुद्रां सन्दर्श्य मूलाख्यां मानसं जपमारभेत् ।
   संख्याहीनं यथाशक्ति घण्टाख्य करणेन च ॥
   द्रष्टव्य—**जयाख्य संहिता**, पटल 12.111-112
3. मंत्राराधन मार्गस्य श्रद्धा भक्ति समन्वित: ।
   न तस्य पुनरावृत्तिस्स याति परमं पदम् ॥
   ज्ञात्वैवं यत्नतो नित्यं कुर्याद्यागं तु मानसम् ।
   द्रष्टव्य—**जयाख्य संहिता**, पटल, 12.134-135
4. इदं रहस्यं परमं मयोक्तं तेद्य नारद ।
   नाशिष्याणां च वक्तव्यं नाभक्तानां कदाचन ॥
   अत्यन्तभवभीतानां भक्तानां भावितात्मनाम् ।
   इदं रहस्यं वक्तव्यं सम्यग्भाव परीक्ष्य च ॥
   जयाख्य संहिता पटल 12.135-136
5. मानसैरुपचारैश्च होमान्तैरर्चयेत् क्रमात् । **विश्वामित्र संहिता**, 10.71
6. शब्दमात्रेण तं भूयो दलजालगतं यजेत् ।
   इत्येवमन्तर्यागस्तु देवस्य परमात्मन: ॥
   सात्वत संहिता, परिच्छेद 5.107

देवताओं का विस्तृत वर्णन किया गया है। पुन: अन्त में विधिपूर्वक क्रमशः इनके यजन का विधान है।[1]

अनन्त, कुर्म, मीन, वराह, वामन, मधुसूदन, त्रिविक्रम, विद्यादेव, श्रीमति, एवं नर आदि अष्टक की अर्चना का विस्तृत विवेचन यहाँ किया गया है।[2] अग्नि, जलाशय, स्थंडिल में देवताओं की अर्चना करे। अन्तर्याग में इन देवों की अर्चना भोग एवं मोक्ष की सम्प्राप्ति के लिए विहित है। इन नाना प्रकार के देवताओं की अर्चनाओं से विभिन्न प्रकार की सिद्धियां तथा इच्छित फल प्राप्त हो जाते हैं। अन्तर्याग के सन्दर्भ में इसके फल का उल्लेख लक्ष्मी तंत्र या अन्य संहिताओं में केवल मोक्ष ही परिगणित है। परन्तु सात्वत संहिता में मोक्ष के साथ भोग एवं अनेक प्रकार की सिद्धियाँ तथा इच्छित फल भी गृहीत है, जिनका अन्य से वैशिष्ट्य है। पृथ्वी लोक की सिद्धियों की प्राप्ति के लिए भी विष्णु की आराधना विशेष प्रकार से वर्णित है। पाताल सिद्धियों की कामना से पातालशायी हरि का पूर्ववत् मन्त्रोचारपूर्वक ध्यान करें जिससे उनके अनुग्रह से वह सिद्धि प्राप्त हो। आकाश सिद्धि को प्राप्त करने के लिए न्यग्रोध (वट-वृक्ष)-शायी आकाश में रहने वाले कर्म का यजन करें। इस प्रकार यहाँ अन्तर्याग के समस्त देबताओं का परिगणन एवं यजन का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है।[3]

2. भोग याग

अर्घ्य, पुष्प आदि भोग नाम से कहे गये हैं। इन भोग नामक वाह्य उपचारों से की गयी आराधना भोगयाग है।[4] लक्ष्मी तंत्र में इन भोगों का वर्णन विस्तृत रूप में किया गया है।[5] अर्घ्य, पाद्य, मधुपर्क, आचमनीय (आचमन के लिए जल), पादुका, साड़ी, साल, दर्पण, पैर धोने के लिए सुगन्धित जल, दन्तधावन हेतु काष्ठ, सुगंधित तेल, शालि एवं गोधूम का चूर्ण, हरिद्रा का चूर्ण, चन्दन,

---

1. य उक्त: समुदायेऽस्मिन् हृद्यागे देवतागणः।
   यजेद् भिन्नक्रमेणैव विधिनानेन तं पुनः ॥

   द्रष्टव्य **सात्वत संहिता**, परिच्छेद 9.112
2. **सात्वत संहिता**, परिच्छेद 9.114-119
3. **सात्वत संहिता**, परिच्छेद 9.120-136
4. पूजनं चार्घ्यपुष्पाद्यैर्भोगैर्यदखिलं मुने।
   बाह्योपचारैस्तद्विद्धि भोगसंज्ञं तु नारद ॥

   जयाख्य संहिता, पटल 22.76, 77
5. शृणु भोगान् सुरेशान दत्तैस्तुष्यामि यैरहम्।
   येषु मे वितता शक्तिर्भोग्यभोगाय तिष्ठते ॥ **लक्ष्मी तंत्र**, 39.1

क्षीर, दधि, घृत, पञ्चगव्य, मधु, रक्त चन्दन, हेम रत्न, नदी एवं तीर्थ के जल, श्रग (माला), धूप, पूर्णपात्र दो, उत्तरीय वस्त्र, सुन्दर आसन, अलंकार, व्यजन (पंखा), मुकुट आदि अलंकार, सात्विक कुसुमों से बनाया गया अनेक प्रकार का माला, प्रदीप आदि पदार्थों को भोग रूप से देकर ईश्वर की आराधना करनी चाहिए। तदनन्तर अक्षमाला से जप करना चाहिए।[1]

पौष्कर संहिता में भोगयाग का विधान भोग की प्राप्ति के लिए बतलाया गया है[2] जो उपर्युक्त संहिताओं में अप्राप्य है। यहाँ पर भोग के पदार्थों में अर्घ्य, चन्दन, आसन, ताम्बूल, दन्तधावन का काष्ठ आदि विहित है।[3]

3. मध्वादि याग

मधु, घृत, दधि, और अंत में पशु से भी की गयी भगवान विष्णु की आराधना मध्वादि याग है।[4] लक्ष्मी तंत्रम् के वचनानुसार दुग्ध, मधु और दधि के मिश्रण को मधुपर्क कहा गया है और इससे यजन करने का विधान है।[5] जयाख्य संहिता में कहे गये पशु के द्वारा विहित पूजा का अभिप्राय कुछ विद्वान आत्मा के समर्पण से मानते हैं।[6]

4. अन्नयाग

ईश्वर की आराधना के लिए पकवान्न का अर्पण करना अन्नयाग है। जयाख्य संहिता में अन्नयाग का मात्र नामोल्लेख ही प्राप्त है।[7] लक्ष्मी तंत्र में

---

1. द्रस्टव्य, **लक्ष्मी तंत्र**, 39.2-33
2. निवेदनीयमेकैकं भोगं भोगाप्तयेऽब्जज। **श्रीपौष्कर संहिता**, 26.9
3. **श्रीपौष्कर संहिता**, 26.9 के आगे के श्लोक
4. मध्वाज्याक्तेन दध्ना वै पूजा च पशुनाऽपि वा॥
   तत्तृतीयं हि यागाङ्गं तुर्यमन्तेन पूजनम्।
   द्रष्टव्य—**जयाख्य संहिता**, पटल 22.77-78
5. यजेत् मधुपर्केण यथा तदवधारय।
   पयसो मधुनो दध्नः संयोगो मधुपर्क.॥ **लक्ष्मी तंत्र, 39**.27
6. Animal-offering, here, is a symbolism which stands for the offering of one's own soul. Vedant Desika, p. 411
7. तत्तृतीयं हि यागाङ्गं तुर्यमन्तेन पूजनम्।
   निवेदितस्य यद्दानं पूर्वोक्त विधिनामुने॥
   संप्रदानं तु तन्नाम यागाङ्गं पञ्चमं स्मृतम्।
   द्रष्टव्य **जयाख्य संहिता, पटल** 2**2**.78-79

अन्नयाग के लिए प्रदेय पदार्थों में शालि अन्न का विधान है इसके साथ ही यहाँ कर्पूर एवं ताम्बूल को भी भगवद् आराधना में प्रदेय कहा गया है ।[1]

5. सम्प्रदान

भगवद् अर्पण के लिए किये गये अन्न आदि प्रसाद का अन्य लोगों को दान देना सम्प्रदान है ।[2] सम्प्रदान का अर्थ स्व स्वत्व निवृत्तिपूर्वक पर स्वत्व का उपादान है ।[3] अर्थात् दिये गये पदार्थ के प्रति आत्मीयता का त्याग करके दूसरे के लिए उस पदार्थ के प्रति आत्मीयता उत्पन्न करना है । लक्ष्मी तन्त्र में श्रद्धालु गुरुओं और वैष्णवों को लक्ष्मी मन्त्र का उच्चारण करके प्रसाद का आधा भाग देने का विधान है ।[4]

6. वह्नि संतर्पण

जयाख्य संहिता में वह्नि संतर्पण की व्याख्या नहीं की गयी है, परन्तु वह्नि संतर्पण का अर्थ अग्नि अर्थात् आहुति के द्वारा देवता को तृप्त करना है ।[5] लक्ष्मी तन्त्र में वह्नि संतर्पण की अनुष्ठान-विधि का विस्तृत वर्णन किया गया है । उत्तर दिशा में या देवागार के बाहर चतुरस्र अपरा पद्माकार कुण्ड का निर्माण करे । कुंड का परिमाण हवन के अनुसार कम या अधिक निश्चित किया गया है । उस कुंड के मध्य में भगवान नारायण की शक्ति को स्थापित कर पद्म मुद्रा को दिखाकर गन्ध, पुष्प आदि से अर्चना करने के अनन्तर ऋतुमती शक्ति का ध्यान करे । अरणी द्वारा अग्नि का मन्थन करके अंगुलियों के द्वारा उसे आवृत करें । तदन्तर स्वाहा एवं स्वधा नामक देवियों से पाणिग्रहण करें ।

---

1. प्रदेया अन्नयज्ञार्था मात्राः शाल्यन्ननिर्मिताः ।
 सकर्पूरं च ताम्बूलं प्रदेयमनुवासनम् ॥ **लक्ष्मी तंत्र**, 39.31
2. निवेदितस्य यद्दानं पूर्वोक्तविधिना मुने ।
 सम्प्रदान तु तन्नाम यागाङ्कं पंचमं स्मृतम् ॥
 जयाख्य संहिता, पटल 22.78, 79
3. स्वस्वत्व निवृत्तिपूर्वक परस्वापत्तिं दानम् । **धर्मशास्त्र का इतिहास**
4. ततो गुरून् समानीय मन्मयान् वापि वैष्णवान् ।
 प्रदद्यात् प्रापणार्धं तु तेभ्यो मन्मन्त्रमुच्चरन् ॥
 द्रष्टव्य-लक्ष्मी तंत्र, 40.29, 30
5. प्रदद्यात् प्रापणार्धं तु तेभ्यो मन्मन्त्रमुच्चरन् ।
 अथ वह्निगतां सम्यगग्नीषोममयीं पराम् ॥
 तर्पयेन्मा सुरेशान यथावदवधारय ।
 तत उत्तरदिग्भागे देवागाराद्बहिस्तु वा ॥ **लक्ष्मी-तंत्र**, 40.30-31

चारो दिशाओं में परिधि की स्थापना करके कुंड के मध्य दो समित काष्ठ रखें। **स्मुक** एवं **स्नुव** इन दोनों को आग के ऊपर तपाकर अग्नि के मध्य में स्नुव आहुति करे। इस प्रकार यहाँ यजन-विधि का विस्तृत विवरण किया गया है।[1]

7. पितृयाग

यहाँ पितृयाग का अभिप्राय पितरों का यजन करके ईश्वर को प्रसन्न करना है। भगवान विष्णु की आराधना करने के पश्चात् लोकपालों की अर्चना करने का विधान है। वेदी का शोधन करके उसके दक्षिण तरफ कुशास्तरण करके तीन पिंड बनाकर पितरों के लिए निर्वाप (देवे) करें। प्रत्येक पिंड पर अंजलि के द्वारा ब्रह्मा और विष्णु के लिए विशेष रूप से अर्घ्य दें। भक्त वैष्णव पितरों का उद्देश्य करके उनका नाम लेकर उनकी अर्चना करें और अन्त में सबका समर्पण विष्णु में कर दे।[2]

8. अनुयाग

अष्टाङ्ग का अनुयाग अंतिम याग है। जयाख्य संहिता के अनुसार अनुयाग प्रामाग्नि के हवन को कहते हैं।[3] लक्ष्मी तन्त्र में इसका वर्णन करते हुए कहा गया है कि श्रद्धालु दीक्षित को अस्त्र तारा के द्वारा प्रोक्षण, परिसेचन, आपोशन, (जलपान) तथा प्राणाहुति करनी चाहिए। अदीक्षित अनुयग करता है तो वह उन-उन मन्त्रों के अनुसंहित (अनुसरण) तारिकाओं का उच्चारण करते हुए हृदय प्रवेश में रहने वाले ईश्वर का चिंतन करे। भक्त स्वयं को ऐश्वर्य शक्ति एवं ज्ञान स्वरूप, अव्यय पुंडरीकाक्ष के रूप में स्वयं अपने आप को समझें तदनन्तर तारिका का उच्चारण करते हुए दो बार जल का आचमन करके अनुयाग का ईश्वर में समर्पण कर देना जाहिए।[4]

अनिरुद्ध संहिता में अनुयाग वर्णन के प्रसंग में आचार्य को भोजन कराने का विधान है। क्योंकि आचार्य के भोजन के अभाव में समग्र देव पूजा निष्फल

---

1. **लक्ष्मी तन्त्र**, 40.32-80
2. पितृन् यजेत् क्रमेणैव प्रापणार्थविशेषतः।
   कृत्वा पिंडत्रयं तेन पितृभ्यो निर्वपेत् स्तरे॥
   अर्घ्याञ्जलि तथा दद्यादेकैकस्यैकमंजलिम्।
   वैष्णवायाथवा दद्याद्ब्राह्मणाय विशेषिणे॥ **लक्ष्मी तन्त्र**, 40.91-92
3. प्राणाग्निहवनं नाम्ना त्वनुयागस्तदष्टमम्।
   द्रष्टव्य—**जयाख्य संहिता**, पटल 22.80
4. द्रष्टव्य—**लक्ष्मी तंत्र**, 40.94-99

हो जाता है तथा आचार्य के प्रसन्न होने पर विष्णु भी प्रसन्न हो जाते हैं।[1] पाञ्चरात्र रक्षा के वचनानुसार समग्र कर्मों का मूल कारण इज्या ही है। अतः इज्याकालीन कृत्य अवश्य ही करणीय है।[2]

स्वाध्याय-काल

जयाख्य संहिता एवं लक्ष्मी तन्त्र के अनुसार वेदों का श्रवण, चिंतन एवं पाठ के अनुसार विश्लेषण जिस काल में किया जाता है वह दिन का अवशिष्ट चतुर्थ प्रहर है। यह अवधि स्वाध्याय काल संज्ञक है।[3] नारदीय संहिता में स्वाध्याय काल में विधेय कर्मों के अन्तर्गत अध्यापन, अध्ययन एवं विष्णु सम्बन्धी जप भी गृहीत है।[4] सनत्कुमार संहिता के अनुसार स्वाध्याय काल में विष्णु संज्ञक मन्त्रों का चिंतन एवं इतिहास तथा पुराणों का अर्थ-ज्ञान-पूर्वक पाठ वर्णित है।[5] श्री प्रश्न संहिता में स्वाध्याय-काल की विस्तृत विवेचना की गयी है। ऐसा विधान है कि स्वाध्याय-काल में ब्रह्म यज्ञ के लिये वैष्णव उच्च स्वर से वेदों का सस्वर पाठ करे तथा वेद एवं वेदार्थ का चिंतन करे। यहाँ वेद के

---

1. स्वगृहे संप्रविश्याथ अनुयागं समाचरेत्।
   आचार्ये भोजनाद्धीने देवपूजा च निष्फला॥
   आचार्ये सुप्रसन्ने तु देवदेवः प्रसीदति।
   द्रष्टव्य—**अनिरुद्ध संहिता**, 18.48, 49

2. कर्मारम्भेण मन्त्रेण प्राप्तं कालमनुस्मरेत्।
   इज्यामेवाभिसन्ध्यात्सा योनिस्सर्वकर्मणाम्॥
   द्र०-**श्रीपाञ्चरात्ररक्षा**, तुतीयोऽधिकारः, पृ० 138

3. श्रवणं चिंतन व्याख्या ततः पाठ समन्विता।
   अध्यायसंज्ञ तं विद्धि कालांशं मुनिसत्तम्॥
   जयाख्य संहिता, पटल 22.72
   स्वाध्यायमाचरेत सम्यगपरा ह्वे विचक्षणः। **लक्ष्मी तन्त्र**, 28.28

4. कुर्यात् स्वाध्यायकालो सौ कीर्तितो मुनिपुङ्गव।
   यदा भागवत श्रेष्ठो योगं योगी च योगवित्॥
   नारदीय संहिता, 3.7-8

5. तत् पदं परमं प्राहुः सदा विष्णु पदं शुभम्।
   तत्पदस्य प्रभुश्चैके नित्यो नारायणः परः।
   तस्मात् सर्वप्रयत्नेन योगी नारायणं स्मरेत॥
   सनत्कुमार संहिता, ऋषिरात्र, 1.72

साथ-साथ पुराण, धर्मशास्त्र, पाञ्चरात्र के अर्थ, वेदान्त, इतिहास एवं अन्य विद्वानों द्वारा लिखे गये ग्रन्थों का अध्ययन स्वाध्याय-काल में गृहीत है ।[1]

इस काल में भक्त वैष्णव विष्णु की कथा का श्रवण करे एवं स्वयं भगवान का गुणानुवाद भी करे । मन, कर्म एवं वाणी से विष्णु की सेवा करने का विधान इस स्वाध्याय काल में विहित है । इसमें यदि भक्त असमर्थ है तो यह अष्टाक्षर अथवा द्वयक्षर मन्त्र का जप करे तथा अन्य सांसारिक विषयों से विरत रहे ।[2] संध्याकाल प्राप्त होने पर अपने सूत्र में कही गयी विधि के अनुसार संध्या-कर्म करे तदनन्तर उपासना करे । इस समय भक्त विनीत भाव से विष्णु की पूजा करे ।[3]

स्वाध्याय-काल में स्वसाध्वी पत्नी का साहचर्य वर्जित नहीं है । श्री प्रश्न संहिता का निर्देश है कि सर्वव्यापी भगवान विष्णु की आराधना करते हुए भक्त यदि स्वसाध्वी स्त्री का सेवन करता है तो ऐसा करना चाहिए । किन्तु इस कार्य के अनन्तर स्नान-कर्म, शुद्ध वस्त्र-धारण करके दूसरी शैया पर शयन करे एवं पूर्ववत् विष्णु का स्मरण करे ।[4] पाद्म संहिता के चर्यापाद के अन्तर्गत स्वाध्याय काल का विस्तृत वर्णन किया गया है तथा इसके लिए उचित स्थान का भी

---

1. स्वाध्यायं ब्रह्मयज्ञाय पठेदुच्चैश्च सस्वरम् ।
सायाह्नकाले संप्राप्ते वेदं वेदार्थमेव वा ॥
पुराणं धर्मशास्त्रं च पाञ्चरात्रार्थमेव च ।
वेदान्तमितिहासादि ह्यन्यं वा सूरिभिः कृतम् ॥
श्री प्रश्न संहिता, 171.55-56

2. हरेः कथां च शृणुयात् स्वयं वापि पठेत्तदा ।
कर्मणा मनसा वाचा विष्णु सेवा परो भवेत् ॥
एतेषु शक्तिहीनस्तु द्वयमष्टाक्षरं तु वा ।
द्वादशार्णं षडर्णं वा स्मरेन्नान्यं तु चिन्तयेत् ॥
श्री प्रश्न संहिता, 17.57-58

3. पूर्ववत्पूजयेद्विष्णु भक्तिनम्रो यथाक्रमम् ।
श्री प्रश्न संहिता, 17.60

4. शुद्धायां तु स्वशय्यायां ध्यायन्नारायणं विभुम् ।
शयीत यदि सेवेत साध्व्या स्वस्य स्त्रिया सह ॥
शय्यां ततो गुरुः स्नात्वा शुद्धवस्त्रादिकं धरन् ।
भजेदन्यं तु शयनं पूर्ववद् वैष्णवः पुमान् ॥
श्री प्रश्न संहिता, 17-61-62

निर्देश किया गया है जिसका वर्णन करना अप्रासंगिक नहीं है। विष्णु मन्दिर, नदी का तट, मठभूमि, एकान्त, जंगल, पर्वत अथवा गृह में ऋग्, यजुष एवं सामवेद की विभिन्न शाखाओं का स्वाध्याय-काल में सुखपूर्वक एकाग्र चित्त से अध्ययन करना चाहिए। इनके अतिरिक्त शिक्षा, कल्प, निरुक्त, छन्द, व्याकरण, एवं ज्योतिष रूप षडंगों का भी अध्ययन विहित है। शिष्यों को अनेक प्रकार के शास्त्रों का अध्यापन भी स्वाध्याय काल में वर्णित है।[1]

वेद-वेदाङ्ग ही नहीं अपितु इतिहास, पुराण, धर्मशास्त्र एवं अराधना परक ग्रंथों का अनुशीलन भी स्वाध्याय-काल के अन्तर्गत परिगणित है। तदनन्तर सायंकाल शास्त्रों में वर्णित जप-होमादि क्रिया को सम्पन्न करके ईश्वर की विधिवत् अर्चना करे तथा भोजन करके शयन करे।[2]

लक्ष्मी तन्त्र में भी दिन का अपराह्न काल स्वाध्याय-काल के अन्तर्गत गृहीत है। इस समय विद्वान् दिव्य शास्त्र तथा नियमों का चिंतन करे तथा आत्मसिद्धि के लिए इनके समग्र सिद्धान्तों का अनुकरण करे।[3] राग-द्वेष से रहित होकर एकाग्र चित्त के द्वारा मन व वाणी से कभी भी शास्त्रों की निन्दा न करे। शास्त्रों के अर्थ से जितना प्रयोजन हो उतना ही ग्रहण करे क्योंकि समग्र शास्त्रों का विस्तार प्राणियों के कल्याण के लिए किया गया है। सायंकाल प्राप्त होने पर विधिवत् सूर्याभिमुख होकर सन्ध्योपासन-कर्म करे।[4]

---

1. मन्दिरे वा हरेर्नद्यास्तीरे वा मठभूमिषु।
   विविक्ते विपिने वापि पर्वते वा गृहेऽपि वा॥
   ऋगो यजूंषि सामानि भिद्यमानान्यनेकधा।
   शाखाभेदैर्मूलशाखामेकायनसमाश्रयाम्।
   त्रयीमयीमधीयीत सुखासीनस्समाहितः॥
   अन्यैस्सार्धम धीयानैष्षडङ्गेषु च कोविदैः।
   अध्यापयीत वा शिष्यान् शास्त्राणि विविधानि च॥
   पाद्म संहिता, (चर्यापाद, भाग दो) अ 13.66, 69
2. जपहोमादिकं सर्वं कृत्वा परमपुरुषम्।
   अर्चयित्वा यथान्यासं यथापूर्वमशेषतः॥
   पाद्म संहिता, (चर्यापाद) 13.73
3. स्वाध्यायमाचरेत् सम्यगपराह्णे विचक्षणः।
   दिव्य शास्त्राण्यधीयेत निगमांश्चैव वैदिकान।
   सर्वाननुचरेत् सम्यक्॥ सिद्धान्तानात्मसिद्धये **लक्ष्मी तन्त्र**, 28.28-29
4. **लक्ष्मी तन्त्र**, अ० 28.30-37

स्वाध्याय की मीमांसा वेदान्तदेशिक ने भी की है जो इस प्रकार है[1]—**अथ स्वाध्यायं व्याख्यास्यामः। चतुर्थे काले सम्प्राप्ते स्वावगत वेदवाक्यार्थव्यक्तीकरणाय विदितसकलवेदतदर्थानां स्वयोगमहिमसाक्षात्कृतपरावरतत्त्वयाथार्थ्यानां मनुपराशरपाराशर्यशुकशौनकादीनां महर्षीणां प्रबन्धान् (वेदोपबृंहणानि) श्रवणमनन-जपादिभिरभ्यसेत्।** अर्थात् योग बल के द्वारा तत्ववेत्ता मनु, पाराशर, व्यास (पाराशर्य), शुक, शौनक आदि ऋषियों के वेदों का उपबृंहण करने वाले ग्रंथों का श्रवण, मनन एवं जप द्वारा अभ्यास करे। ज्ञातव्य है कि पाञ्चरात्र रक्षा के इस वचन का सम्बन्ध श्री प्रश्न संहिता के एक श्लोकांश[2] से है यद्यपि अन्यत्र इस विचार की पुष्टि नहीं मिलती।

योग-काल

पञ्चकाल कृत्यों में अंतिम कृत्य योग हैं। रात्रि का द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ प्रहर योग-काल के अन्दर गृहीत है। जिस समय भक्त योग का अभ्यास करता है वही योग-काल है।[3] मध्य रात्रि में उठकर वैष्णव प्रसन्न चित्त, पाद शुद्धि तथा विधिवत आचमन करके योगाभ्यास करे।[4] प्राणायाम के द्वारा शंख, चक्र एवं गदा को धारण करने वाले पीताम्बर श्वेत वर्ण, वनमाला आदि से समलंकृत वासुदेव का ध्यान करते हुए संहार-क्रम से समग्र तत्वों का अपने हृदय में स्थित वासुदेव में विलय करे और अपनी आत्मा को उन्हीं में लगावे। कुछ काल पर्यन्त ध्यान करके योगासन से उठकर शयन करे इस प्रकार श्री प्रश्न संहिता में योगकाल वर्णित है।[5]

---

1. **पाञ्चरात्र रक्षा**, पृ० 147
2. पिशाचाजगरव्याघ्रनरपक्षिमुखान्यपि।
   क्रमेण कल्पनीयानि तत्तदूर्ध्वं पुनः पुनः॥ **श्री प्रश्न संहिता**, 12.56
3. यदा भागवत श्रेष्ठो योगं योगी च योगवित्।
   स योग कालो विज्ञेयः। **नारदीय संहिता**, 30.8
4. महानिशि समुत्थाय योगकाले प्रसन्नधीः।
   पादशुद्ध्यादिकं कृत्वा त्वाचम्य च यथाविधि॥ **श्री प्रश्न संहिता**, 17.63
5. वृस्याद्यासनमासीनौ योगपर्यंकमारुहन्।
   प्राणायामेन पुरुषं शङ्ख चक्रगदाधरम्॥
   पीताम्बरं श्वेतवर्णं वनमालादिभूषितम्।
   वासुदेवं परं ध्यायन् योगं कृत्वा विचक्षणः॥
   संहारक्रममाश्रित्य तत्वान्यात्मनि संहरेत।
   हृदि स्थिते वासुदेवे स्वात्मानमपि योजयेत्॥

क्रमशः

पाद्म संहिता में भी मध्य रात्रि में योग का काल बतलाया गया है।[1] इस मध्यरात्रि में भक्त उठकर आचमन के द्वारा शुद्ध होकर परम पुरुष का ध्यान करके सुखपूर्वक बैठकर सामर्थ्यानुसार योगाभ्यास करे।[2] श्री प्रश्न संहिता एवं पाद्म संहिता में योग काल के वर्णन में कोई अन्तर नहीं है।

लक्ष्मी तन्त्र में एकान्त देश में एवं पवित्र स्थान पर योग साधना करने का निर्देश है। पद्म या स्वास्तिक आसन पर बैठकर इन्द्रियों को जीतकर धारणा में श्रम करके मेरा ध्यान करे। यहाँ लक्ष्मी के ध्यान का वर्णन किया गया है तथा देवी महत्व का विस्तृत रूप से विवेचन किया गया है। धीर योगी तदनन्तर रात्रि के दो प्रहर तक शयन करे एवं अन्तिम प्रहर में उठकर संचरण करे।[3]

नारदीय संहिता में अष्टांग योग का वर्णन किया गया है। जो सनत्कुमार संहिता, पाद्म संहिता, श्री प्रश्न संहिता एवं लक्ष्मी तन्त्र के वर्ण्य-विषयों से भिन्न है। यहां वर्णित योग के अष्ट अंग निम्न हैं—

1. **यम**—नारदीय संहिता में अनृशंस, क्षमा, सत्य, अहिंसा, दम, आर्जव, दान, प्रसाद, माधुर्य, मार्दव, ये दस यम परिगणित हैं।[4]

2. **नियम**—शोच, इज्या, तप, स्वाध्याय, उपस्थ, निग्रह, व्रत, उपवास, मौन, ध्यान में दस नियम कहे गये हैं।[5]

कंचित्कालं तथा ध्यात्वा सृजेद्देहात्तमात्मनः।
शनैर्योगासनमपि त्यक्त्वा गुरुरतन्द्रितः॥
भजेत् स्वशयनं देवि सर्वक्लेशापहं शुचि॥
इत्थं च कथितो देवि योगकालश्च पञ्चमः॥

द्रष्टव्य **श्री प्रश्न संहिता**, 17.64-68

1. आचम्य प्रयतो भूत्वा ध्यात्वा परम पूरुषम्।
पाद्म संहिता, (चर्यापाद) भाग दो, 13.74

2. योगासने सुखासीनो युंजीतात्मानमात्मनि।
यथोक्तेन प्रकारेण यथाशक्ति चतुर्मुख॥
पाद्म संहिता, (चर्यापाद) 13.75

3. **लक्ष्मी तन्त्र**, 28.38-50

4. आनृशंस्यं क्षमा सत्यमहिंसा दम आर्जवम्।
दानं प्रसादो माधुर्यं मार्दवं च यमा दश॥ **नारदीय संहिता**, 30.10-11

5. शौचमिज्या तपः सत्यं स्वाध्यायोपस्थनिग्रहौ।
व्रतोपवासौ मौनं च ध्यानं च नियमा दश॥ **नारदीय संहिता**, 30.11-12

3. **आसन**—प्रमाण से युक्त, अचल, स्वेच्छानुसार, सुख को प्रदान करने वाला, योग की सिद्धि को देने वाला योगियों का आसन कहा गया है।[1]

4. **प्राणायाम**—वायु के पूरण, रेचन तथा रोधन से जो श्रम होता है उसे प्राणायाम कहा गया है।[2] पहले वायु से नाड़ी को पूरित करे तदनन्तर उसे छोड़े। इसके अनन्तर वायु का स्तम्भन करे ये निरोध की मात्रायें आलम्बन गुण से कही गयी हैं जो अन्य चतुर्थ प्राणायाम है।[3]

5. **प्रत्याहार**—शब्दादि विषयों में अनुरक्त इन्द्रियों का प्रत्याहरण को प्रत्याहार कहा गया है।[4]

6. **धारणा**—शुभ विषय में चित्त की निश्चल स्थित धारणा शब्द से अभिहित है।[5]

7. **ध्यान**—बार-बार जिस विषय में धारणा की जाय उसे वैष्णव जन ध्यान कहते हैं।[6]

8. **समाधि**—ध्येय विषय का कल्पनातीत मन से स्वरूप का ग्रहण करना

---

1. प्रमाणयुक्तमचलं यथारुचि सुखप्रदम्।
योगिनामासनं प्रोक्तं योगसंसिद्धिकारणम्॥
नारदीय संहिता, 30.12-13

2. पूरणाद्रेचनाद्वायोः रोधनाद्वा च यः श्रमः।
भवेत्प्राणकृतः पुंसां प्राणायामः स उच्यते॥
नारदीय संहिता, 30.13-14

3. प्रथमं पूरयेन्नाडीं वायुना रेचयेत्ततः।
ततस्तु स्तम्भयेद्वायुं क्रमो ह्येषः प्रकीर्तितः।
एते निरोधमात्रास्तु आलम्बनगुणाः स्मृताः॥
नारदीय संहिता, 30.14-15

4. शब्दादिष्वनुरक्तानि ग्राह्याण्यक्षणि योगवित्।
कुर्याच्चित्तानुकारीणि प्रत्याहारः प्रकीर्तितः॥
नारदीय संहिता, 30-16-17

5. शुभे ह्येकत्र विषये चेतसो यच्च धारणम्।
निश्चलेन तु योगीन्द्रैर्धारणा तु समीरिता॥
नारदीय संहिता, 30.17-18

6. पौनः पुन्येन यत्रैव विषये सैव धारणा।
ध्यानमित्युच्यते ब्रह्मन सदा भागवतैर्द्विजैः॥
नारदीय संहिता, 30.18-19

समाधि शब्द कहा गया है। इस प्रकार अपनी क्षमता के अनुसार अनालस्य भाव से योगाभ्यास करने वाला वैष्णव महानन्द रूपी महती सम्पदा को प्राप्त करता है।[1]

सनत्कुमार संहिता में भी योग काल में षडंग युक्त योगाभ्यास अभिहित है।[2] प्रस्तुत प्रकरण का प्रतिपाद्य विषय पञ्चकाल होने के कारण यहां पञ्चकाल के अन्तर्गत गृहीत जो योग काल है, उसी का वर्णन प्रासंगिक होने के कारण किया गया है। अन्यत्र संहिता में प्राप्त होने वाले योग का वर्णन अप्रासंगिक होने के कारण इस सन्दर्भ में मौनावलम्बन की बाध्यता है।

पञ्चकाल : महिमा

उपर्युक्त वर्णित पञ्चकाल का जीवन-पर्यन्त अनुष्ठान करने वाला भक्त वैष्णव ईश्वर के सायुज्य को प्राप्त करता है।[3] योगी के लिए पञ्चकाल का अनुष्ठान परमावश्यक है।[4] इस पञ्चकाल-विधि से उपासना करने वाला भक्त कभी भी कष्ट नहीं पाता। बारह वर्षों तक एकाग्रचित से इस विधि से आराधना करने वाला भक्त विष्णु की सायुज्य गति को प्राप्त कर लेता है एवं छः वर्षों तक आराधना करने पर सारूप्य गति को अवश्य प्राप्त करता है। एक

---

1. तस्यैव कल्पनाहीनं स्वरूपग्रहणं हि यत्।
मनसा ध्याननिष्पाद्यं समाधिस्सोऽभिधीयते ॥
कथितानि तवैतानि योगांगानि द्विजोत्तम ॥
यथाशक्त्यभ्यसन्नेवं मन्त्री नित्यमतन्द्रितः।
महानन्दमवाप्नोति महतीमपि सम्पदम् ॥

नारदीय संहिता, 30.19-21

2. स्वाध्यायः काल इत्युक्तः पूजितस्तेन वै प्रभुः।
यो योग इति संप्रोक्तो योगिभिर्योगवित्तमैः ॥
तेन योगेन देवेशः पूजितः स्यात् स्वयं हरिः।
षडङ्गयुक्तो योगः स उक्तः पदमोद्भवे किल ॥

सनत्कुमार संहिता, (ऋषि रात्र) 1.13-14

3. एवं कुर्वन्यावदायुर्हरेः सायुज्यतामियात्। **श्री प्रश्न संहिता**, 17.69

4. पञ्चस्थानार्चनं कृत्वा पञ्चकालविशेषवित्।
तत्र च प्रत्ययं लब्ध्वा बिष्णुनानुग्रहीकृतः ॥

सनत्कुमार संहिता, (ऋषि रात्र) 3.57

वर्ष तक इस विधि से हरि की पूजा करने वाला भक्त वैष्णव अवश्य सालोक्य गति को प्राप्त कर लेता है ।[1]

---

1. आराधनं भगवतः कुर्वन्नैवावसीदति ।
वर्षेषु द्वादशस्वेवमनुतिष्ठन् समाहितः ।।
क्रियाकलापमखिलं याति सायुज्यसम्पदम् ।
षट्सु वर्षेषु सारूप्यसामीप्यादि सुनिश्चितम् ।।
सालोक्यं फलमेकस्मिन् वत्सरे नात्र संशयः ।
पाद्म संहिता, (चर्यापाद) 13.79-80

उपसंहार

पाञ्चरात्र परम्परा के विपुल वाङ्मय-स्रोत के अध्ययन के प्रसंग में हमने अद्यतन प्रकाशित संहिताओं की स्रोत-सामग्री के कतिपय पक्षों का विवेचन किया। तदनुसार ब्राह्मण धर्म के इतिहास में अल्पज्ञात किंतु अतिशय महत्वपूर्ण वैष्णव पाञ्चरात्र धारा का यथेष्ट अभिज्ञान हुआ।

आगम-परम्परा निगम-भिन्न अर्थात् वेद-भिन्न है। जहां तक पाञ्चरात्र और पाशुपत जैसी वैष्णव एवं शैव धाराओं के मूल स्रोत व स्वरूप का प्रश्न है, वे अत्यन्त प्राचीन और ऋग्वेदीयेतर प्रतीत होती हैं। महाभारत के प्रसिद्ध नारायणीयोपाख्यान में नारायण-वासुदेव-उपासना भारतीय संस्कृति में एकान्विति प्रस्तुत करने वाली परम्परा प्रतीत होती है।[1] इससे सम्बद्ध है 'श्वेतद्वीप' की गाथा और 'चित्रशिखण्डी' कहे जाने वाले सप्तर्षियों की गाथा। कहा गया है कि चित्रशिखण्डी सप्तर्षियों ने नारायण द्वारा पाञ्चरात्र शास्त्रोपदेश प्राप्त किया था और इस तरह इस सिद्धान्त का प्रवर्तन हुआ। ज्ञातव्य है कि श्वेत द्वीप की पहचान, हरिमेधस् का अभिप्राय और चित्रशिखण्डी का मूलार्थ स्पष्ट नहीं है। यद्यपि इस पर अनेक विद्वानों ने विचार किया है। इनमें चित्रशिखण्डी शब्द अत्यंत महत्वपूर्ण प्रतीत होता है जो महाभारत के अलावा विष्णुधर्मोत्तर पुराण में भी 'चित्रशिखण्डिधर' रूप में आया है। चित्र शब्द भारोपीय है जिसका अर्थ—स्पष्ट आलोक, दीप्तिमान।[2]

ऋग्वेदीय शब्द 'चित्र' अवेस्ता में 'चिथ्र' कहलाता है और यही अन्ततः आधुनिक अर्थों में 'चिह्न=चेहरा' हो जाता है किन्तु भाषाविदों और वैयाकरणों द्वारा चित्र-चिथ्र की व्युत्पत्तियों से ज्ञात होता है कि यह शब्द एक समाज के लिए प्रयुक्त हुआ है जो अपने को एक ही व्यक्ति या स्रोत से उत्पन्न मानते

---

1. द्रष्टव्य, हृदय नारायण सिंह का अप्रकाशित शोध-प्रबंध, **महाभारत के शांतिपर्व में हिन्दू धर्म के प्रमुख-धार्मिक एवं दार्शनिक सम्प्रदाय**, पृ० 302
2. डा० विश्वंभर शरण पाठक, **भारतीय दर्शन के प्रसंग में रूप की व्याख्या** शीर्षक लेख, **डा० राजबली पाण्डेय स्मृति ग्रन्थ**, कलानिधि प्रकाशन देवरिया, पृ० 331

थे। अवेस्ता का 'चिथ्र' शब्द यही मूलार्थ रखता है, जिसका अभिप्राय है कि ऐसा समाज जो अपने को एक ही व्यक्ति या स्रोत से उत्पन्न मानता था, वह जरथुश्त्र के मत का अनुयायी नहीं था, लेकिन अन्य समाज में आदृत था। वास्तव में यह वर्ग देवपूजक वर्ग था। चित्र-शिखण्डी शब्द में प्रथम पद चित्र यही अर्थ ध्वनित करता है।[1]

चित्र की तरह ही **'शिखण्ड'** शब्द भी महत्वपूर्ण है। शिखण्ड का सामान्य अर्थ है वेश-भूषा या वेशाभरण जो कि यहाँ उपयुक्त नहीं प्रतीत होता है। एक ईरानी शब्द है **'स्कँद़ो'** जो **'अहवइति'** गाथा यस्न 30.10 में प्रयुक्त है। इस शब्द का भारतीय रूप शिखण्ड हो गया। मूलतः अवेस्ता में प्रयुक्त यह शब्द ऐसे देवपूजक वर्ग का अर्थ रखता है जिनका जरथुश्त्र मत के अनुयायी विनाश करना चाहते थे और उन्हें ईरान से निकाल देने में ही कल्याण समझते थे। **हरिमेधस्** को **अहुरमज्दा** का रूपान्तर माना जाता है। इस दृष्टि से हरिमेधस् और चित्रशिखण्ड के साक्ष्य यह इंगित करते हैं कि महाभारत में उन मतों का भी समावेश है जो ईरान से सिन्धु प्रदेश तक इतस्ततः बिखरे हुए थे और जरथुश्त्र सम्प्रदाय के ईरान पर आधिपत्य हो जाने के बाद ईरान से निष्कासित हुए। इसमें संदेह नहीं कि शांति पर्व के धार्मिक मतों का केन्द्रबिन्दु नारायणीय आख्यान है और इस आख्यान का साक्षात् संबंध सप्त चित्रशिखण्डियों से है जिनमें अंगिरस प्रमुख हैं।[2]

ऐसा प्रतीत होता है कि भृग्वांगिरस वंशीय ब्राह्मणों ने विभिन्न मत-मतान्तरों को अनेक आख्यान, उपाख्यान, और इतिहास के माध्यम से महाभारत प्रवर्तित हिन्दू धर्म की एक विशिष्ट धारा में निमज्जित कर दिया। परिणाम स्वरूप विभिन्न मत-मतान्तर नारायणीय धर्म में विलीन हो गये। महाभारत का नारायणीयोपाख्यान पाञ्चरात्र धर्म के प्रारम्भिक विकास का परिचय देता है जिसके स्रोत निश्चय ही शतपथ-ब्राह्मण के काल से लेकर ऋग्वेदीय पुरुष-सूक्त

---

1. डा० पाठक, **भारयीय दर्शन के प्रसंग में रूप की व्याख्या**, डा० राजबली पाण्डेय स्मृति-ग्रन्थ, कलानिधि प्रकाशन, देवरिया, पृ० 331 तथा विस्तार के लिए द्र० हृदय नारायणसिंह, **महाभारत के शांतिपर्व में हिन्दू धर्म के प्रमुख धार्मिक एवं दार्शनिक सम्प्रदाय**, अप्रकाशित शोध-प्रबन्ध, 1980, पृ० 302-308
2. द्रष्टव्य, हृदय नारायणसिंह, **महाभारत के शांतिपर्व में हिन्दू धर्म के प्रमुख धार्मिक एवं दार्शनिक सम्प्रदाय**। भृग्वांगिरस-परम्परा के लिए द्रष्टव्य डा० विश्वम्भर शरण पाठक, **ऐंसियेन्ट हिस्टोरियन्स ऑफ इण्डिया**, पृ० 13-14

तक लक्षित हैं । हमने प्रस्तुत ग्रंथ की भूमिका में आगम, वैष्णवागम विशेषतः पाञ्चरात्रगम विमर्श के अन्तर्गत पाञ्चरात्र एवं नारायण जैसे विशिष्ट पदों के मूलार्थ पर प्रकाश डालते हुए यह धारणा व्यक्त की है कि पाञ्चरात्र मूलतः 'समग्र की उपासना' का परिचायक है और 'नारायण' उस ब्रह्म का नाम है जो नर समूह अर्थात् समष्टि का आश्रय है ।

पाञ्चरात्र मत के मूलोद्गाता नारायण और इस धर्म की परम्परा तथा विपुल पाञ्चरात्रागम-संहिताओं की संख्या आदि का विवेचन करते हुए अब तक प्रकाशित प्रमुख संहिताओं पर विमर्श प्रस्तुत किया है । तदनुसार परम्परागत रूप अभिज्ञात एवं कालान्तर में लिपिबद्ध पाञ्चरात्र आगम की सर्वप्राचीन संहितायें पांचवीं, छठीं शताब्दी ई० की हैं और सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि इस काल खण्ड से लेकर 18वीं शताब्दी तक के सुदीर्घ काल तक पाञ्चरात्र संहिताओं की रचना होती रही ।

प्रस्तुत ग्रंथ में हमने पाञ्चरात्र —नाम एवं निर्वचन तथा प्रामाण्य पर समीक्षात्मक विचार प्रस्तुत किया है । यह परम्परा प्रारम्भ में उत्तर भारत में पुनः दक्षिण भारत में फैलती गयी । कश्मीर से लेकर तमिलनाडु तक इस परम्परा के अनेक लोक विश्रुत केन्द्र बनते गये और चूंकि यह परम्परा मन्दिरों से जुड़ी थी अतः पाञ्चरात्र विधि से उपासना करने के तीन प्रमुख केन्द्र दक्षिण भारत में प्रतिष्ठित हुए । ये केन्द्र हैं—यदुशैल (श्रीरंगम्), मेलकोटे (मैसूर) और कांजीवरम् । प्राचीनतम् संहिताओं में एक है जयाख्य, इसकी रचना 'प्रभास' में की गयी । इस तरह प्रभास प्राचीन केन्द्रों में से एक प्रतीत होता है ।

त्रिरत्न (सात्वत, पौष्कर एवं जयाख्य), त्रिरत्ननिष्ठ (ईश्वर, परमेश्वर एवं पाद्म) तथा अहिर्बुध्न्य, लक्ष्मी तंत्र आदि दो दर्जन से अधिक अब तक प्रकाशित अन्य संहिताओं का संक्षिप्त विवेचन पाञ्चरात्र आगम परम्परा के अभिज्ञान के लिए प्रासंगिक है । इस दृष्टि से हमने एक पृथकतः में पाञ्चरात्र आगम की प्रकाशित संहिताओं का संक्षिप्त समीक्षात्मक विवेचन प्रस्तुत किया है ।

प्रोफेसर खोंदा[1] की यह धारणा युक्ति संगत प्रतीत होती है कि पाञ्चरात्र साहित्य एक विशिष्ट देवता की भक्ति द्वारा मुक्ति का उपदेश देता है । और यह साहित्य इस वैष्णव धारा की परम्पराओं, सिद्धान्तों, पूजा-विधानों का सम्यक् परिचय देता है । यह साहित्य एक लम्बे अन्तराल तक लिपिबद्ध होता

1. जे० खोंदा एच० डेनियल स्मिथ की पुस्तक, बिब्०, भाग 2 का इन्ट्रोडक्शन पृ० xii-xvi—इस सन्दर्भ में द्रष्टव्य है जे० खोंदा, मैडिवल रेलिजस लिट्रेचर इन संस्कृत, विएसवडेन, 1977, पृ० 43 एवं आगे ।

रहा है। इसकी त्रिरत्न संहितायें 600 ई० के आस-पास अथवा कुछ शताब्दियों पूर्व रची गयीं। डा० खोंदा ने इनकी अवधि निश्चित की है 600 से 800 ई०। उनके विचार से बाद की संहितायें दसवीं शताब्दी से चौदहवीं शताब्दी के मध्य की है। इन संहिताओं के अन्त: साक्ष्य—यथा स्थानीय वर्णमालाओं, क्षेत्रीय स्थापत्य की विशिष्टताओं और कतिपय भौगोलिक संदर्भों के द्वारा ऐसा विश्वास किया जाता है कि इस धर्म की उत्पत्ति और प्रसार उत्तर भारत में हुआ जिसमें कश्मीर व उड़ीसा क्षेत्र भी जुड़े रहे और अन्ततः इस धर्म का प्रसार दक्षिण में हुआ। त्रिरत्न संहिताओं के बाद की अर्थात् उत्तरवर्ती संहिताओं में सर्वप्राचीन ईश्वर संहिता प्रतीत होती है जिसमें मैसूर स्थित मेलकोटे के माहात्म्य पर प्रकाश पड़ता है और यह संहिता 'तमिल वेद' के अध्ययन की अपेक्षा करती है।

वास्तव में दक्षिण में ही पाञ्चरात्र विधि से अधिकांश वैष्णव मन्दिरों में उपासना होती है। समग्र पाञ्चरात्र साहित्य (प्रकाशित एवं अप्रकाशित) को ध्यान में रखा जाय तो कहा जा सकता है कि प्राचीन संहिताओं में वैष्णव धर्म के महाकाव्यों की परम्परा प्रतिबिम्बित है और प्राचीनतम पुराणों में इस धार्मिक परम्परा की झलक मिलती है तो वैष्णव धर्म के अर्वाचीन स्तरों का बोध हमें उत्तरकालीन पाञ्चरात्र संहिताओं से होता है। इसमें सन्देह नहीं कि पिछले सहस्राधिक वर्षों का वैष्णव धर्म का इतिहास-ज्ञान सम्भव न हो पाता यदि हम पाञ्चरात्र मत के विपुल साहित्य को न जान पाते।[1]

षाड्गुण्य ब्रह्म स्वरूप नारायण वासुदेव के व्यूह एवं विभव स्वरूपों के अध्ययन के प्रसंग में व्यूह एवं विभव जैसे पदों के मूलार्थ-प्रकाश के साथ-साथ व्यूहवाद एवं विभववाद का हमने विवेचन किया है। यह उल्लेखनीय है कि वैष्णव पाञ्चरात्र धर्म के दो विशिष्ट सिद्धान्त—चतुर्व्यूहवाद का सिद्धान्त एवं अवतारवाद का सिद्धान्त इतने, महत्त्वपूर्ण हैं कि उनके कारण ही वैष्णव-पाञ्चरात्र धर्म अत्यन्त लोकप्रिय हुआ और इस तरह व्यापक हिन्दू धर्म का एक विशिष्ट लोक प्रेरक अंग बन गया। व्यूहवाद के सिद्धान्त से इस परम्परानुसार सृष्टि-क्रम अथवा सर्ग-सिद्धान्त का बोध होता है। तदनुसार व्यूह वासुदेव ब्रह्म-स्वरूप, संकर्षण जीव-स्वरूप और प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध क्रमश: मन एवं अहंकार स्वरूप माने गये हैं। चतुर्व्यूह सिद्धान्त के अनुसार ब्रह्म से जीव, जीव से मन तथा मन से अहंकार की उत्पत्ति होती है और अहंकार स्वरूप अनिरुद्ध ही सकल सृष्टि का निमित्त है।

जहाँ तक अवतारवाद का प्रश्न है इस सिद्धान्त के स्रोत तो वेदों तक

1. जे० खोंदा, **मेडिवल रेलिजस लिट्रेचर इन संस्कृत**, पृ० xiv

में खोजे जाते हैं और विश्वास किया जाता है कि वैदिक देवता प्रजापति के अनेक गुणों का अन्ततः विष्णु-नारायण में समाहार होता गया। श्रीमद्भगवद्-गीता में अवतार के प्रयोजन पर स्पष्ट विचार अभिव्यक्त है कि साधुजनों की रक्षा, दुष्ट जनों के विनाश और धर्म की संस्थापना के निमित्त युग-युगों में श्री भगवान अवतरित होते हैं। महाकाव्यों-पुराणों में विष्णु के अनेक अवतारों के वर्णन हैं जिनकी संख्या निश्चित करना सरल नहीं। सम्भवतः इसलिए 'अवताराः हि असंख्येयाः'—यह पौराणिक वचन प्रसिद्ध है। लेकिन ऐतिहासिक युगों में गुप्तकाल में ही दशावतार की प्रतिष्ठा हो गयी थी। उत्तर प्रदेश के ललितपुर जनपद में स्थित देवगढ़ का दशावतार मंदिर विख्यात है। पाञ्चरात्र साहित्य में अवतार मूर्तियों का अनेक संहिताओं में वर्णन हुआ है। लेकिन इस परम्परा में विभववाद के रूप में इस दृष्टि को अभिव्यक्ति मिली है। ऐसा प्रतीत होता है कि अवतारों के लिए विभव शब्द अधिक सटीक और उपयुक्त शब्द है।

39 विभवों की सूची देखने से दशावतारों में से अधिकांश का परिचय मिल जाता है। हालांकि वैष्णव पाञ्चरात्र साहित्य में ईश्वर के अवतारों प्रमुखतया दस अवतारों—मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, बलराम, कृष्ण (अथवा कभी-कभी बुद्ध) के वर्णन मिलते हैं। पाञ्चरात्र संहिताओं में इन अवतारों के ध्यान, मंत्र, स्वरूपादि तथा उनके आयुध, मुद्राओं आदि के साथ उनके प्रतिमा शास्त्रीय स्वरूप आदि के वर्णन मिलते हैं।[1] ध्यातव्य है कि 39 विभवों को प्रायः 39 अवतारों के रूप में व्यक्त किया गया। वैष्णव पाञ्चरात्र मत के इन दो विशिष्ट सिद्धान्तों—चतुर्व्यूहवाद एवं विभववाद के कारण निःसन्देह यह धर्म लोक में प्रतिष्ठित हुआ।

पाञ्चरात्र आगम परम्परा में विभिन्न प्रकार के नित्य, नैमित्तिक एवं काम्य उत्सवों एवं विभिन्न वैष्णव-व्रतों का विधान है। व्रतोत्सवों का मूल प्रयोजन दुःख के निवारण, पापों के उच्छेद और सर्वोपरि मंगल कामना के निमित्त रहा है। ये व्रत एवं उत्सव चतुष्पाद पाञ्चरात्र धर्म के क्रिया एवं चर्या पक्ष अर्थात् बाह्य पूजा विधान अथवा बाह्य आचरण से सम्बद्ध हैं। इनके केन्द्र में मन्दिर रहे हैं। दक्षिण भारत में आज भी वहां के विशिष्ट मन्दिरों में पाञ्चरात्रमतानुसार व्रतों का परिपालन और विभिन्न अवसरों पर शोभा-यात्राओं के कार्यक्रम सम्पन्न होते हैं।

वैष्णव पाञ्चरात्र परम्परा में व्रत एवं उत्सव, पूजा-विधान एवं कर्मानुष्ठान के अपरिहार्य अंग रहे हैं। उत्सव पाञ्चरात्र मंदिरों से सम्बद्ध वर्ष भर चलने

1. सन्दर्भों के लिए द्रष्टव्य, डेनियल स्मिथ, बिब्०, भाग दो, पृ० 6

वाले पर्व रहे हैं जिनमें सामान्यतया अंकुरार्पण, ध्वजारोहण, आवाहन एवं प्रतिसरबन्ध इत्यादि भी सम्मिलित रहे हैं। पाञ्चरात्र-परम्परा में विहित नित्य नैमित्तिक एवं काम्य उत्सवों के परिचायक हैं जबकि व्रत इस परम्परा में प्रायः अर्ध-धार्मिक अथवा कर्तव्यातिरिक्त स्वभाव को व्यक्त करते हैं और एक दिन से एक मास अथवा एक मास से एक संवत्सर तक अर्थात् एक निश्चित अवधि तक करणीय समझे जाते हैं। ज्ञातव्य है कि जिन व्रतोत्सवों का पाञ्चरात्र संहिताओं में वर्णन है उनका अधिकांशतया प्रचलन दक्षिण भारतीय श्रीवैष्णव मन्दिरों में दिखाई देता रहा है।

परिशिष्ट

रत्न-1 : सात्वत संहिता

सात्वत संहिता[1] पाञ्चरात्रागम की सर्वप्राचीन संहिताओं में से एक है। ईश्वर (1.64), पारमेश्वर (1.19) और जयाख्य संहिता (1.1-14) में इसे त्रिरत्नों में एक बताया गया है। और वे रत्नत्रय संहितायें हैं—सात्वत, पौष्कर एवं जयाख्य। सात्वत संहिता का एक देवनागरी संस्करण इस शताब्दी के आरम्भ (1907) में प्रकाशित हुआ था। पुनः बहुत बाद में आचार्य व्रज वल्लभ द्विवेदी द्वारा सम्पादित अलशिंग भट्ट-भाष्य समेत इसका बड़ा ही सुन्दर पुस्तकालय संस्करण दुर्लभ ग्रंथ-प्रकाशन-योजना के अन्तर्गत छठे पुष्प के रूप में सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय से 1982 में प्रकाशित हुआ है।

25 अध्यायों और 3560 श्लोकों में विभक्त यह संहिता निश्चय ही अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसका तीन चौथाई भाग मंत्र सम्बद्ध है। उदाहरण के लिए दूसरे से छठवें अध्यायों में चतुर्व्यूहों की 'एक मूर्ति' की उपासना विषयक मंत्रों का निर्देश है। 9वें से 13वें अध्याय तक विभव रूपों का वर्णन है। 16वें से 23वें तक दीक्षा विधान। इसके अतिरिक्त विशेष व्रत विधान भी वर्णित हैं इस संहिता को सत्य, सत्व एवं सत्योक्त भी कहा जाता रहा है। इसे बड़े आदर के साथ श्री सात्वत भी कहा गया है। कपिंजल (20.100), पाद्म (14.23, 71.108), पारमेश्वर (1.17), पुरुषोत्तम (65.106), भारद्वाज (22.103), मार्कण्डेय (52.91), विश्वामित्र (6, 10.18) और विष्णु तन्त्र (4.154) में यह संहिता परिगणित है। स्पन्द प्रदीपिका-कार उत्पल, श्रीभाष्य प्रणेता रामानुज और पाञ्चरात्र रक्षा के रचयिता वेदान्त देशिक ने सात्वत संहिता को बड़े आदरपूर्वक उद्धृत किया है। इसके अलावा कई पाञ्चरात्र संहितायें (यथा—अनिरुद्ध 24.76 तथा अहिर्बुध्न्य

---

1. **सात्वत संहिता**, अलशिङ्ग भट्ट विरचितभाष्योपेता, संपादक : व्रजवल्लभ द्विवेदी: वाराणस्याम् 1982 खब्रेस्ताब्दे।

5वें अध्याय के अन्त में) और पश्चात्वर्ती पाञ्चरात्र ग्रन्थ बड़े ही आदर-पूर्वक सात्वत संहिता का स्मरण करते हैं।

पारम्परिक रूप में ईश्वर संहिता इस संहिता से सम्बद्ध है। जैसा कि हम जानते हैं ईश्वर संहिता रामानुज की पवित्र भूमि मेलकोटे में पूज्य समझी जाती है। सात्वत संहिता का मेलकोटे में अन्यतम स्थान है ही।

स्पन्द प्रदीपिकाकार उत्पल ने सात्वता, पौष्करा एवं जयाख्या—इस रूप में रत्नत्रय की चर्चा की है। डा० श्रेडर के अनुसार सात्वता का अर्थ है 'सात्वतमत' के अनुयायी। किन्तु आचार्य ब्रजवल्लभ द्विवेदी के अनुसार यह सात्वत संहिता का वाचक है। आचार्य वेदान्त देशिक ने 'सचरित्ररक्षा' में सर्वसंहिता सारभूते श्रीसात्वते' तथा 'भगवच्छास्त्र सारभूते श्री सात्वते' कह कर प्रस्तुत संहिता के वैशिष्ट्य पर प्रकाश डाला है।[1]

सात्वत संहिता निःसन्देह सर्वप्राचीन संहिता है। पौष्कर एवं जयाख्य दोनों संहितायें सात्वत संहिता के विषयों का उपवृंहण करती है। उपलब्ध साहित्यिक एवं पुरातात्विक साक्ष्यों के साथ ही संहिताओं में उपलब्ध अन्तःसाक्ष्यों के आधार पर यह निश्चय किया जा सकता है कि सात्वत संहिता सर्वप्राचीन संहिता है। यह दिव्य कोटि की संहिता है और इसमें दर्शन के स्तर पर वैष्णव-पाञ्चरात्र मत के प्रारम्भिक स्वरूप का आभास होता है। इस संहिता में चतुर्विध अथवा पञ्चविध परब्रह्म के बजाय त्रिविध ब्रह्म का प्रतिपादन हुआ है। प्रस्तुत संहिता में परब्रह्म लक्षण और पर के चतुरूपत्व, व्यूह, व्यूहान्तर तथा 39 विभवों शक्तीश और उसकी शक्तियों, भवोपकरणो, शब्द ब्रह्म, सात्वतीय योग, याग, दीक्षा-अभिषेक, नियमाः इत्यादि का वर्णन है।[2]

रत्न-2 : श्रीपौष्कर संहिता

त्रिरत्नों में से एक पौष्कर[3] संहिता पाञ्चरात्रागम की एक विशिष्ट कृति है। इसकी अनेक पाण्डुलिपियां उपलब्ध हैं और देवनागरी में यह बंगलौर से एच० एच० श्री यतिराज सम्पत कुमार मुनि द्वारा सुसम्पादित एवं श्री ए० श्रीनिवास आयंगर एवं एम० सी० थिरमल चैरियर द्वारा 1934 ई० में प्रकाशित है। श्री पौष्कर एवं श्री भगवान के सम्वाद के रूप में 43 अध्यायों में विभक्त 5, 900 श्लोकों में वर्णित यह एक विशाल ग्रन्थ है। प्रथम पच्चीस अध्यायों में श्रीभगवान

1. द्रष्टव्य-उपोद्घात, पृ० 5 (**सात्वत संहिता**, वाराणसी संस्करण)
2. विस्तार के लिए द्रष्टव्य—व्रजवल्लभ द्विवेदी, उपोद्घात, **तत्रैव**
3 श्रीपाञ्चरात्रागमे रत्नत्रयान्तर्गता **श्रीपौष्कर संहिता**, संपादक श्री यतिराज सम्पत् कुमार रामानुज मुनि (मेलकोटे), बंगलौर, 1934

ने पौष्कर को मण्डपादि लक्षण का विस्तारपूर्वक उपदेश दिया है। इसके उपरान्त जो मुख्य विषय इस संहिता में मिलते हैं वे सामान्य व असामान्य पूजा-विधान विषयक हैं।

श्रीरंगम् एवं कांजीवरम् के मन्दिरों में अर्चक पौष्कर संहिता को बड़े आदर की दृष्टि से देखते हैं। पारमेश्वर संहिता इससे सम्बद्ध है। यह संहिता प्राचीनतम् संहिताओं में से एक है और अधिकांश सूचियों में इसे परिगणित किया गया है। कपिंजल (8.21.100), पाद्म (11, 108), पारमेश्वर (2.17), पुरुषोत्तम (10.106), भारद्वाज (10.103), विश्वामित्र (11.108), विष्णुतंत्र (3.154), हयशीर्ष आदिकाण्ड (4.25) में इसकी गणना हुई है और मार्कण्डेय (11·47-91) में इसे 'पुष्कल' कहा गया है। अग्नि पुराण एवं माहेश्वर तन्त्र में इसकी प्रशंसा मिलती है। इसके अतिरिक्त अनिरुद्ध संहित (24.76), ईश्वरसंहिता (1.64-67) और सात्वत संहिता (9.133) में इसकी प्रशस्ति मिलती है। पाञ्चरात्र के प्रामाण्य के निमित्त श्रीरामानुजाचार्य ने अपने श्रीभाष्य में और वेदान्त देशिक ने अनेकत्र इस संहिता से उद्धरण प्रस्तुत किया है।[1]

पौष्कर संहिता का जो संस्करण उपलब्ध है वह अत्यन्त महत्वपूर्ण नहीं कहा जा सकता, अस्तु इस संहिता पर अभी शोधकार्य होना शेष है। इस सन्दर्भ में डा० एच० डैनियल स्मिथ का केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, तिरुपति से प्रकाशित विमर्श, भाग एक के अन्तर्गत "दि थ्री जेम्स ऑफ दि पाञ्चरात्रगम कैनन—ऐन ऐप्रेजल" शीर्षक लेख पठनीय है।[2]

रत्न-3 : जयाख्य-संहिता

पाञ्चरात्र की त्रिरत्न कही जाने वाली संहिताओं में से एक जयाख्य संहिता[3] गायकवाड़ ओरियन्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा से एंबार कृष्णमाचार्य (श्रीरंगम्) द्वारा सम्पादित होकर सर्वप्रथम 1931 में प्रकाशित हुई थी। पुनः एक लम्बे अन्तराल के बाद 1967 ई० में इसका द्वितीय संस्करण निकला। यह प्राचीनतम् पाञ्चरात्र संहिताओं में से एक है। इस संहिता के प्रारम्भ में ऋषियों के बीच और्व, सम्वर्तक एवं शाण्डिल्य के सम्वाद मिलते हैं जो वास्तव में पुराणों की प्रकृति को लक्षित करते हैं, लेकिन बाद में संहिता का अधिकांश भाग विष्णु-

1. स्मिथ, **तत्रैव**, भाग-1, पृ० 277
2. द्रष्टव्य, प्रस्तुत ग्रन्थ का अध्याय 1
3. **जयाख्य संहिता**, सम्पादक, एबर कृष्णामाचार्य, बड़ौदा, (गायकवाड़ औरियन्टल सीरीज-54), द्वितीय संस्करण, 1967

भगवान एवं नारद के सम्वाद रूप में प्रतिफलित हैं। जयाख्य संहिता का उल्लेख आचार्य उत्पल (दशम् शताब्दी) ने तथा अन्य आचार्यों ने किया है। जैसा कि हमने आरम्भ में संकेत किया कि नारद ने श्रीभगवान से पाञ्चरात्र मार्ग का ज्ञान प्राप्त किया। नारद से शाण्डिल्य ने और पुन: शाण्डिल्य से और्व-सम्वर्त आदि ने इसका प्रसार किया। जयाख्य का मूल क्षेत्र प्रभास तीर्थ है। त्रिरत्नों में जयाख्य संहिता को श्रेष्ठ तन्त्र कहा गया है।[1]

जयाख्य संहिता का अनुसरण करने वाली संहिता पाद्म संहिता है। इसके अतिरिक्त जयाख्य संहिता का उल्लेख अहिर्बुध्न्य (19.64), ईश्वर (1.64) और पारमेश्वर (1.19) में हुआ है। यहां इस संहिता का नाम जय, जयाख्य अथवा जयोत्तर मिलता है। कपिञ्जल (19.46,100), पाद्म (38.68-108) पारमेश्वर (3.10.17), भारद्वाज (21.47,103), विश्वामित्र (9.108) और बिष्णुतंत्र (89.93.154) में यह संहिता परिगणित है।

जयाख्य संहिता में लमभग 4500 श्लोक मिलते हैं जो 33 पटलों में विभक्त हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि जयाख्य संहिता का बड़ौदा से प्रकाशित देवनागरी संस्करण सर्वश्रेष्ठ प्रकाशन है जिसमें विद्वान सम्पादक ने डा० बी० भट्टाचार्य की अंग्रेजी एवं संस्कृत में अपनी विस्तृत भूमिका के अतिरिक्त अपेक्षित अनुक्रमणिकाएँ भी प्रस्तुत की है। इस संहिता पर एक शोध कार्य गोरखपुर विश्वविद्यालय से सम्पन्न हुआ है। जो (जयाख्य संहिता : एक अध्ययन, श्रीमती ज्ञानप्रभा सिंह, 1980) अद्यावधि अप्रकाशित है। यह संहिता वस्तुत: अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इसमें अनेकविध वैदिक, पौराणिक एवं आगमिक तत्व भरे पड़े हैं। इन विविध प्रवृत्तियों का सम्यक् परीक्षण के साथ ही इसके द्वारा पाञ्चरात्र परम्परा का विश्लेषण अद्यावधि होना शेष है।

जयाख्य संहिता में उपलब्ध कतिपय विशिष्टतायें उल्लेखनीय महत्व की है। उदाहरण के लिए 24वें पटल में प्रेत संस्कार का वर्णन है, साथ ही इसके अंतिम पटल (33) जिसका शीर्षक है 'सोमाख्यान', वहां भी नारद ने भगवान से देहपात की स्थिति पर विमर्श किया है। यह बात पारमेश्वर संहिता (11.26-27) में भी मिलती है। दूसरी महत्वपूर्ण विशिष्टता इसके प्रायोगिक सन्दर्भों की है जो साधारणतया सर्वत्र दिखाई देते हैं, किन्तु 26वें (मूलमंत्रसाधन) और 28वें (शक्ति मन्त्र साधन) पटलों में विशेषत: ध्यान देने योग्य हैं।

---

1. रत्नेषु त्रिष्वपि श्रेष्ठं जयाख्यं तन्त्रमुच्यते।

जयाख्य संहिता, पटल 1-108

हमने जयाख्य के 'परिकर साधन' शीर्षक 30वें पटल में कौस्तुभ, कमल, शंख, चक्र एवं गदा आदि मंत्रों के अतिरिक्त गरुड़ (72-85) पर भी प्रकाश डाला है, जिसकी तुलना काश्यप संहिता के गरुड़ मन्त्र से की जा सकती है। इन बातों के अतिरिक्त इस संहिता में मांसाहार विधान पर प्रकाश पड़ता है, जिसके अनुसार भक्त को सुझाव दिया गया है कि वह कुछ विशिष्ट काल में मांसाहार न करे[1]—यह इस बात का परिचायक है कि सामान्यत: मांसाहार वर्जित न था। रोचक बात तो यह है कि घी, पुष्प आदि जिनका यज्ञकर्म में सामान्य रूप से प्रयोग किया जाता है, उनके विकल्प रूप में यज्ञीय पशुओं की चर्चा है।[2]

उपर्युक्त सन्दर्भों के अतिरिक्त, डा० स्मिथ ने जयाख्य में उल्लिखित (25.144) बारह आचार्यों की ओर संकेत किया है और कहा कहा है कि यह आचार्य परम्परा पाञ्चरात्र में उत्तरकालीन है। अत: सम्भव है कि रामानुजाचार्य के किसी शिष्य ने इसे जोड़ दिया हो।[3]

प्रस्तुत संहिता निश्चय ही आचार्य उत्पल अर्थात् 10वीं शताब्दी के पूर्व की रचना है। इस संहिता के उपलब्ध विशिष्ट संस्करण में बी० भट्टाचार्य ने 'प्रवेशक' में इसके रचना-काल पर सैद्धान्तिक एवं लिपि शास्त्रीय दृष्टि से विस्तारपूर्वक विचार किया है और तदनुसार वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि जयाख्य संहिता की तिथि का निर्धारण निश्चित रूप से कर पाना कठिन है, क्योंकि एक तरफ यहाँ पौराणिक शैली में संवाद मिलते हैं दूसरी तरफ इस संहिता में अधिकांश तान्त्रिक अभिचारों (आभिचारिक क्रियाओं) का यत्र-तत्र वर्णन है। डा० भट्टाचार्य ने लिपि शास्त्रीय अथवा अक्षर सिद्धान्त की दृष्टि से भी जयाख्य के काल पर विमर्श करते हुए इस संहिता के 6ठें पटल में प्राप्त विभिन्न अक्षरों का नामकरण एवं उनके विकास-क्रम का स्मरण दिलाया है।[4] इस दृष्टि से वी० भट्टाचार्य ने जयाख्य संहिता का रचना काल 450

---

1. मधुमांसमसत्यं च मैथुनं मृगयान्वितम् ।
तैलाभ्यङ्ग च मत्स्यं च बहुशो बहुभोजनम् ।।
जयाख्य संहिता, 21.116

2. बाह्योपचारै: तद्विद्धि भोगसंज्ञं तु नारद ।
मध्वाज्योक्तेन दध्ना वै पूजा व पशुनाऽपि वा ।।
जयाख्य संहिता, 22.77

3. स्मिथ, **तत्रैव**, भाग-1, पृ० 130
4. वी० भट्टाचार्य, **जयाख्य संहिता**, बड़ौदा संस्करण का फोरवर्ड, पृ० 26-35

ई० के लगभग निर्धारित किया है। लगभग यही समय सैद्धान्तिक दृष्टि से भी निश्चित किया जा सकता है। यह काल (गुप्त काल) भारत के इतिहास का स्वर्णिम युग कहलाता है। गुप्त सम्राट स्वयं अपने को महाभागवत कहते थे। गुप्त काल में न केवल जयाख्य संहिता, अपितु अन्य दोनों रत्नों— पौष्कर संहिता तथा सात्वत संहिता की भी रचना हुई।[1]

अन्य संहितायें

4. अगस्त्य संहिता

लगभग पचास वर्ष पूर्व प्रो० वी० राघवन् ने 'अगस्त्य (वाल्यूम-1) मद्रास से प्रकाशित किया था। पुनः उन्होंने सन् 1966 ई० में द्वितीय भाग के रूप में 'अगस्त्य' का प्रकाशन किया। महर्षि अगस्त्य के नाम से अनेक-विध रचनायें प्राप्त होती हैं जो अगस्त्य नामक ऋषि की प्राचीनता को सूचित करती हैं। कपिंजल, पाद्म, पुरुषोत्तम, भारद्वाज, विश्वामित्र एवं विष्णु तिलक जैसी संहिताओं में अगस्त्य संहिता परिगणित है। डैनियल स्मिथ ने पाञ्चरात्र आगम के विस्तृत विवरण (भाग-1) में अगस्त्य संहिता प्रथम एवं अगस्त्य संहिता द्वितीय प्रस्तुत किया है और द्वितीय को प्रामाणिक माना है। इसके पूर्व कि हम इस प्रामाणिक संहिता का विवरण प्रस्तुत करें, प्रथम पर विचार कर लेना भी अपेक्षित है। अब तक इसके केवल 9 अध्याय उपलब्ध हैं। उपलब्ध अध्याय 1-11 के बीच सातवां, आठवां अध्याय अनुपलब्ध है और शेष अध्याय हैं—1. प्रासाद लक्षण, 2. प्रतिमा लक्षण, 3. शयनासन लक्षण, 4. प्रतिमा लक्षण, 5. प्रतिष्ठा विधि (प्रथम पटल), एवं (द्वितीय पटल) अर्चना, 6. (यह शीर्षकविहीन है और इसमें उत्सव समारोह की विधियाँ वर्णित हैं), 9. पवित्रारोपण प्रातश्चित्त, 10. तंत्र-संकर-भेद एवं 11. नैमित्तिक प्रायश्चित्त विधि।

इसमें सन्देह नहीं कि यह एक विलक्षण पाञ्चरात्र कृति है। इसमें अगस्त्य ब्रह्म-संवाद मिलता है और यह संहिता अपेक्षाकृत प्राचीनतम प्रतीत होती है। यद्यपि इसमें बहुत सारे अंश बहुत बाद के हैं। डैनियल स्मिथ ने अगस्त्य संहिता नाम के दोनों ग्रन्थों में कतिपय तांत्रिक विवरणों को देखकर इसे अपाञ्चरात्रिक कहा है।[2]

अगस्त्य-सुतीक्ष्ण-सम्वाद रूप में जो दूसरी अगस्त्य संहिता मिलती है

---

1. ज्ञानप्रभा सिंह, **जयाख्य संहिता** : एक अध्ययन (अप्रकाशित शोध-प्रबन्ध) पृ० 77
2. विस्तार के लिए द्रष्टव्य, डैनियल स्मिथ, **तत्रैव**, भाग-1, पृ० 25-30

उसके चार संस्करण, लखनऊ (1898), कलकत्ता (1910) (बंगाली में), अयोध्या (देवनागरी में) एवं मैसूर (1957 कन्नड़ में) से प्रकाशित हैं। इसमें कुल 34 अध्याय हैं यद्यपि किसी-किसी संस्करण में 32 मिलते हैं। स्मिथ के विचार से ऐसा लगता है कि यह बहुत बाद की कृति है। इसके अनेक अध्यायों को 16वीं शताब्दी के बंगाल निवासी गोविन्दानन्द एवं रघुनन्द तथा 13वीं शताब्दी के अन्त में हेमाद्रि ने उद्धृत किया है। अत: निश्चित ही इसकी तिथि 13वीं शताब्दी के पूर्व की होनी चाहिए।[1] जबकि डा० जे० एन० फर्क्यूहर ने इस कृति को 550-900 ई० के मध्य माना है।[2] किन्तु स्मिथ ने इस पर टिप्पणी करते हुए कहा है कि इस संहिता को इतना पुराना नहीं होना चाहिए तथापि कहा जा सकता है कि यह संहिता फर्क्यूहर द्वारा निर्धारित सीमा-रेखा के अन्त में ही सही, नवीं, दसवीं शताब्दी की अवश्य होगी।

5. अनिरुद्ध संहिता

अनिरुद्ध संहिता[3] का एक मात्र प्रकाशित संस्करण देवनागरी में उपलब्ध है जिसके सम्पादक एवं प्रकाशक हैं श्री ए० श्रीनिवास आयंगर (मैसूर, 1956)। डैनियल स्मिथ का यह विचार समीचीन प्रतीत होता है कि यह संस्करण शुद्ध नहीं है क्योंकि इसमें अनेक भाषागत त्रुटियां हैं। इस संहिता की अनेक पाण्डुलिपियाँ सुरक्षित हैं अस्तु इसका एक विशुद्ध संस्करण अद्यापि प्रतीक्षित है।[4]

इस संहिता में कुल, छोटे व मध्यम श्रेणी के, 34 अध्याय हैं। इसके मूल उद्गाता श्री भगवान 'अनिरुद्ध' बताये गये हैं जिनसे भृगु ने इसका ज्ञान प्राप्त करके ऋषियों को अवगत कराया। केवल विष्णु तन्त्र की, संहिताओं की, सूची में इस संहिता व नामोल्लेख है। यहां 154 संहिताओं की सूची में इसकी संख्या 14 है। इस संहिता के श्लोक वास्तव में द्वितीय श्रेणी के पाञ्चरात्र ग्रंथों यथा—पाञ्चरात्र संहिता, पाञ्चरात्रागम, प्रायश्चित्त-संग्रह, भक्त-प्रतिष्ठा, उत्सव-संग्रह आदि की पाण्डुलिपियों में उद्धृत हैं।[5]

जहाँ तक इसकी तिथि का प्रश्न है यह श्री रामानुजाचार्य के बाद की प्रतीत होती है। यद्यपि नवम् शताब्दी के अन्त में आविर्भूत नम्मालवार षठ-

---

1. द्रष्टव्य, **तत्रैव**, पृ० 4, पादटिप्पणी।
2. द्रष्टव्य, **तत्रैव** उद्धृत।
3. संपादक व प्रकाशक : श्रीनिवास आयंगर, मैसूर, 1956
4. स्मिथ, **विब्**० भाग-1, पृ० 41 एवं पृ० 42, पाद टिप्पणी-1
5. **तत्रैव**, पृ० 31, पाद टिप्पणी

कोप का यहां (34.16) उल्लेख है और इस संहिता में सात्वत एवं पौष्कर संहिताओं के भी उल्लेख हुए हैं।[1]

अनिरुद्ध संहिता (10.5) में 'चेर', 'केरल' एवं 'पाण्ड्य' के उल्लेख हुए हैं। इस आधार पर स्मिथ का कहना है कि यह श्री रामानुजाचार्य के बाद की रचना है। इसका एक कारण यह भी है कि कपिंजल, ज्ञानामृतसार, पाद्म, पारमेश्वर, पुरुषोत्तम, भारद्वाज, मार्कण्डेय, विश्वामित्र और हयशीर्ष संहिताओं में पाञ्चरात्रागम की जो सूचियाँ मिलती हैं उनमें इस संहिता का न होना भी विचारणीय है।

चौंतीस अध्यायों के 1800 के श्लोकों में उपनिबद्ध इस संहिता में अधिकांशतया मन्दिर, प्रतिमा और उत्सव आदि के विवरण मिलते हैं। प्रारम्भ में ही शास्त्रावतरण के अन्तर्गत भृगु द्वारा श्वेत द्वीप का वर्णन है जहाँ श्री भगवान अनिरुद्ध ने भृगु को भुक्ति-मुक्ति प्रदायक पाञ्चरात्र मार्ग का निर्देश किया था।[2] इसके आगे पाञ्चरात्र की महिमा वर्णित है।[3] दशम अध्याय में राजलक्षण

---

1. पौष्करोक्तप्रकारेण यन्त्रं विष्णुमथापि वा।
   वासुदेवाख्ययन्त्रं वा सात्वतोक्तमथापि वा। **अनिरुद्ध संहिता**, 24.76
2. पञ्चरात्रोक्तमार्गेण भुक्तिर्मुक्तिश्च जायते।
   पञ्चरात्रादृते विप्र मुक्तिमार्गो न विद्यते। **अनिरुद्ध संहिता**, 1.32
3. पञ्चरात्रं मया प्रोक्तं लोकानां हितकाम्यया॥
   ब्रह्मेन्द्ररुद्रदेवांश्च श्रावयामास भूतले।
   सांख्ययोगादिशास्त्राणि रात्रीयन्ते महान्त्यपि॥
   तत्सन्निधो समाख्यासौ तेन लोके प्रवर्तते।
   चन्द्रतारागणं यद्वच्छोभते नैव वासरे॥
   तथेतराणि शोभन्ते पञ्च नैवास्य संनिधौ।
   पञ्चत्वमथवा यद्वद्दीप्यमाने दिवाकरे॥
   ऋच्छन्ति रात्रयस्तद्वदितराणि तदन्तिके।
   तस्मात्पञ्चरात्राख्यं ब्रह्मा लोकपितामहः॥
   प्रणवं पञ्चसंभूतं पञ्चरात्रमिति स्मृतम्।
   पञ्चत्वाज्जायते जन्तोः पञ्चरात्रमितिस्मृतम्॥
   पञ्चरात्र प्रकारेण येऽर्चयिष्यन्ति मानवाः।
   नारायणं जगन्नाथं ते यान्ति परमांगतिम्॥
   पञ्चरात्रमिदं शास्त्रं भुक्तिमुक्तिप्रदायकम्।
   मच्छासनमिदंशास्त्रं मिदं गृह्णीव सादरम्॥

इसी में राज भवन (प्रासाद) में होने वाले दैनिक कृत्यों के वर्णन हुए हैं। 12वें अध्याय में बेर-लक्षण के अन्तर्गत वासुदेव, केशव आदि की प्रतिमाओं के स्वरूप का निर्देश है। इन संहिता के 21वें अध्याय में महोत्सव विधि का विस्तारपूर्वक वर्णन हुआ है, बल्कि इसके बाद अनेक अध्याय विभिन्न प्रकार के उत्सवों का वर्णन करते हैं।

6. अहिर्बुध्न्य संहिता

पाश्चात्य विद्वानों की दृष्टि में अहिर्बुध्न्य संहिता[1] पाञ्चरात्र आगम की विशिष्ट संहिताओं में से एक है। जर्मन विद्वान डा० एफ० ओ० श्रेडर ने इस संहिता की विस्तृत भूमिका इस शताब्दी के दूसरे दशक (1916) में आड्यार मद्रास से अंग्रेजी में प्रकाशित किया। डा० श्रेडर की धारणा रही है कि समस्त पाञ्चरात्रागम का आकलन, अहिर्बुध्न्य संहिता के विवेचन को आधार बनाकर करना चाहिए। डा० डैनियल स्मिथ श्रेडर से सहमत नहीं हैं। उनके विचार से यह संहिता पाञ्चरात्र आगम के समग्र का प्रतिनिधित्व नहीं करती और इसकी तिथि भी वर्तमान शोध कार्यों के आधार पर अद्यापि निश्चित नहीं की जा सकी है। इस संहिता के 5वें एवं 19वें अध्यायों के अन्त में क्रमशः सात्वत एवं जयाख्य के उल्लेख हुए हैं। आश्चर्य इस बात का है कि उत्पल, यामुन एवं रामानुज जैसे दर्शनाचार्यों ने इस संहिता का उल्लेख नहीं किया है। पहली बार 13वीं शताब्दी के आचार्य वेदान्तदेशिक ने अवश्य ही इसका उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त पाद्म संहिता एवं विश्वामित्र संहिताओं में 108 संहिताओं की जो सूचियां मिलती हैं, वहां क्रमशः इस संहिता का उल्लेख 31वें एवं 25वें स्थान पर है।

अहिर्बुध्न्य संहिता 60 अध्यायों में विभक्त एक विशाल ग्रंथ है। यह दो भागों में विभक्त है। पूर्वार्द्ध में प्रथम अध्याय से 30वें अध्याय तक और उत्तरार्द्ध में 31वें से 60वें अध्याय तक सम्मिलित है।

महर्षि दुर्वाशा एवं भारद्वाज के संवाद-रूप में अभिव्यक्त इस संहिता में भारद्वाज ने नारद एवं अहिर्बुध्न्य (शिव) के संवाद की चर्चा की है। नारद

मत्प्रसादाद्विशेषेण शास्त्रपारंगतो भव।
इत्युक्त्वा देवदेवेशस्तत्रैवान्तरधीयत ॥
अहं शास्त्रं समादाय गमिष्यामि ममाश्रमम्।
एतच्छास्त्रमुपाश्रित्य मुक्तिमार्गः प्रसिध्यति ॥ **तत्रैव**, 1.34-43

1. **अहिर्बुध्न्य संहिता,** (दो भागों में) सम्पादक पं० वी० कृष्णमाचार्य, आड्यार, नवीनतम संस्करण, 1986

अहिर्बुध्न्य से प्रश्न करते हैं और अहिर्बुध्न्य उनका समाधान करते हैं। इस संहिता में विष्णु के सुदर्शन चक्र की महिमा वर्णित है। संहिता के प्रारम्भ में ही शास्त्रावतार (अध्याय-1) और षाड्गुण्य ब्रह्म विवेक (अध्याय-2) वर्णित है। इसके दूसरे अध्याय में ही ब्रह्म के स्वरूप और उनके षड्गुणों और भगवान विष्णु के सुदर्शन चक्र की महिमा का विशेष वर्णन है। इस संहिता में सर्ग-सिद्धान्त कई अध्यायों में वर्णित है। यथा-प्रतिसंचर वर्णन (अध्याय-4), शुद्ध-सृष्टि वर्णन (अध्याय-5), शुद्धेतर सृष्टिवर्णन (अध्याय-6 एव 7)।

7. (अ) ईश्वर संहिता

ईश्वर संहिता[1] के तीन संस्करण प्राप्त हैं। एक तेलगू और दो देवनागरी में। अगस्त्य एवं भारद्वाज संहिताओं के समान ईश्वर संहिता नाम की भी दो भिन्न-कृतियाँ उपलब्ध हैं। दूसरी कृति को 'नृसिंह कल्प' भी कहते हैं, जिसकी पाण्डुलिपि बड़ौदा में सुरक्षित है। प्रस्तुत ईश्वर संहिता 25 मध्यम श्रेणी के अध्यायों में विभक्त है और इसमें 8200 श्लोक हैं। यह संहिता सामान्यतया नित्य, नैमित्तिक एवं काम्य—इन त्रिविध विषयों में विभक्त है। अध्याय 1-9 में नित्य कर्म अर्थात मन्दिर में सम्पन्न होने वाले दैनिक कृत्य वर्णित हैं। दूसरा खण्ड नैमित्तिक है जो अध्याय 10-15 में वर्णित है और अंतिम खंड में मुख्यतः 17वां एवं 18वां आते हैं। इसके बाद 19वें से 22वें तक क्रमशः प्रायश्चित्त विधि यादवाचल-माहात्म्य एवं दीक्षाविधि तथा नियम विधान का क्रमशः वर्णन है। इसके बाद के तीन अध्याय (मन्त्रोद्धार विधि, मुद्रालक्षण, भगवदध्यानादि-प्रकार और कुण्डस्रुक्स्रुवलक्षण हविः पाकविधान) इस प्रकार से इसके अन्तिम खंड हैं।

परम्परानुसार ईश्वर संहिता सात्वत संहिता का अनुसरण करती है। यद्यपि ईश्वर संहिता (अध्याय-21) में वर्णित दीक्षाविधि सात्वत संहिता के वर्णन (परिच्छेद 16 से 20) से भिन्न है। ईश्वर संहिता (1.64 एवं 66) में सात्वत संहिता को पौष्कर एवं जयाख्य के साथ त्रिरत्न में एक कहा गया है। और इन तीन संहिताओं क्रमशः मेलकोटे, श्रीरंगम् एवं कांजीवरम् से सम्बद्ध किया गया है। ईश्वर संहिता (1.67) के अनुसार इन संहिताओं की रचना दक्षिण में हुई, यह इस बात से भी प्रामाणित है कि ईश्वर संहिता (11.236, 252 एवं 13.220) में तमिल शब्दों एवं गीतों के उल्लेख हुए हैं।

---

1. मैसूर, षड्विद्या प्रेस, 1890, कुल पृ० 547, लिपि तेलगु; कांजीवरम्, सुदर्शन प्रेस, 1923, कुल पृ० 667, लिपि देवनागरी (हमने इसी संस्करण को आधार बनाया है), तिरुपति, केन्द्रीय विद्यापीट, 19(0, देवनागरी।

ईश्वर संहिता को जिन संहिताओं की सूचियों में परिगणित किया गया हैं वे इस प्रकार हैं—पाद्म (35.108), पारमेश्वर (4.17), भारद्वाज (5.103), मार्कण्डेय (32.91), विष्णुतन्त्र (94.154), हयशीर्ष (10.25)। अग्नि पुराण (10.35) और माहेश्वर तन्त्र (11.25) में भी ईश्वर संहिता की गणना पाञ्चरात्र आगम-सूची में हुई है।[1] यामुनाचार्य (9वीं, 10वीं शताब्दी) ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'आगम प्रामाण्य' में ईश्वर संहिता से कम से कम दो उद्धरण दिया है।[2]

इसके अतिरिक्त वेदान्तदेशिक (13वीं शताब्दी) ने अपने विख्यात ग्रंथ पाञ्चरात्र रक्षा, में ईश्वर संहिता से अनेक उद्धरण प्रस्तुत किया है। इसमें सन्देह नहीं कि ईश्वर संहिता सर्व प्राचीन संहिता सात्वत संहिता से सम्बद्ध है और यामुनाचार्य ने आगम प्रामाण्य में इससे उद्धरण दिया है। अतः यह प्राचीन संहिताओं में से एक है। श्रेडर के विचार से यह 800 ई० के पूर्व की रचना है।[3] जब कि डैनियल स्मिथ इसे 10वीं शताब्दी के आस-पास की रचना मानते हैं।[4]

7. (ब) ईश्वर (नृसिंह कल्प) संहिता

ईश्वर संहिता नाम से (पूर्व-विवेचित संहिता से भिन्न) एक अन्य संहिता की पाण्डुलिपि बड़ौदा (संख्या 7967) के ओरियन्टल इन्स्टीट्यूट में, 88 पत्रों में अच्छी हालत में सुरक्षित है। इस संहिता को बार-बार 'नृसिंह कल्प' कहा गया है। इसकी पाण्डुलिपि में 'ईश्वरसंहितायाम्', पाञ्चरात्र, 'नृसिंहकल्प' तथा 'श्रीसुदर्शन नृसिंह कल्प' के उल्लेख मिलते हैं। ये सभी इस संहिता के अभियान हैं।

प्रस्तुत संहिता 14 अध्यायों में विभक्त हैं। इसमें कुल 640 श्लोक हैं और यह संहिता ईश्वर एवं पार्वती के सम्वाद रूप में है। ऐसा प्रतीत होता है कि काश्यप संहिता की भांति ही यह संहिता भी पाञ्चरात्र परम्परा की प्रमुख धारा से सम्बद्ध नहीं है। इस संहिता में जो 14 अध्याय मिलते हैं वे प्रायः शीर्षक-विहीन है। केवल तृतीय अध्याय को दीक्षा विधान की संज्ञा दी गयी है और अन्य अध्यायों की श्लोक संख्या इस प्रकार है—अध्याय-1—(27), 2-(39½), 3-(62), 4-(81), 5-(15), 6-(10), 7-(57), 8-(43), 9-(10-1/2), 10-(117-1/2), 11-(16), 12-(5½) 13-(54), 14-(65)।

---

1. स्मिथ, **तत्रैव**, भाग-1 पृ० 67
2. **आगम प्रामाण्य**
3. श्रेडर, **इन्ट्रोडक्शन टू दि पाञ्चरात्र एण्ड दि अहिर्बुध्न्य सँहिता**, पृ० 20
4. डैनियल स्मिथ, **तत्रैव**, पृ० 85

8. काश्यप संहिता

काश्यप संहिता[1] देवनागरी लिपि में मेलकोटे से 1933 ई० में प्रकाशित हुई थी। इसमें कुल 13 अध्याय हैं और यह पश्चात्वर्ती कृति प्रतीत होती है। ऋषि अगस्त्य की तरह ऋषि कश्यप का नाम भी अत्यन्त प्राचीन काल से प्रसिद्ध रहा है। पाञ्चरात्र आगम, आयुर्वेद, ज्योतिष और तंत्र-इन सभी क्षेत्रों में कश्यप का योगदान ज्ञात होता है। इस तरह काश्यप की एक परम्परा दिखाई देती है। प्रस्तुत संहिता में सर्पदंश, उसके विष तथा सर्पदंश के निदान आदि का वर्णन है। यहाँ निदान गरुड़ मंत्र द्वारा बताया गया है। इस प्रकार के वर्ण्य-विषय को देखते हुए यह संहिता आयुर्वेदिक होने के साथ-साथ तांत्रिक भी प्रतीत होती है। इसे पाञ्चरात्र वाङ्मय कहना कठिन प्रतीत होता है, परन्तु चूँकि यह संहिता कपिजल (11.100), पाद्म (85.108), पुरुषोत्तम (7.106), भारद्वाज (11.103) और मार्कण्डेय (7.91) में परिगणित है। अतः इसे पाञ्चरात्र संहिता के रूप में स्वीकार किया जाता है।

9. ज्ञानामृतसार संहिता (नारद पाञ्चरात्र)

यह प्रथम संहिता है जिसका अंग्रेजी अनुवाद सबसे पहले हुआ। अतः विद्वानों में इसे प्रसिद्धि मिली। स्वामी विज्ञानानन्द ने इसका अनुवाद किया था जो इलाहाबाद सेक्रेट बुक्स आफ दि हिन्दूज, ग्रंथ माला के भाग-23 के अन्तर्गत 1921 में प्रकाशित हुआ था।[2] इसके पूर्व बिबिल्योथिका इण्डिका सीरीज, भाग-38के अन्तर्गत 1865 ई० में श्रीनारद पाञ्चरात्र ज्ञानामृत सार संहिता शीर्षक से इस संहिता का पहली बार प्रकाशन हुआ था। इस संहिता में कुल 61 अध्याय हैं जो पांच खण्डों में विभक्त हैं। प्रत्येक खण्ड को 'रात्र' संज्ञा दीं गयी है। प्रथम रात्र में 15, द्वितीय रात्र में 8, तृतीय में 15, चतुर्थ रात्र में 12 और पंचम रात्र में 11-इस प्रकार कुल 61 अध्यायों में विभक्त इस संहिता में 3100 श्लोक मिलते हैं।

इस संहिता के अनुसार, नारद ही सर्व प्रमुख उद्गाता हैं, जिन्हें महेश्वर (शिव) से ज्ञान प्राप्त हुआ था। तदुपरान्त उन्होंने व्यास को और व्यास ने अपने पुत्र शुक को ज्ञान प्रदान किया। यह संयोग की बात है कि एक अन्य संहिता 'नारद पाञ्चरात्र' के नाम से भी उपलब्ध है। प्रस्तुत संहिता अर्थात् ज्ञानामृत

---

1. **काश्यप संहिता**, श्री यतिराज सम्पत् कुमार मुनि द्वारा प्रकाशित, मेलकोटे, 1933
2. विवरण के लिए द्रष्टव्य, डैनियल स्मिथ, **बिब्**०, भाग-1, पृ० 131 एवं आगे।

सार संहिता (1.57) में सात मतों के नाम मिलते हैं यथा—ब्रह्म, शैव, कौमार, वाशिष्ठ, कापिल (परम), गौतमीय एवं नारदीय ।

यह संहिता वस्तुतः उत्तरकालीन है और यह समग्र पाञ्चरात्र परम्परा का प्रतिनिधित्व कथमपि नहीं करती । इसमें वस्तुतः कृष्ण एवं राधा के सम्प्रदाय की महिमा वर्णित है । इस संहिता में कतिपय पारम्परिक सिद्धान्त, उदाहरण के लिए व्यूह सिद्धान्त का महत्व कम है, जबकि कतिपय अन्य पक्ष यथा—शक्ति की महत्ता, प्रबलतर है । इसके अतिरिक्त इसमें राधा सम्प्रदाय का बिकसित रूप देखने को मिलता है जो पाञ्चरात्र धारा में निमज्जित होता गया है ।

10. नारदीय संहिता[1]

केन्द्रीय संस्कृत बिद्यापीठ, तिरुपति द्वारा प्रकाशित एवं श्री राघव प्रसाद चौधरी द्वारा सम्पादित नारदीय संहिता का देवनागरी संस्करण उपलब्ध है । 'नारद' नाम से जुड़ी कतिपय अन्य संहितायें भी ज्ञात हैं, यथा—ज्ञानामृत सार संहिता को नारद पाञ्चरात्र भी कहा गया है और नारद संहिता के अंश 'मरणप्रायश्चित्त' पूजा-संग्रह की पाण्डुलिपि में उपलब्ध हैं । इसके अतिरिक्त नारदीय संहिता नाम के दो ग्रन्थ वाराणसी से प्रकाशित हैं, किन्तु वे दोनों ही ज्योतिष शास्त्र के ग्रन्थ हैं । प्रस्तुत कृति से इन ग्रन्थों का कोई सम्बन्ध नहीं है ।

पाञ्चरात्र-आगम ग्रन्थ रूप में नारदीय संहिता 30 अध्यायों में सहस्र से अधिक श्लोकों में उपलब्ध है । यहाँ भृगु ने अत्रि को वही उपदेश दिया है जो नारद ने गौतम को । इस प्रकार यहाँ जो पाञ्चरात्र-ज्ञान का अवतरण-क्रम है, वह वासुदेव→नारद→गौतम→भृगु→अत्रि तक परम्परया ज्ञात है ।

'नारदीय' की गणना कपिंजल (3.100), ज्ञानामृत सार (7.7), पाद्म (8.108), पुरुषोत्तम (3.106), मार्कण्डेय (3.91), विश्वामित्र (20.108), विष्णु तंत्र (104.154), हयशीर्ष (5.25) संहिताओं के अतिरिक्त अग्नि पुराण (2.25) एवं महेश्वर तंत्र (8.25) में हुई है । भारद्वाज (4, 94.103), विश्वामित्र (72.108) और विष्णु तंत्र (146.154 में 'नारद' नाम मिलता है । इसके अतिरिक्त अनेक पाञ्चरात्र परक ग्रन्थों में भीं इस संहिता के उद्धरण मिलते हैं । मद्रास में ग्रंथ लिपि में 'नारदीय पद्धति' नाम की पाण्डुलिपि सुरक्षित है जो संभवतः 18 अध्यायों में प्रस्तुत संहिता की टीका प्रतीत होती है ।[2]

वेदान्त देशिक ने 'नारदीय संहिता' की चर्चा की है, किन्तु वह इसी संहिता

1. **नारदीय संहिता**, केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, तिरुपति, 1970
2. डैनियल स्मिथ, **बिब्**, भाग-1, पृ० 147-148

का संकेत है, कहना कठिन है। प्रस्तुत संहिता में कतिपय सन्दर्भ बड़े ही रोचक प्रतीत होते हैं। उदाहरण के लिए एक स्थल पर लिखा है कि जहाँ पारसीक कटाः, कीकट, सिंहल हो वे स्थान वर्जनीय हैं। इसी तरह कलिंग, सिन्धुसौवीर आदि म्लेच्छ देशों विशेषकर कामरूप भी इसी कोटि के स्थान हैं। कुरुक्षेत्र आदि को बसने योग्य क्षेत्र माना गया है।[1] इसके अतिरिक्त इस संहिता में जिन नदियों, झीलों और क्षेत्रों को महत्वपूर्ण बताया गया है वे उत्तर भारत एवं दक्षिण भारत दोनों के हैं। इस संहिता के वर्ण्य-विषय के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि इसमें अनेक नवीन तत्वों का समावेश किया गया है जो अन्य संहिताओं में प्रायः नहीं है। नारदीय संहिता का वैशिष्ट्य उसके 'फल' निरूपण का है, जो एक नियतिवादी बिचार है और नितान्त नूतन भी। इसी प्रकार भगवान को मत्स्य उपहार का उल्लेख वैष्णव परम्परा के विरुद्ध है।[2] विवेच्य संहिता में शैव सम्प्रदाय के पाशुपत का उल्लेख तथा अवतारों में बुद्ध[3] का उल्लेख और वैखानसी[4] के सम्बन्ध में परस्पर विरोधी उल्लेख है।

नारदीय संहिता के रचना काल के सम्बन्ध में पर्याप्त विवाद है। वेदान्त-देशिक के पाञ्चरात्र रक्षा में उल्लिखित कतिपय नारदीय संहिता के श्लोकों के आधार पर इसका रचना काल 1269-1369 ई० कतिपय विद्वानों ने माना है। अन्तःसाक्ष्यों के आधार पर इसकी रचना तिथि आठवीं शताब्दी ई० तक मानी जाती है। वर्ण्य-विषय के आधार पर इसकी तिथि यद्यपि विवादास्पद है परन्तु आठवीं से ग्यारहवीं तक मानी जा सकती है।

---

1. पारसीकाः कटाहाश्च कीकटाः सिंहलास्तथा।
कलिंगाः सिन्धुसौवीराः म्लेच्छदेशाः प्रयत्नतः॥
वर्जनीयाः विशेषेण कामरूपान्विताताश्च ये।
एषां यद्वर्तते शास्त्रं चरित्रं तन्न चाचरेत्॥
ऋषीणां ये स्मृताः देशाः वर्णाश्रमसमन्विताः।
कुरुक्षेत्रादयः सर्वे ते वस्तव्यास्तु दीक्षितैः।

नारदीय संहिता, 11,75-77

2. चरौघृतं गुलं मुद्गं मत्स्यण्डी च तथा। **नारदीय संहिता**, 27-4

3. **नारदीय संहिता**, 5.78-82

4. **नारदीय संहिता**, 25.250-251

11. परम संहिता

(देवनागरी संस्करण बड़ौदा से 1940 में) परम संहिता[1] प्राचीन पाञ्चरात्र संहिताओं में से एक है। इसका देवनागरी संस्करण गायकवाड ओरियण्टल सीरीज संख्या 86 के अन्तर्गत बड़ौदा से 1940 में प्रकाशित हुआ था, जिसका सम्पादन एवं अंग्रेजी अनुवाद श्री एस० कृष्ण स्वामी आयंगर ने किया है।

परम संहिता 31 अध्यायों में विभक्त है और इसमें 2100 से अधिक श्लोक हैं। यह एक पूर्ण कृति है। इसे न केवल रामानुज (12वीं शताब्दी) अपितु यामुनाचार्य (10वीं शताब्दी) भी जानते थे जिन्होंने इसके उद्धरण पाञ्चरात्र-प्रामाण्य के प्रसंग में प्रस्तुत किया है। यह संहिता पाद्म (7.108 तथा 3.5), पुरुषोत्तम (23.106), मार्कण्डेय (45.91), विश्वामित्र (3.108) में परिगणित है। हयशीर्ष में भी जो सूची मिलती है उसमें इसका स्थान पांचवां है। पाञ्चरात्र-परम्परा के साहित्य में परम संहिता से बार-बार उद्धरण दिये गये हैं। इस प्रकार यह संहिता अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं प्राचीन प्रतीत होती है। संहिता में देवल-मार्कण्डेय-सम्वाद मिलता है। देवल ने मार्कण्डेय से वह ज्ञान प्राप्त किया जो मार्कण्डेय को सनक से मिला था। सनक उन तमाम ऋषियों में से एक हैं जिन्हें ब्रह्मा से ज्ञान प्राप्त हुआ था और ब्रह्मा को यह मूल ज्ञान भगवान परम से प्राप्त हुआ। यह एक विशाल कृति है और इसके वर्ण्य-विषय भी विविध हैं। सृष्टि-क्रम, पूजा -विधान, मन्त्रविधान, दीक्षा-विधान, आत्मानुशासन, सामाजिक आचरण मन्दिर से जुड़े प्रसंग इत्यादि इसके विषय हैं।

ज्ञानामृतसार के अलावा यही एक मात्र संहिता है जिसका अंग्रेजी अनुवाद उपलब्ध है।

12. पाद्म संहिता

पाद्म संहिता[1] को 'पाद्म तंत्र' भी कहते हैं क्योंकि मैसूर (सद्विद्या से) 1891 में यह संहिता पाद्म तंत्र (भाग-1) नाम से तेलगु लिपि में प्रकाशित हुई थी। इसके बाद 1927 ई० में तेलगू लिपि में ही दो भागों में मेलकोटे से पाद्म संहिता का प्रकाशन हुआ। पुनः पाद्म संहिता मैसूर से प्रकाशित हुई—इसके पहले भाग में है—ज्ञान एवं योग पाद, दूसरे भाग में क्रिया पाद और तीसरे भाग में चर्या पाद। तेलगू लिपि न जानने से हमारे लिए इन संस्करणों का महत्व नहीं। सौभाग्य से 1974 एवं 1982 में श्रीमती पद्मनाभन्, प्रो० आर०

1. **परम संहिता,** सम्पादक एस० कृष्णस्वामी आयंगर, गायकयाड ओरियण्टल सीरीज-86, बड़ौदा, 1940
2. पाद्म संहिता, मद्रास संस्करण, 1974, 1982

एन० पम्पत द्वारा संशोधित एवं सम्पादित पाद्म संहिता (दो भागों में) पाञ्च-रात्र परिशोधन परिषद् मद्रास द्वारा प्रकाशित की गयी। इसके प्रथम भाग में ज्ञान, योग एवं क्रिया पाद सम्मिलित है जबकि दूसरे भाग में चर्यापाद। पाञ्चरात्र संहिताओं में यह सबसे विशाल ग्रंथ है—सामान्य संहिता से तीन-चार अधिक पाञ्चरात्र परम्परा का समग्र वस्तुतः इसके चतुष्पादों में संकलित है। इस संहिता में 9000 से अधिक श्लोक हैं। ज्ञान पाद में 12 अध्याय, योगपाद में 5 अध्याय, क्रिया पाद में 32 और चर्यापाद में 33 अध्याय हैं। इस प्रकार प्रस्तुत संहिता में कुल 82 अध्याय हैं।[1] वस्तुतः पाञ्चरात्र परम्परा के मूल वैशिष्ट्य ज्ञान, योग, क्रिया एवं चर्या—इन चतुष्पादों में ही अभिव्यक्त हैं। इस संहिता के ज्ञान योग के प्रथम अध्याय 'शास्त्रावतरण' (ज्ञान 1.19) में चतुष्पादों से युक्त इस शास्त्र को चतुर्वर्ग के लिए फलप्रदम कहा गया है—'**चतुष्पाद-समायुक्तं चतुर्वर्गफलप्रदम्। तेन शास्त्रविधानेन समाराधय केशवम्।**' श्रेडर के अनुसार शेष आगमों की भांति एक आदर्श पाञ्चरात्र संहिता भी चतुष्पादों में विभक्त हैं।

वास्तव में अन्य संहिताओं की अपेक्षा पाद्म संहिता पाञ्चरात्र उपासकों के लिए अत्यधिक महत्वपूर्ण, अतः लोकप्रिय रही है। ध्यान देने योग्य है कि श्री वैष्णवों के चार प्रसिद्ध तीर्थ रहे हैं। श्री रामानुजाचार्य से जुड़े होने के कारण ये तीर्थ—श्रीरंगम्, तिरुपति, कांजीवरम् एवं मेलकोटे ख्यातिलब्ध हुए। श्रीरंगम् में पौष्कर से सम्बद्ध पारमेश्वर संहिता का महत्व है। तिरुपत्ति त्रैखा-नस आगम का केन्द्र है, यहां पाञ्चरात्र विधि से पूजा होती है और इसी के समान मेलकोटे (मैसूर) में ईश्वर संहिता का महत्व है। एक पांचवां केन्द्र कुम्भकोणम् है जहां श्री प्रश्न संहिता की प्रतिष्ठा है। उल्लेखनीय है कि प्रायः इन सभी केन्द्रों पर पाद्म संहिता लोकप्रिय रही है। इसका सबसे महत्वपूर्ण कारण यह है कि इसमें जो कर्मकाण्डीय विधियां वर्णित हैं वे अन्य संहिताओं की अपेक्षा अधिक वर्णित हैं। दूसरी बात यह है कि यह संहिता उत्तरकालीन विभिन्न संहिताओं को प्रभावित करती है और उनके लिए एक महत्वपूर्ण स्रोत है। स्वयं वेदान्त देशिक ने अपने ग्रन्थ पाञ्चरात्र रक्षा में इस संहिता के

---

1. पाद्म संहिता के मद्रास-संस्करण, (1974, 1982) के अनुसार प्रथम भाग (ज्ञान, योग एवं क्रिया पादों) में कुल 49 अध्याय और 3708 श्लोक हैं। जबकि द्वितीय भाग (चर्यापाद) में 33 अध्याय और 5416 श्लोक हैं। इस तरह पाद्म संहिता में कुल 9124 श्लोक हैं जो 82 अध्यायों में बिभक्त हैं।

तमाम उद्धरण दिये हैं।[1] जहाँ तक इस संहिता के रचना काल का प्रश्न है इसमें पाञ्चरात्र-परम्परा की आरम्भिक शैली का अभाव है। तात्पर्य यह है कि जो भाषा-शैली सात्वत, ईश्वर, सनत्कुमार व विष्वक्सेन जैसी आरम्भिक कृतियों में दिखाई देती है वैसी शैली पाद्म संहिता में नहीं मिलती। अतः इसे प्राचीन संहिता नहीं कहा जा सकता है। अतः यह उत्तरकालीन भी नहीं है। ऐसा लगता है कि यह पाञ्चरात्र आगम परम्परा की मध्यवर्ती कड़ी है।[2]

प्रस्तुत संहिता के व्याख्याता सम्वर्त्त बताये गये हैं, जिन्होंने 10,000 श्लोकों में ऋषियों को उपदेश दिया। यह उपदेश उन्हें पद्म से प्राप्त हुआ था और पद्म को कपिल ने एक लाख श्लोकों का उपदेश दिया था। कपिल को ब्रह्मा से पांच लाख श्लोक मिले थे और ब्रह्मा को इस परम्परा के मूल उद्गाता श्री भगवान ने सार्ध कोटि (डेढ़ करोड़) श्लोकों में उपदेश दिया था। यह मूल उपदेश ब्रह्मा→कपिल→पद्म से होते हुए सम्वर्त्त तक 10 हजार श्लोक मात्र रह गये।

13. पारमेश्वर संहिता

पारमेश्वर संहिता पौष्कर संहिता से सम्बद्ध है। यह पाञ्चरात्र आगम का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण ग्रंथ है और श्री वैष्णवों के सर्वाधिक महत्वपूर्ण केन्द्र श्रीरंगम् में इसकी उपासना होती है। 26 अध्यायों और 8700 श्लोकों में रचित पारमेश्वर संहिता[3] देवनागरी में श्री यू० वी० गोविन्दाचार्य द्वारा सम्पादित एवं श्रीरंगम् से 1953 ई० में श्री विलास प्रेस द्वारा प्रकाशित है। इसका प्रथम अध्याय जो वस्तुतः 'शास्त्रावतार' शीर्षक में है, वह ज्ञानकाण्ड कहलाता है। इसमें 113 श्लोक हैं। शेष 25 क्रियाकाण्ड का प्रर्वतन करते हैं।

पारमेश्वर संहिता (19.37´-386) में दिव्य कोटि के अन्तर्गत सात्वत, पौष्कर एवं जयाख्य, सात्विक किंतु मुनि वाक्य के रूप में ईश्वर, भारद्वाज सौमन्तवी पारमेश्वर, वैहायसी चित्र शिखण्डी, जयोत्तर के नाम, राजस् कोटिकी संहिताओं में सनत्कुमार तंत्र, पद्मोद्भव, सत्या, तेजोद्रविण एवं मायावैभविक के नाम तथा तामस प्रकार एवं पौरुष्य वाक्य के अन्तर्गत पञ्चप्रश्न, शुकप्रश्न और तत्वसागर संहिता के नाम उल्लिखित हैं। सात्वत, पौष्कर एवं

---

1. आर० एन० सम्पत, **इन्ट्रोडक्शन**, पृ० 11 (पाद्म सं०, प्रथमो भाग, मद्रास, 1974)
2. एच० डैनियल स्मिथ, **बिब्**०, भाग-1, पृ० 158
3. **पारमेश्वर संहिता**, संपादक श्री यू० वी० गोविन्दाचार्य, श्रीरंगम्, 1953

जयाख्य के नामोल्लेख अनेकत्र हुए हैं और इस संहिता में जो प्रतिमा शास्त्रीय विवरण मिलते है, वे ईश्वर संहिता-संग्रहीत हैं।

पारमेश्वर संहिता जिन विभिन्न पाञ्चरात्र संहिताओं में परिगणित है वे हैं—कपिंजल (45.100), पाद्म (47.108), भारद्वाज (46.103), मार्कण्डेय (23.91), विश्वामित्र (31.108) और विष्णुतन्त्र (75.154)। इसके अतिरिक्त दूसरे स्तर के पाञ्चरात्र ग्रंथों, यथा—उत्सव संग्रह, प्रायश्चित्त संग्रह में इस संहिता के उद्धरण मिलते हैं।[1]

पारमेश्वर संहिता सनक और शाण्डिल्य के संवादके रूप में प्रस्तुत है। प्रस्तुत संहिता के प्रवेक्षक (अंग्रेजी में : एम० कृष्ण स्वामी आयंगर तारा) से ज्ञात होता है कि इसमें 16000 श्लोक थे किन्तु दुर्भाग्य से ज्ञानकाण्ड प्रवर्तक केवल एक अध्याय है, शेष लुप्त हैं। इस संहिता के भाष्यकार श्री नृसिह सूरि पिछली शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हुए थे। उनका कहना है कि ज्ञान काण्ड उन्हीं के युग में लुप्त हुआ। सम्प्रति लगभग 8,000 श्लोक उपलब्ध हैं जिसमें स्नान, शौच, प्राणायाम, भूतसिद्धि, न्यास, योग आदि विषय वर्णित हैं। यह विवरण धार्मिक महत्व के हैं।[2]

इस संहिता में महोत्सव विधि (अ० 17) का बड़ा ही सुन्दर वर्णन हुआ है। उल्लेखनीय है कि पारमेश्वर तंत्र नामक एक अन्य ग्रंथ भी उपलब्ध है जो कि विवेच्य संहिता से भिन्न है। यह वस्तुतः वीर-शैव सम्प्रदाय का ग्रंथ है जो 23 पटलों में विभक्त पाण्डुलिपि के रूप में सुरक्षित है।[3]

14. बृहद्ब्रह्म-संहिता

वर्तमान शताब्दी के आरम्भ में बृहद्ब्रह्म संहिता के तीन संस्करण (एक तेलगू और दो देवनागरी में) प्रकाशित हुए थे किंतु वे अप्राप्य हैं। इनमें आनन्दाश्रम प्रेस, पूना से (1912 में) मुद्रित संस्करण महत्वपूर्ण है।[4] ऐसा लगता है कि यह पाञ्चरात्र परम्परा की पश्चात्वर्ती कृति है क्योंकि न तो पाञ्चरात्र संहिताओं की सूचियों में यह उल्लिखित है और न ही प्रमुख वैष्णवाचार्यों में इसकी चर्चा है। विष्णु संहिता (1.25-30) में अवश्य ही ब्रह्म संहिता (4 पाद एवं 32 अध्यायों में) उल्लिखित है। बृहद्ब्रह्म संहिता (4.10.73) में स्वयं को 'ब्रह्म संहिता' नाम दिया गया है। संभव है कि दोनों

---

1. स्मिथ, **तत्रैव**, भाग-१, पृ० 245
2. एस० कृष्ण स्वामी आयंगर, प्रीफेस : **श्री पारमेश्वर संहिता**, पृ० 4
3. डैनियल, **तत्रैव**, पृ० 262
4. **बृहद्ब्रह्म संहिता**, आनन्दाश्रम प्रेस, पूना, 1912

में एक ही कृति की चर्चा हो। यह संहिता निश्चित ही रामानुज के काल के बाद की है।[1] श्रेडर ने वृहद्ब्रह्म संहिता को एक आधुनिक कृति कहा है।[2] इस संहिता के अध्याय चार पादों में विभक्त हैं। प्रथम पाद में 13 अध्याय, द्वितीय पाद में 7 अध्याय, तृतीय में 10 अध्याय और चतुर्थ पाद में 10 अध्याय, इस तरह कुल 40 अध्याय हैं।

15. भारद्वाज संहिता

भारद्वाज संहिता[3] एक लघु कृति है। इसके दो पाठ उपलब्ध हैं। डैनियल स्मिथ द्वारा निर्दिष्ट द्वितीय पाठ महत्वपूर्ण है और यह कलकत्ता से देवनागरी में 1922 में प्रकाशित है। प्रस्तुत संहिता में 4 अध्याय हैं, जिनमें कुल मिला कर 400 श्लोक हैं। इसमें एक पवित्र श्री वैष्णव भक्त के स्वरूप और उसके आचरण की प्रशंसा की गयी है। यह संहिता सामान्य जनों के लिए भी उपलब्ध रही है। अतः पाञ्चरात्र धर्म के प्रचार की दृष्टि से महत्वपूर्ण कही जा सकती है। यह रामानुज के काल के बाद की रचना है।

इस संहिता के सभी अध्याय शीर्षक-विहीन हैं। प्रथम में प्रपत्ति पर विमर्श हुआ है और द्वितीय में पंच संस्कारों की चर्चा है। तृतीय में 'प्रपन्न' की जीवन-दृष्टि उपलक्षित, जिसका एक श्लोक उद्धरणीय है[4]—

परस्य ब्रह्मणस्तस्य विद्या व्यूहादिसंस्थितिः।
ज्ञान क्रियाः समस्ताश्च योगं चात्र फलानि च॥

इसी अध्याय में ईश्वर को समर्पित भक्त के महत्व का प्रतिपादन है। चतुर्थ अध्याय में प्रपन्न के लिए कतिपय बातों का निषेध निर्दिष्ट है और कहा गया है कि उसे ऐसा कोई कार्य नहीं करना चाहिए जो ईश्वर को अप्रसन्न करे। 'यह मत करो' 'वह मत करो',—इस तरह के निर्देश बार-बार हैं।

16. मार्कण्डेय संहिता

मार्कण्डेय संहिता का देवनागरी संस्करण केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ तिरुपति

---

1. स्मिथ, **तत्रैव**, पृ० 297-298
2. श्रेडर पूर्वोद्धृत, पृ० 19 पाद टिप्पणी **3** पर उद्धृत
3. भारद्वाज सं०, सम्पादक, पंचनदीय वेदान्त गोविन्दाचार्य मिश्र, (हिन्दी भाष्य समेत), कलकत्ता, 1922
4. **भारद्वाज संहिता**, 3.42

द्वारा प्रकाशनाधीन रहा है। यह संहिता हमें उपलब्ध नहीं हो पायी, अस्तु इसके विवरण स्मिथ की विस्तृत व्याख्या पर आधारित है। तदनुसार इसमें 32 अध्याय हैं जो 2200 श्लोकों में विभक्त हैं। द्वितीय अध्याय से चतुर्दश अध्यायों तक प्रासाद, प्रतिमा व प्रतिष्ठा आदि का विस्तृत वर्णन है। अध्याय 15-16 और 30-31 में पूजा-विधि, 21-25 में उत्सव-विधि और अध्याय 26, 29 तथा 32 में प्रायश्चित्त के वर्णन हुए हैं। 12वें अध्याय में दीक्षा-विधान पर किंचित् प्रकाश डाला गया है, लेकिन मन्त्र विधान के विवरण इस संहिता में नहीं मिलते। ज्ञान मूलक अध्याय भी इसमें नहीं है। मार्कण्डेय नाम विभिन्न संहिताओं में परिगणित हैं, यथा—कपिंजल (36.100), पाद्म (97.108), पुरुषोत्तम (1.106), भारद्वाज (38.103), विश्वामित्र (48.108) और विष्णु तंत्र (124.154)। मार्कण्डेय संहिता यद्यपि किसी भी महत्वपूर्ण आचार्य द्वारा उद्धृत नहीं है, किन्तु बाद में पाञ्चरात्रागम (एम० टी० 3257) नामक उत्तरकालीन ग्रंथ में इसके कई अध्यायों से महत्वपूर्ण उद्धरण दिये गये हैं। इस संहिता में बहुत कम अंश ऐसे हैं जो इसे प्राचीन प्रमाणित कर सकें। यह मार्कण्डेय और राजा पृथु के संवाद के रूप में प्रस्तुत है। जिस तरह नारायण ने ब्रह्मा को और ब्रह्मा ने मार्कण्डेय को उपदेश दिया था, उसी तरह मार्कण्डेय ने राजा पृथु को उपदेश दिया।

17. लक्ष्मी तन्त्र

लक्ष्मी तन्त्र का देवनागरी संस्करण पंडित वी० कृष्णमाचार्य द्वारा सुसम्पादित होकर आड्यार ग्रंथालय एवं शोध-केन्द्र द्वारा प्रथम बार 1959 में प्रकाशित हुआ, जिसका 1975 में पुनर्मुद्रण हुआ।[1] 1979 ई० में इस पाञ्चरात्र आगम पर एक शोध कार्य (लक्ष्मी तन्त्र : धर्म और दर्शन—डा० अशोक कुमार कालिया) अखिल भारतीय संस्कृत परिषद्, लखनऊ द्वारा प्रकाशित हुआ है। तदनुसार पाञ्चरात्रागमों में लक्ष्मी तन्त्र का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। पाञ्चरात्र सिद्धान्त के प्रायः सभी पक्षों का प्रतिनिधित्व करने वाला सम्भवतः अपने ढंग का यह एक ही ग्रंथ है। लक्ष्मी का वैभव प्रतिपादक शास्त्र होने के कारण इसका नाम लक्ष्मी तन्त्र है। लक्ष्मी विष्णु की शक्ति हैं। जहाँ तक इसके तन्त्र कहे जाने का प्रश्न है, इस विषय में हम अन्यत्र विचार कर चुके हैं कि पाञ्च-

---

1. **लक्ष्मी तन्त्र**, सम्पादक पं० बी० कृष्णमाचार्य, आड्यार, 1954, पुनर्मुद्रण 1975

रात्र ग्रंथों को संहिता, आगम, तन्त्र आदि अनेक रूपों में अभिहित किया गया है। पाञ्चरात्र-परम्परा अन्ततः श्री-वैष्णव परम्परा कही गई अस्तु 'श्री' अथवा 'लक्ष्मी' का वैभव सहजतया समझा जा सकता है। यह रोचक विषय है कि पाञ्चरात्र आगमों में इस एक संहिता को लक्ष्मी के नाम से जोड़ा गया है।

लक्ष्मी तन्त्र में कुल 3600 श्लोक हैं जो 57 अध्यायों में विभक्त हैं। प्रथम अध्याय से 20वें अध्याय तक ज्ञानकाण्ड का प्रवर्तन किया गया है। 21वें-33वें तक तथा 42 से 50 तक इसमें मंत्र विधान मिलता है। आश्चर्य इस बात का है कि ग्रंथ में क्रियापरक विवरण अत्यल्प है। ग्रंथ का आरम्भ पुराकथाओं के माध्यम से हुआ है। लक्ष्मी के माहात्म्य की जिज्ञासा अनुसूया को थी जिसके समाधान के लिए अत्रि ने ऋषियों की जिज्ञासा और नारद के द्वारा कही गयी उस पौराणिक कथा का वर्णन किया जिसके अनुसार महर्षि दुर्वासा ने इन्द्र को शाप दिया था जिससे वह राज्यच्युत हो गया था। पुनः लक्ष्मी की कृपा से उसे राज्य मिला। इन्द्र ने वृहस्पति के उपदेश से लक्ष्मी की प्रसन्नता के लिए तप किया था। लक्ष्मी ने जब वर मांगने को कहा तो इन्द्र ने वर के रूप में 'लक्ष्मी-महात्म्य' का ज्ञान ही मांगा। लक्ष्मी ने उसके उत्तर में लक्ष्मी तन्त्र का उपदेश दिया। इस तरह लक्ष्मी तन्त्र में प्रश्नकर्त्ता शक्र (इन्द्र) हैं तो उपदेशिका लक्ष्मी।

लक्ष्मी तन्त्र में एक स्थान पर यद्यपि चतुष्पादों (चर्या, क्रिया, ज्ञान तथा योग) की चर्चा है,[1] तथापि इसमें ज्ञान पाद को ही अधिक महत्व दिया गया है। सृष्टि-प्रक्रिया, परम तत्व, जीव, मोक्ष, मंत्र और मंत्रसिद्धि का विस्तृत वर्णन हुआ है। उपदेश परम्परा का भी यहां संकेत है। जो पाञ्चरात्र ज्ञान लक्ष्मी से इन्द्र को मिला था वह इन्द्र से ब्रह्मा तथा ब्रह्मा से प्रजापतियों को मिला। इसके आगे का क्रम टूट जाता है और पुनः एक परम्परा चलती है जो इस प्रकार व्यवस्थित की जा सकती है।[2]

---

1. चर्या पाद क्रियापादौ पादौ च ज्ञान योगयोः।
   इति नानाविधं तन्त्रं चतुष्पादोपबृंहितम्॥ **लक्ष्मी तन्त्र**, 51.2-3
2. द्रष्टव्य, कालिया, **लक्ष्मी तंत्र—धर्म और दर्शन**, पृ० 50

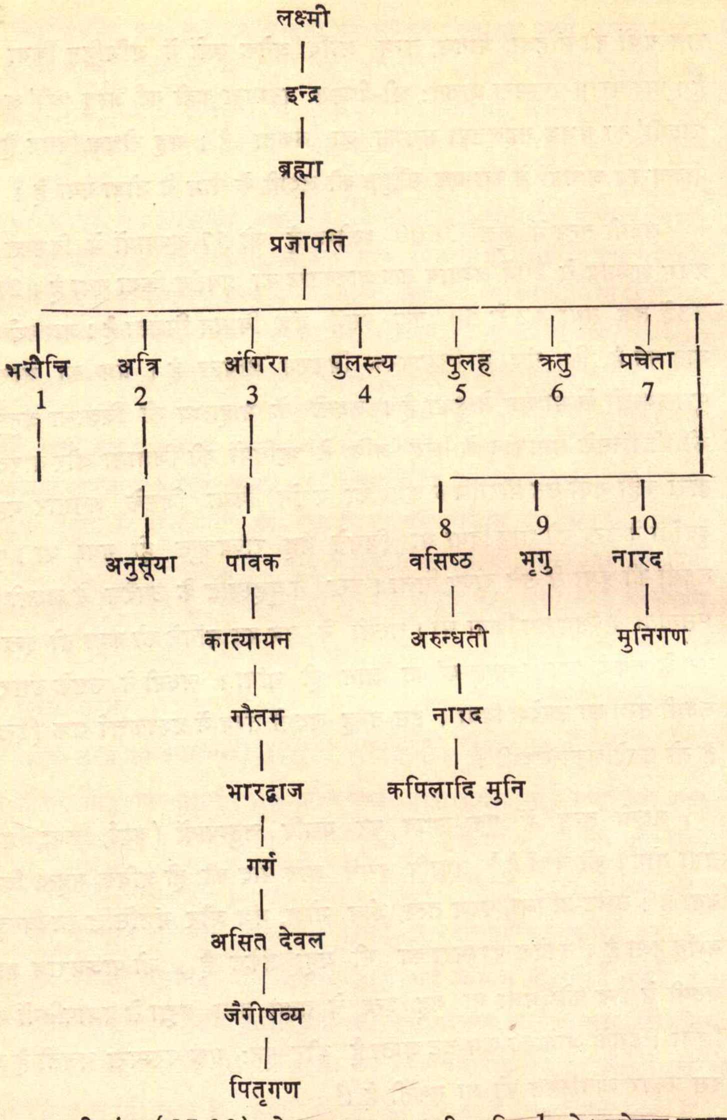

लक्ष्मी तंत्र (57·33) के अनुसार मानसी दुहिता[1] को उपदेशक बताया गया है। इसके अलावा शंकर तथा हिरण्यगर्भ भी उपदेशक रूप में प्राप्त होते

1. एकांजनानान्नपिको मानसी दुहिता च या।
सा सुतं श्रावयामास पाराशर्यं महामुनिम्॥ लक्ष्मी तंत्र, 57·33

हैं, किन्तु उक्त परम्परा में इनका कहां स्थान है ऐसा लक्ष्मी तंत्र में कुछ भी नहीं कहा गया है। अतः लक्ष्मी तंत्र का अभिप्राय एक अस्पष्ट परम्परा का उल्लेख करना ही था, ऐसा प्रतीत होता है ।[1]

लक्ष्मी तंत्र नाम विश्वामित्र (50·108) और विष्णु तंत्र (62·154) में परिगणित है। पुरुषोत्तम (30·106) में 'लक्ष्मी तिलक' का उल्लेख है जब कि विष्णु तंत्र (46·154) में 'लक्ष्मी नारायण' उल्लिखित है। ऐसा लगता है कि यहां लक्ष्मी तंत्र का संकेत है। वेदान्त देशिक और उनके समकालीन शैव आचार्य अप्पय दीक्षित ने अवश्य ही लक्ष्मी तंत्र से उद्धरण दिया है। इसके अतिरिक्त शैव आचार्य भाष्कर दीक्षित ने भी इस ग्रन्थ को पाञ्चरात्र-प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया है। 13वीं एवं 14वीं शताब्दियों के साहित्य में इसके अनेक उल्लेख मिलते हैं और उत्तरकालीन ग्रन्थों में भी इसकी चर्चा है। डैनियल स्मिथ के अनुसार यह कृति रामानुज के काल के बाद की प्रतीत होती है।[2] किन्तु डा० कालिया का निष्कर्ष इससे भिन्न है तदनुसार यह कहना अनुचित न होगा कि लक्ष्मी तंत्र की रचना 8वीं शती के उत्तरार्द्ध तथा 12वीं शताब्दी के मध्य हुई है।[3]

18. विश्वामित्र संहिता

विश्वामित्र संहिता[4] का देवनागरी संस्करण श्री उण्डेमने शंकर भट्ट द्वारा सम्पादित एवं केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, तिरुपति द्वारा 1970 में प्रकाशित है। यह संहिता 27 अध्यायों में विभक्त है जिसमें कुल 2600 श्लोक हैं। इसकी परम्परा के अनुसार विश्वामित्र ने ब्रह्मा से और ब्रह्मा ने साक्षात् नारायण से पाञ्चरात्र ज्ञान प्राप्त किया था। यह संहिता विश्वामित्र एवं कश्यप के संवाद के रूप में प्रस्तुत है। कपिंजल (59·100), पुरुषोत्तम (4·106), भारद्वाज (60·103), मार्कण्डेय (4·91) और विष्णु तंत्र (114·154) में यह परिगणित है। इस संहिता के द्वितीय अध्याय में 108 संहिताओं की सूची है जहां सातवें स्थान पर इस संहिता का उल्लेख है। पाञ्चरात्रागम एवं प्रायश्चित्त पटल जैसे दूसरे स्तर के पाञ्चरात्र ग्रन्थों में यद्यपि इस संहिता का उल्लेख है

1. कालिया, **लक्ष्मी तंत्र**—धर्म और दर्शन, पृ० 50
2. डैनियल स्मिथ, **तत्रैव**, भाग 1, पृ० 346
3. विस्तार के लिए द्रष्टव्य, कालिया, **तत्रैव**, पृ० 54-60
4. **विश्वामित्र संहिता**, संपादक श्री उण्डेमने शंकर भट्ट, केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, तिरुपति।

लेकिन किसी महत्वपूर्ण प्रारम्भिक आचार्य ने इसका उल्लेख नहीं किया है। अंततः इसे पाञ्चरात्र परम्परा के मध्य काल की रचना माना जा सकता है।

19. विष्णु संहिता

महामहोपाध्याय टी० गणपति शास्त्री द्वारा सम्पादित और त्रिवेन्द्रम् संस्कृत सीरीज संख्या 85 के अन्तर्गत 1925 में प्रकाशित विष्णु संहिता[1] का देवनागरी संस्करण अब दुर्लभ है। 30 मध्यम श्रेणी के अध्यायों में विभक्त इस संहिता में 2600 से भी अधिक श्लोक हैं। औपगायन तथा सुमति नाम के सिद्ध के बीच संवाद रूप में प्रस्तुत विष्णु संहिता अप्रकाशित पाण्डुलिपि के रूप में ज्ञात विष्णु तंत्र से भिन्न है। विष्णु तंत्र के इसी अध्याय में 154 संहिताओं की सूची मिलती है, जिसके आरम्भ में ही प्रथम संहिता के रूप में विष्णु तंत्र की गणना है तथा पाद्म (29·108) और महेश्वर तंत्र (3·25) में भी इस संहिता का नाम मिलता है और विष्णु संहिता पाद्म (96·108), मार्कण्डेय (34·91) में परिगणित है। विष्णु तंत्र में जो सूची मिलती है उसके 154 नामों में 15वां '**विष्णु नाम**' और 56वां '**सदाविष्णु**' है।

पाञ्चरात्र परम्परा के किसी भी महत्वपूर्ण आरम्भिक आचार्य ने विष्णु संहिता का उद्धरण नहीं किया है। बाद की कृतियों में अवश्य ही इसके संदर्भ मिलते हैं। विष्णु संहिता के प्रकाशित संस्करण के प्रवेशक में कहा गया है कि यह कृति तंत्र समुच्चय तथा अन्य उत्तरकालीन तंत्र ग्रन्थों का स्रोत है।[2]

इस संहिता में प्रायः सभी विषयों का विवरण है, लेकिन इसका जो स्वरूप है उससे यही लगता है कि यह पाञ्चरात्रागम परमम्परा की एक उत्तरकालीन रचना है। डा० दास गुप्ता के विचार से इस संहिता पर सांख्य दर्शन की गहरी छाप है।[3]

20. विष्वक्सेन संहिता

केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, तिरुपति के ग्रन्थ माला के अन्तर्गत 1972 ई० में प्रकाशित विष्वक्सेन संहिता[4] (सम्पादक श्री लक्ष्मी नरसिंह भट्ट) में कुल 39 अध्याय हैं। यह संभवतः अपूर्ण कृति प्रतीत होती है। मूलतः इसमें दो भाग थे। एक पूर्व एवं दूसरा उत्तर भाग। इसमें दो ग्रंथों का सम्बन्ध भी

---

1. **विष्णु संहिता,** सं० टी० गणपति शास्त्री, त्रिवेन्द्रम्, 1925
2. **विष्णु संहिता,** सं० टी० गणपति शास्त्री, त्रिवेन्द्रम्, 1925
3. **हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलासफी,** भाग 3, पृ० 23 एवं 31
4. **विष्वक्सेन संहिता,** सं० श्री लक्ष्मी नरसिंह भट्ट, तिरुपति, 1972

प्रतिबिम्बित होता है। एक विष्वक्सेन और शची पति संवाद के रूप में, दूसरा विष्वक्सेन एवं नारद संवाद के रूप में। इस संहिता में मूर्तिपूजा, प्रतिमा शास्त्र एवं प्रासाद-निर्माण सम्बन्धी बड़े ही महत्वपूर्ण सन्दर्भ हैं।[1] यह संहिता कपिंजल (53·100), पाद्म (50·108), पुरुषोत्तम (26·106), भारद्वाज (54·103), मार्कण्डेय (25.91), विश्वामित्र (28·108) और विष्णु तंत्र (69.154) में परिगणित है।

रामानुजाचार्य ने इस संहिता का उद्धरण प्रस्तुत किया है। कालान्तर में कतिपय अन्य आचार्यों ने भी इसके उद्धरण दिये हैं, यथा—पिल्लै लोकाचार्य (13वीं शताब्दी में), वेदान्त देशिक (13वीं शताब्दी के अन्त में) और वरवर-मुनि (अथवा सौम्य जामाता 15वीं शताब्दी में)। इसके अतिरिक्त उत्सव-संग्रह, पाञ्चरात्र-संग्रह, पाञ्चरात्र संहिता, पूजा संग्रह में भी इसके उल्लेख मिलते हैं। डा० दास गुप्ता ने इसे एक अत्यन्त महत्वपूर्ण तथा प्राचीन संहिता माना है।[2] डैनियल स्मिथ ने भी अपनी समीक्षा में इसे असंदिग्ध रूप से प्राचीनतर एवं पाञ्चरात्र परम्परा के अध्ययन के लिए महत्वपूर्ण संहिता स्वीकार किया है, यद्यपि उन्होंने इस बात पर बल दिया है कि इस संहिता का सम्यक् अध्ययन प्रस्तुत किया जाना अत्यावश्यक है।[3]

21. शाण्डिल्य संहिता

शाण्डिल्य संहिता[4] में कुल 3600 श्लोक हैं और 56 अध्यायों में विभक्त है और ये अध्याय चार खण्डों में विभक्त हैं—प्रथम खण्ड (भक्ति खण्ड) में 20 अध्याय, द्वितीय खण्ड में 9 अध्याय, तृतीय खण्ड में 11 अध्याय और चतुर्थ खण्ड में 16 अध्याय हैं। शाण्डिल्य संहिता कपिंजल (47·100), पुरुषोत्तम (32·106), विष्णु तंत्र (135·154), हयशीर्ष (9·25) में परिगणित है। अग्निपुराण (9·25) और महेश्वरी तंत्र (10 125) में यह संहिता पाञ्चरात्रागम सूची में उल्लिखित है। 'रहस्यत्रयसार' में वेदान्त देशिक ने शाण्डिल्य संहिता के उद्धरण दिये हैं। उत्सव-संग्रह और प्रायश्चित्त-संग्रह

---

1. विस्तृत समीक्षा के लिए द्र० डैनियल स्मिथ, **बिब्**०, भाग 1, पृ० 394-395 एवं 414-416
2. **हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलासफी**, भाग-III, पृ० 24 तथा पा० टि० 39
3. डैनियल स्मिथ, **तत्रैव** पृ० 416
4. **शाण्डिल्य संहिता** (2 भागों में) सं० पं० अनंतशास्त्री फड़के, बनारस, 1935-1936

जैसे दूसरे स्तर के पाञ्चरात्र ग्रंथों में भी इसके उद्धरण मिलते हैं। तंजौर स्थित सरस्वती महल ग्रन्थालय में सुरक्षित 'तंत्राधिकार विचार' नामक एक पाण्डुलिपि में भी शाण्डिल्य संहिता उद्धृत है।[1]

शाण्डिल्य संहिता का भक्ति-खण्ड पूर्णतः भक्ति पर आधारित है। यहां कृष्ण के भक्तिवाद का प्रभाव दिखायी देता है। कृष्ण को परम ब्रह्म से समीकृत किया गया है। इस संहिता में एक स्थान (4·15.43) पर वल्लभ की चर्चा है, अस्तु निश्चय ही यह संहिता बहुत बाद की है। डैनियल स्मिथ के बिचार से यह उत्तरकालीन पाञ्चरात्र संहिता है और इसे 16वीं एवं 17वीं शताब्दी की रचना माना जा सकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि संहिता का मूल स्वरूप प्राचीन रहा होगा और अवान्तरकालीन प्रक्षेपों से इसका विस्तार हुआ होगा। भक्ति खण्ड तो निश्चय ही पश्चात्वर्ती प्रतीत होता है।

22. शेष संहिता

मैसूर से 1935 में प्रकाशित शेष संहिता[2] के देवनागरी संस्करण में कुल 2800 श्लोक हैं, कुछ गद्यांश भी हैं। यह संहिता 64 अतिसंक्षिप्त तथा कुछ मध्यम श्रेणी के अध्यायों में विभक्त है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह पाञ्चरात्र-परम्परा के विषय में सामान्य व्यक्ति को जानकारी प्रदान करने की दृष्टि से रची गयी है। 'शेष' को 'अनन्त' भी कहा गया है। यह कृति शेष (अनन्त) एवं नारद संवाद के रूप में प्रस्तुत है और मूल प्रवचन कर्त्ता यहाँ नारायण बताये गये हैं। पाद्म, पुरुषोत्तम एवं विश्वामित्र में अनन्त नाम की संहिता का उल्लेख अवश्य है, पर शेष नाम किसी भी सूची में नहीं मिलता। यह निश्चय ही पश्चात्वर्ती संहिता है।[3]

23. श्रीप्रश्न संहिता

कुम्भ कोणम् के मंगलविलास प्रेस से 1904 ई० में ग्रंथलिपि में श्रीप्रश्न संहिता का प्रकाशन हुआ था। उसी पर आधारित श्रीमती सीता पद्मनाभन् द्वारा सुसम्पादित इसका देवनागरी संस्करण केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, तिरुपति द्वारा 1969 में प्रकाशित हुआ।[4] इस संस्करण में डा० बी० राघवन् की एक सुन्दर भूमिका भी है। प्रस्तुत संहिता में 54 अध्याय हैं, जिसमें 5500 से

---

1. स्मिथ, **बिब्**०, भाग 1, पृ० 417
2. **शेष संहिता**, मैसूर, 1935
3. डैनियल स्मिथ, **बिब्**०, भाग—1, पृ० 435
4. **श्रीप्रश्न संहिता**, सं० सीता पद्मनाभन्, तिरुपति, 1969

अधिक श्लोक हैं। इस संहिता के कतिपय प्रतिमा शास्त्रीय प्रकरण श्रीप्रश्न, सात्वत एवं ईश्वर में भी मिलते हैं। कुछ अंश पाद्म से ग्रहण किये गये प्रतीत होते हैं। एक पाण्डुलिपि के अनुसार इसमें 6700 श्लोक हैं।

श्रीप्रश्न संहिता के विषय में पाञ्चरात्र मत के आरम्भिक विचारकों को जानकारी न थी, लेकिन बाद की कृतियों यथा—उत्सव संग्रह, प्रायश्चित्त पटल और प्रायश्चित्त संग्रह आदि में इसे अत्यन्त प्रामाणिक संहिता माना गया है।

पाञ्चरात्र संहिता की जिन सूचियों में श्रीप्रश्न संहिता परिगणित है वे हैं—कपिंजल (31·100), पुरुषोत्तम (63·106), भारद्वाज (33·103), विश्वामित्र (13·108), विष्णुतंत्र (92·154), एवं हयशीर्ष 'आदिकाण्ड' (8·25)। अग्निपुराण (8·25) में भी यह परिगणित है।

इस संहिता का नाम 'श्रीप्रश्न' इसलिए है क्योंकि भगवान 'श्री' के प्रश्नों का उत्तर देते हैं।

पाञ्चरात्र प्रश्न संहिता भी उपलब्ध है, परन्तु वह प्रस्तुत कृति से भिन्न है और बहुत बाद की रचना है।

श्रीप्रश्न संहिता की सम्पादिका श्रीमती सीता पद्मनाभन् ने श्रीप्रश्न संहिता में उपलब्ध अनेकविध विषयों की सामग्री का निर्देश विभिन्न तालिकाओं में किया है, यथा—छः प्रकार के अध्व (षड्अध्वविशेषाः), चतुर्दश कुण्ड एवं उनके प्रयोजन, भगवदाराधनादिक कर्म की उपयुक्त विविध (190) मुद्रायें, भगवान के अवतार विशेष के काल आदि, विभिन्न राग, विभिन्न ताल, विभिन्न वाद्य, नृत्यविशेष, महोत्सव के आरम्भ में देवताओं के स्वरूप आदि और प्रस्तुत संहिता में उपलब्ध वैदिक मंत्रों का यथास्थान निर्देश भी तालिकाओं के माध्यम से हुआ है। इसके अतिरिक्त श्रीप्रश्न संहिता में उपलब्ध होने वाले पाद्म संहिता (क्रिया एवं चर्यापाद) तथा सात्वत संहिता के समान अंश का निर्देश भी दो भिन्न तालिकाओं में प्रस्तुत किया गया है, जिससे स्पष्ट है कि इस संहिता में सात्वत एवं पाद्म संहिताओं से बहुत कुछ ग्रहण किया गया है।

24. सनत्कुमार संहिता

आड्यार से प्रकाशित और वी० कृष्णमाचार्य द्वारा सम्पादित सनत्कुमार संहिता[1] ज्ञानामृत सार संहिता की भांति रात्रों में विभक्त है। ज्ञानामृतसार संहिता में पाञ्च रात्र हैं, जबकि प्रस्तुत संहिता में केवल चाररात्र हैं—ब्रह्म रात्र, शिवरात्र, इन्द्र रात्र एवं ऋषि रात्र। ऐसा प्रतीत होता है कि इस संहिता का

---

1. **सनत्कुमार संहिता**, सं० वी० कृष्णमाचार्य, आड्यार, 1967

पांचवा वृहस्पति रात्र लुप्त है। ऋषि रात्र (2.98) के अनुसार यह पाँचवा रात्र बृहस्पति रात्र रहा है जबकि भारद्वाज संहिता की एक कथा के अनुसार इसका नाम नाग रात्र होना चाहिए।[1]

प्रस्तुत संहिता, निश्चय ही, पाञ्चरात्र परम्परा की प्राचीन संहिताओं में से एक है। दसवीं शताब्दी के यामुनाचार्य ने अपने आगम-प्रामाण्य में इसका उद्धरण प्रस्तुत किया है। विभिन्न संहिताओं में जो सूचियां उपलब्ध हैं उनमें कहीं सनत्कुमार संहिता और कहीं महासनत्कुमार संहिता मिलता है। यथा—कपिंजल (1.100), पाद्म (2, 12.94-108), पारमेश्वर (11.17), भारद्वाज (1.103), मार्कण्डेय (50,78.91), विश्वामित्र (5 104-108) और विष्णु तंत्र (105.154) पाञ्चरात्र परम्परा के बाद की कृतियों में भी इसके उद्धरण मिलते हैं। प्रस्तुत संहिता सनत्कुमार आत्म संवाद की भाषा में इन्द्र आदि प्राचीन ऋषियों को मंत्रों, मुद्राओं, मण्डलों, दीक्षा, योग, प्रासाद, प्रतिमा-प्रतिष्ठा, एवं प्रायश्चित्त आदि विषयों पर वही प्रवचन करते हैं जो उन्हें ब्रह्मा से प्राप्त हुआ था।

25. हयशीर्ष संहिता

हयशीर्ष संहिता[2] चार काण्डों में 6500 श्लोकों में विभक्त है। इसके चारों काण्ड हैं—आदि काण्ड, संकर्षण काण्ड, लिंगकाण्ड एवं सौर काण्ड; जो क्रमशः 42, 39, 20 एवं 43 (कुल 144) अध्यायों में विभक्त है। इसका अधिकांश मन्दिर निर्माण, प्रतिमा-प्रतिष्ठा तथा तत्सम्बन्धी धर्मकृत्यों से सम्बन्धित है। आश्चर्य की बात है कि इसमें पाञ्चरात्र परम्परा में महत्वपूर्ण वैशिष्ट्य समझे जाने वाले दीक्षा मन्त्र, आचार, पूजाविधान और उत्सव आदि वर्णित नहीं हैं तथापि इसमें मन्दिर और प्रतिमा शास्त्र सम्बन्धी पर्याप्त सामग्री उपलब्ध है।

प्रस्तुत संहिता दुर्लभ है। इसका आदिकाण्ड दो भागों में वारेन्द्र रिसर्च सोसाइटी, राजशाही, से 1952-57 में देवनागरी में प्रकाशित हुआ था। इस काण्ड में लगभग 1400 श्लोक हैं। आदिकाण्ड में, उपलब्ध संस्करण के आधार पर, कुल 44 अध्याय हैं।

हयशीर्ष संहिता नाम इसके अपने आदिकाण्ड को छोड़कर अन्यत्र कहीं भी

---

1. डैनियल स्मिथ, **बिब्**०, भाग-1, पृ० 494
2. **हयशीर्ष संहिता** (आदि काण्ड), दो भागों में, राजशाही, (बांग्लादेश) वारेन्द्र रिसर्च सोसाइटी, 1952-57

परिगणित नहीं है। 'वागीश' अभिधान अवश्य पाद्म (22.108) और 'हयग्रीव' अभिधान पुरुषोत्तम (43.106), मार्कण्डेय (72.91), विष्णु तन्त्र (52.154) में परिगणित है। वेदान्त देशिक ने अपनी कृति पाञ्चरात्र-रक्षा के प्रथम अध्याय में हयग्रीव संहिता का अंश उद्धृत किया है, जिसके आधार पर यह कहना कठिन है कि हयग्रीव संहिता और हयशीर्ष संहिता एक ही है।

रोचक बात यह है कि प्रस्तुत संहिता में सामान्यत: परिज्ञात चार व्यूहों के स्थान पर नौ व्यूहों की चर्चा है।[1]

प्रस्तुत संहिता की सम्भावित तिथि आदिकाण्ड के सम्पादक ने लगभग 800 ई० माना है। उन्होंने इस संहिता की उत्पत्ति उत्तर भारतीय स्वीकार किया है। डा० एच० डैनियल स्मिथ ने आदिकाण्ड के अतिरिक्त संकर्षण, लिंग एवं सौर काण्डों के विषयानुक्रम को अपनी बिब्लियोग्राफी में दिया है, उनका विवरण आड्यार ग्रन्थालय एवं शोध केन्द्र की पाण्डुलिपि संख्या 36-ए-1 देवनागरी लिपि तथा कलकत्ता स्थित एशियाटिक सोसाइटी के पुस्तकालय में सुरक्षित पाण्डुलिपि नं० 4200 पर आधारित है। इस तरह समग्र हयशीर्ष संहिता का परिचय निम्नलिखित तीन अन्य काण्डों के अनुसार प्राप्त हो जाता है[2]—1. संकर्षणकाण्ड, 2. लिंग काण्ड, 3. सौर काण्ड।

26. भार्गव तन्त्रम्

भार्गव तन्त्र 25 अध्यायों में विभक्त है और इसमें कुल 1598 श्लोक हैं। भार्गव तन्त्र की भाषा भावाभिव्यक्ति में समर्थ और यत्र-तत्र अत्यन्त मनोहर है। प्रस्तुत संहिता अगस्त्य-परशुराम संवाद के रूप में प्रस्तुत है। प्रस्तुत ग्रन्थ में यद्यपि पाञ्चरात्र आगम से सम्बद्ध सभी विषयों की चर्चा नहीं है तथापि वर्णित बिषयों का बड़ा सुस्पष्ट विवेचन हुआ है, यही इस ग्रन्थ का अन्यतम वैशिष्ट्य है। डा० डैनियल स्मिथ ने आगम संग्रह में इस ग्रन्थ के यत्र-तत्र उपलब्ध अंशों को एकत्र करके भी इसे अपूर्ण कहा है, लेकिन उपलब्ध ग्रथ के प्रकाशित (इलाहाबाद) संस्करण में प्रस्तावनात्मक और उपसंहारात्मक भागों को देखते हुए इस ग्रन्थ की पूर्णता में सन्देह नहीं है। इसके सम्पादक डा० राघव प्रसाद चौधरी इस ग्रन्थ को मध्यम कोटि का विशिष्ट ग्रन्थ स्वीकार

---

1. **हयशीर्ष संहिता**, अध्याय 24, अ० 28-8-17 तथा अध्याय 3:
2. डैनियल स्मिथ, **बिब्**०, भाग 1, पृ० 551-552

करते हैं ।[1]

27. कपिञ्जल संहिता (तेलगु)

पिछली शताब्दी के अन्तिम दशक (1896) में तेलगु में मुद्रित कपिंजल संहिता[2] की पाण्डुलिपि के दो अन्य पाठ भी उपलब्ध हैं । सभी तेलगु लिपि में हैं। यह एक लघु संहिता है जिसमें कुल 1550 श्लोक हैं । इस संहिता में कुल 32 अध्याय हैं, जो पद्यबद्ध हैं यद्यपि 25 वें अध्याय में गद्यांश भी है ।

इस संहिता के अनुसार कपिंजल ने मार्कण्डेय से ज्ञान प्राप्त किया था । रोचक बात यह है कि मार्कण्डेय के नाम से भी एक संहिता (मार्कण्डेय संहिता) उपलब्ध है । कपिंजल एवं मार्कण्डेय दोनों ही संहिताओं में 32 अध्याय हैं और दूसरी समानता, इन संहिताओं में प्राप्त संहिताओं की सूची से प्रकट होती है। इन सूचियों में जो कुछ अन्तर है वह इस बात का सूचक है कि ये संहितायें अन्तर्प्रभावित नहीं हैं, यद्यपि यह स्पष्ट है कि दोनों संहितायें अन्त-र्प्रभावित हैं ।

ऐसा प्रतीत होता है कि यह संहिता पाञ्चरात्र संहिताओं के अन्तिम चरण की देन है। इस संहिता का किसी भी आरम्भिक संहिता में उल्लेख नहीं है। उल्लेख है भी तो बाद की संहिताओं में अथवा पाञ्चरात्र से सम्बद्ध द्वितीय श्रेणी के साहित्य—पाञ्चरात्र संहिता, उत्सव-संग्रह, प्रायश्चित्त-पटल में ।[3] जिन बाद की संहिताओं का हमने संकेत किया वहाँ उपलब्ध संहिता-सूचियों (66·106), विश्वामित्र (37·108) और विष्णु तंत्र (136·154) में इसकी परिगणना हुई है । इस संहिता की विशेष बात यह है कि इसके नवें अध्याय में ग्राम-विन्यास (Town planning) का विवरण मिलता है। आजकल जिसे हम कस्बा (Town) कहते हैं उसके लिए इस अध्याय (9· 1-3) में अनेक शब्द प्रयुक्त हैं, यथा—अग्रहार, ग्राम, नगर, पट्टण, कुम्भ-खर्वटन, खेट, केत, द्रावण, कुल, होमाभिका एवं जलवास । इस अध्याय में विभिन्न प्रकार के ग्रामों के नाम

---

1. राघव प्रसाद चौधरी उपोद्घात (भार्गव तंत्रम्, इलाहाबाद 1981) पृ०'ण', डा० चौधरी ने पाञ्चरात्र शास्त्र की तीन कोटियां निर्दिष्ट की है—कनीय, मध्यम व उत्तम। कनीय के अन्तर्गत बाद, मूल एवं उद्धार; मध्यम के अन्तर्गत—उत्तर, वृहदुत्तर एवं कल्प तथा उत्तम कोटि के अन्तर्गत संहिता, कल्पस्कन्ध तथा तन्त्र का निर्देश किया है । द्र० तत्रैव 'ट'.
2. **कपिंजल संहिता**, के० सी० वी० प्रेस, चुड्डपह, 1896
3. स्मिथ, **तत्रैव**, भाग , 1 पृ० 93

उनकी गलियों के स्वरूप के आधार पर अंकित है, उदाहरण के लिए दण्डक, स्वस्तिक, प्रस्तर, प्रकीर्णक, नन्द्यावर्त, पताक, पद्म एवं श्रोप्रतिष्ठित, कपिंजल संहिता (9·9-10)। इनमें केवल स्वस्तिक के स्वरूप का विवेचन किया गया है। कपिंजल संहिता के प्रथम अध्याय (तन्त्र पारंगत कीर्तन) में पाञ्चरात्र साहित्य की चर्चा है। यहाँ 108 संहिताओं के नाम मिलते हैं। कपिंजल मार्कण्डेय से प्राप्त पाञ्चरात्र मार्ग कश्यप को प्रदान करते हैं (9.10-11)। किन्तु प्रस्तुत संस्करण में 108 की जगह केवल 100 नाम उपलब्ध हैं (9·12-27)। इसी अध्याय में पाञ्चरात्र शब्द की गुणात्मक अर्थवत्ता व्यक्त की गयी है—पञ्च का अभिप्राय यहां पञ्चविध गुणों से है और रात्रय: का तात्पर्य जीवों से है। इस तरह जीवों के द्वारा पञ्चतत्वात्मक ब्रह्म के पञ्च विध गुणों की उपासना पांचरात्र है (1·31-32)।

28. परमपुरुष संहिता (दुर्लभ : तेलगू लिपि में 1938 में मुद्रित)

नारद-ब्रह्मा संवाद के रूप में प्रस्तुत परमपुरुष संहिता[1] 10 अध्यायों में विभक्त है। नारद ने अपने जनक ब्रह्मा से जो ज्ञान प्राप्त किया वह ब्रह्मा को पांच रात्रियों में साक्षात् भगवान से मिला था। प्रस्तुत संहिता के 10 अध्यायों के अतिरिक्त कुछ अतिरिक्त श्लोक भी मिलते हैं, इस प्रकार कुल 940 श्लोक इस संहिता में हैं। इस संहिता में एक स्थल (10·72-75) पर कहा गया है कि 1000 श्लोकों से युक्त संहिता ही सर्वोत्तम है। रोचक बात यह है कि किसी भी संहिता सूची में परमपुरुष शब्द नहीं मिलता। हां, कपिंजल (78·100) एवं भारद्वाज (78·103) में 'पुरुष' तथा पाद्म (55.108), पुरुषोत्तम (41 106), मार्कण्डेय (65·91) एवं विश्वामित्र (74·108) में 'परपुरुष' परिगणित है। डैनियल स्मिथ का कहना है कि इस बात के गम्भीर आधार हैं कि इस संहिता के उल्लेख किसी भी सूची में नहीं हैं।[2] यद्यपि स्मिथ ने कोई निर्णायक स्पष्टीकरण नहीं दिया है। स्मिथ का कहना है कि इसके सातवें अध्याय में प्रपन्न सम्बन्धी कुछ बातें छुटी हुई अथवा पहले कही हुई प्रतीत होती हैं। इसके दसवें अध्याय में महोत्सव प्रायश्चित्त का उल्लेख है जो पूजा-संग्रह और प्रायश्चित्त पटल में संग्रहीत है। इसी तरह कुछ अन्य प्रसंग भी अन्यत्र देखे जा सकते हैं।[3]

---

1. **परम पुरुष संहिता**, सं० पी० सीतारामाचार्य, भद्राचलम्, 1938
2. स्मिथ, **बिब्**, भाग 1, पृ० 181 तथा 187
3. द्र० **तत्रैव**, प्रस्तुत संहिता के जो अतिरिक्त अध्याय मिलते हैं उनसे यह समस्या उपस्थित होती है कि वे इसी संहिता के अंग हैं अथवा इस नाम की किसी अन्य संहिता के ?

29. पाराशर संहिता[1] (अप्राप्य, तेलगु, बंगलौर से 1898 में मुद्रित)

बंगलौर से पिछली शताब्दी के अन्त (1898) में तेलगू लिपि में मुद्रित पराशर संहिता 31 अध्यायों में विभक्त है। इसमें 2000 श्लोक हैं। 15वीं शताब्दी के पिल्लैलोकजिर स्वामी ने इसके 24वें अध्याय को उद्धृत किया है और इस संहिता के 22वें अध्याय में अनेक आलवारों एवं आचार्यों के नाम उल्लिखित हैं, यथा—भूत (पेयात्म), महदाह्वय (पेरियाल्वार), ह्रद या सरः (पोइहइ), नाथमुनि, पुण्डरीकाक्ष, राम, कृष्ण, वरद एवं सुन्दर (जामाता ?), शत्रुजित् आदि।[2] इससे स्पष्ट है कि इस संहिता की रचना 15वीं शताब्दी के पूर्व हो चुकी थी (अवश्य ही सुन्दर के समय के बाद)। निश्चय ही यह संहिता उत्तर-कालीन पाञ्चरात्र संहिताओं में से एक है। प्रस्तुत संहिता में पञ्च संस्कार व पञ्चकाल को आधार बनाकर पाञ्चरात्र की व्याख्या की गयी है। यह अवधारणा निश्चय ही बहुत बाद की है। पराशर, पाराशरीय अथवा अन्य पाठ विभिन्न संहिताओं में उल्लिखित हैं, जिनमें कपिंजल (10.100) पाद्म, विश्वामित्र, पुरुषोत्तम (15.103), मार्कण्डेय (24·91, 64.108 और 43.108) एवं विष्णु तन्त्र (42.108.154) उल्लेखनीय हैं।

30. पुरुषोत्तम संहिता (दुर्लभ, तेलगु, भद्राचलम्, 1932)

पुरुषोत्तम संहिता[3] का एक मात्र संस्करण तेलगु लिपि में उपलब्ध है अस्तु तेलगु न जानने वालों के लिए यह अद्यापि दुर्लभ है। प्रस्तुत संहिता में 1800 से भी अधिक श्लोक हैं जो छोटे व मध्यम श्रेणी के 33 अध्यायों में विभक्त हैं। इस संहिता अधिकांश में क्रियापरक विशेषकर पाञ्चरात्र पुरोहितों से सम्बद्ध मन्दिर विषयक वर्णन हुए हैं। इस संहिता के आधे से अधिक भाग (अ० 2-21 तक) देवालय प्रतिमाओं और उनकी प्रतिष्ठा आदि का वर्णन है। दूसरा महत्वपूर्ण विषय मन्दिरों में बराबर चलने वाले उत्सवों के सम्बन्ध में है। यह विवरण अध्याय 23 से 27 तक देखा जा सकता है और अध्याय 28-33 तक नित्य पूजा-विधान वर्णित है। दीक्षा-विधान का अतिसंक्षिप्त वर्णन है। इसके अलावा मन्त्र-विधान का यहां पूर्णतः अभाव है। इसी तरह दर्शन शास्त्रीय अथवा सम्प्रदाय से सम्बद्ध विचारों का भी अभाव दिखाई देता है।

---

1. **पराशर संहिता** (तेलगू लिपि में), बंगलोर
2. स्मिथ, **विब्**०, भाग-1, पृ० 188
3. **श्रीपुरुषोत्तम संहिता**, सम्पादक, पी० सीतारामाचार्य, भद्राचलम्, दि पब्लिकेशन आफ दि लिटरेरी प्राइड इन इण्डिया, नं० 2. ग्रन्थमालिका शाखा, 1932, कुल 198 पृ०, लिपि-तेलगू।

इस संहिता की तुलना कपिंजल व अनिरुद्ध संहिताओं से की जा सकती है।[1]

पुरुषोत्तम संहिता, कपिंजल (100.100), पाद्म (19.108), भारद्वाज (103.103), विश्वामित्र (12.108) और विष्णु तन्त्र (29.154) में परिगणित है।

प्रस्तुत संहिता के शास्त्र-प्रवचनकर्त्ता वशिष्ठ हैं। प्रारम्भ में ही वे कहते हैं कि सर्वप्रथम ब्रह्मा ने भगवान विष्णु से राजस गुण की त्रुटियों के समाधान के लिए सार्धकोटि ग्रन्थों में यह शास्त्र पाञ्च-रात्रि पर्यन्त प्राप्त किया था। इस संहिता के पहले अध्याय में ही मूलवेद, सात्वत, तंत्र, भागवत, शास्त्र, एकायन और आगम जैसे शब्द पाञ्चरात्र के पर्याय रूप में लिये गये हैं। वशिष्ठ ने पाञ्च-रात्र शास्त्र की प्रशंसा के उपरान्त यह बताया गया है कि यह ज्ञान किस प्रकार उन्हें अपने पिता ब्रह्मा से प्राप्त हुआ और किस तरह पुरुषोत्तम संहिता के रूप में उसका सार तत्व ऋषियों को प्रदान कर रहे हैं। यह संहिता कर्षण से प्रतिष्ठा तक और उत्सव से प्रायश्चित्त तक का वर्णन करती है। वशिष्ठ 108 संहिताओं की बात करते हैं।

जहां तक इस संहिता की तिथि का प्रश्न है, इसके मन्दिर विषयक विवरणों के आधार पर, कहा जा सकता है कि यह संहिता रामानुजाचार्य के काल के बाद की है। डैनियल स्मिथ इसे वेदान्तदेशिक के बाद की मानते हैं।[2]

31. विष्णुतिलकसंहिता (दुर्लभ, तेलगु, बंगलोर, 1986)

विष्णुतिलक का एक मात्र संस्करण बंगलोर से 1896 ई० में, तेलगु लिपि में प्रकाशित हुआ था। तदनुसार इसके अंतिम अध्याय में कहा गया है कि इस संहिता में 3106 श्लोक हैं लेकिन वास्तव में इसमें कुल 3500 श्लोक हैं जो 8 छोटे-बड़े अध्यायों में विभक्त हैं। व्याकरण, भाषा, शैली, छन्द, मात्रा आदि की दृष्टि से यह एक उच्चस्तरीय ग्रन्थ है। यह संहिता कपिंजल (18.100), पाद्म (6.108), पुरुषोत्तम (29.106), भारद्वाज (20.103), मार्कण्डेय (28.91) और विष्णुतंत्र (81.154) में परिगणित है।

इसके प्रथम अध्याय में ही शास्त्रावतार के वर्णन में बृहस्पति, गौतम, भारद्वाज, इन्द्र, अत्रि, च्यवन, कौशिक, शाण्डिल्य, वशिष्ठ एवं अगस्त्य के साथ अन्य देवताओं की चर्चा है जो ब्रह्मा के पास ज्ञान के लिए पहुंचते हैं। इस तरह इसका शास्त्रावतरण होता है।

1. डेनियल स्मिथ, **तत्रैव**, पृ० 263
2. **तत्रैव**, पृ० 274
3. **विष्णुतिलक संहिता**, बंगलोर बुक डिपो, 1896

संदर्भ-ग्रन्थ सूची

पाञ्चरात्र संहिताएं : (देवनागरी संस्करण)

अगस्त्य-संहिता संपा०-वैष्णवरामनारायणदास, प्रकाशक—सेठ छोटीलाल लक्ष्मीचन्द बुकसेलर, अयोध्या, मुद्रित—जैन प्रेस, लखनऊ 1898

अनिरुद्ध-संहिता संपा अ० श्रीनिवास आयंगर, प्रकाशक-संपादक स्वयं, मैसूर, 1956

अहिर्बुध्न्य-संहिता (पाञ्चरात्रागम, दो भागों में), द्वितीय संस्करण, सम्पा०-एम० डी० रामानुजाचार्य, प्रकाशक—अड्यार लाइब्रेरी एण्ड रिसर्च सेन्टर, मद्रास, 1986

ईश्वर-संहिता सम्पा०-पी० वी० अनन्ताचार्य स्वामी, सुदर्शन प्रेस, कांजीवरम्, 1923

काश्यप-संहिता सम्पा०-श्री यतिराज सम्पत कुमार मुनि, मेलकोटे, प्रकाशक सम्पादक स्वयं, कबीर प्रिंटिंग वर्क्स, त्रिपली केन, मद्रास, 1933

जयाख्य-संहिता (द्वितीय संस्करण, पुनर्मुद्रित), सम्पा०-एम्बारकृष्णमाचार्य, प्रकाशक—ओरियण्टल इंस्टीट्यूट, बड़ौदा, 1967

नारदीय-संहिता सम्पा०- राघवप्रसाद चौधरी, प्रकाशक—केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, तिरुपति, 1971

नारद-पाञ्चरात्र सम्पा०-श्रीनाथ चन्द्र शिरोमणि, प्रकाशक—सम्वाद ज्ञान रत्नाकर प्रैस, कलकत्ता, 1887

परम--संहिता अनुवादक एवं सम्पादक, एस० कृष्णास्वामी आयंगर, प्रकाशक—ओरियण्टल इंस्टीट्यूट, बड़ौदा, 1940.

पाद्म-संहिता (भाग-1), सम्पा० श्रीमती सीता पद्मनाभन तथा आर० एन० सम्पत, प्रकाशक—पाञ्चरात्र परिशोधन परिषद्, मद्रास, 1974

पाद्म-संहिता (भाग-2), सम्पा०—श्रीमती सीता पद्मनाभन् तथा डा० वी० वरदाचारी, प्रकाशक—पाञ्चरात्र परिशोधन परिषद्, मद्रास, 1982

पारमेश्वर-संहिता सम्पा०—श्री यू० के० गोविन्दाचार्य, प्रकाशक-सम्पादक स्वयं, मुद्रित—श्रीविलासम् प्रैस, श्री वंगय, 1953

पौषकर-संहिता सम्पा०—एच० एच० श्री मतिराज सम्पत कुमार रामानुज मुनि, मेलकोटे, प्रकाशक—ए० श्रीनिवास तथा एम० सी० थिरूमल चैरियर, बंगलौर, 1934

बृहद् ब्रह्म-संहिता सम्पा०—बेने गावकर शंकर शास्त्री, प्रकाशक—आनन्दाश्रम प्रेस, पूना, 1912

भारद्वाज-संहिता सम्पा०—पंचनदीय वेदान्त गोविन्दाचार्य मिश्र, प्रकाशक सम्पादक स्वयं, कलकत्ता, 1922

भार्गव.तंत्रम् सम्पा०—डा० राघव प्रसाद चौधरी, प्रकाशक—गंगानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, इलाहाबाद, 1981

मार्कण्डेय-संहिता सम्पा०—सी० वी० शेषचर्युल, प्रकाशक—देवस्थानम् प्रैस, तिरुपति, 1975

लक्ष्मी-तंत्र सम्पा०—वी० कृष्णमाचार्य, प्रकाशक—आड्यार लाइब्रेरी एण्ड रिसर्च सेन्टर, मद्रास, 1969

विश्वामित्र-संहिता सम्पा०—यू० शंकर भट्ट, प्रकाशक—केन्द्रीय संस्कृत विद्या पीठ, तिरुपति, 1970

विष्णु-संहिता सम्पा०—टी० गणपति शास्त्री, प्रकाशक—त्रिवेन्द्रम यूनि-वर्सिटी, त्रिवेन्द्रम, 1925

विष्वक्सेन-संहिता सम्पा०—लक्ष्मी नरसिंह भट्ट, प्रकाशक—केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, तिरुपति, 1972

शाण्डिल्य-संहिता सम्पा०—अनन्त शास्त्री फडके, प्रकाशक—गवर्नमेंट लाइ-ब्रेरी, बनारस, 1935-1936

शेष-संहिता सम्पा०—एल० श्री निवासाचार्य, प्रकाशक—मैसूर धर्म-संस्था, मैसूर, 1935

श्री प्रश्न-संहिता सम्पा०—श्रीमती सीता पद्मनाभन्, प्रकाशक—केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, तिरुपति, 1969

सनत्कुमार-संहिता सम्पा०—वी० कृष्णमाचार्य, प्रकाशक—आड्यार लाइब्रेरी एण्ड रिसर्च सेन्टर, मद्रास, 1969

सात्वत-संहिता (अलशिंग भट्ट) सम्पा०—ब्रजवल्लभ द्विवेदी, प्रकाशक-सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1982

हयशीर्ष-संहिता (पाञ्चरात्रम्)—प्रथम खण्ड-आदिकाण्ड, सम्पा०—पी० भुवन मोहन सांख्य तीर्थ, प्रकाशक—वारेन्द्र रिसर्च इन्स्टीट्यूट, राजशाही (बँगला देश) 1952

ज्ञानामृतसार-संहिता (नारद पाञ्चरात्रम्) सम्पा०—के० एम० बनर्जी, प्रकाशक—एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल, बिब्लोथिका इण्डिका सिरीज, भाग-38, कलकत्ता, 1865

पाञ्चरात्र संहितायें (तेलगू-संस्करण)[1]

कपिंजल-संहिता सम्पा०—राघवाचार्य एवं गोपालाचार्य, प्रकाशक—सम्पादक स्वयं एवं टी० सुब्बाराव, के० सी० वी० प्रेस, चुड्डपह्, 1896

नारायण-संहिता सम्पा०—एन० सी० रघुनाथाचार्य, श्रीभाष्य भगवद्विषयाचार्य पीठ, श्रीरंगम्, 1970

परम पुरुष-संहिता सम्पा०—पी० सीतारामानुजाचार्यायुल एवं जी० सी० श्री निवासाचार्यायुल, भद्राचलम्, 1938

पराशर संहिता सम्पा०—के० के० राघवाचार्य, प्रकाशक—सम्पादक स्वयं, वागीश्वरी प्रेस, बंगलोर, 1898

पुरुषोत्तम-संहिता सम्पा०—पी० सीतारामाचार्य, भद्राचलम्, 1933

विष्णुतिलक-संहिता सम्पा०—के० आई० राघवाचार्य एवं वाजपेयम् कृष्णशास्त्री, प्रकाशक-सम्पादक स्वयं, बंगलोर, 1896

पाञ्चरात्र सम्बद्ध वाङ्मय

आगम प्रामाण्य सम्पा०—डा० एम० नरसिंहाचार्य, ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा, 1976

उत्सव-संग्रह सम्पा०—सम्पत कुमार रामानुज मुनि, मैसूर, 1956

काश्यप-संहिता (ज्ञान काण्ड) सम्पा०—पंडित रो० भ० पार्थसारथिभट्टाचार्य, तिरुपति, 1948

तत्त्वत्रय-भाष्य बरवर मुनिकृत, सम्पा०—रामचन्द्र शास्त्री चौखम्भा, संस्कृत सीरीज, वाराणसी, 1928

तत्वत्रय लौकाचार्यकृत, वरवर मुनिकृत भाष्य संहिता, सम्पा०—रामचन्द्र शास्त्री, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, 1938

---

1. तेलगु-संस्करण के विवरण हमें डा० एच० डैनियल स्मिथ की बिब्लियोग्राफी (भाग-1) से प्राप्त हुए हैं अस्तु साभार प्रस्तुत ।

नित्योत्सव उमानन्द नाथ, सम्पा०—ए० महादेव शास्त्री, बड़ौदा, 1923

श्रीपाञ्चरात्र-रक्षा श्री वेदान्तदेशिक, सम्पा०—पं० एम० दुरैस्वामी आयंगर तथा टी० वेणुगोपालाचार्य, आड्यार लाइब्रेरी एण्ड रिसर्च मद्रास, 1967

यतीन्द्रमत दीपिका श्रीनिवासदास, श्री रामकृष्ण मठ, मद्रास, 1949

श्रीविमानार्वनाकल्प श्री स्वामीहाथी रामजी, श्री वेंकटेश्वर प्रेस, 1926

वैखानस-आगम मरीचि प्रोक्त, सं०—के० साम्ब शिव शास्त्री

वैखानस-विजय उत्तमूर टी० वीर राघवाचार्य, तिरुपति, 1963

शक्ति-संगम-तन्त्र सम्पा०—डा० वी० भट्टाचार्य तथा पं० ब्रजवल्लभ द्विवेदी, ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा

स्पन्द-प्रदीपिका उत्पल कृत, सम्पा०—वामन शास्त्री, मेडिकल हाल मुद्रणालय, काशी, 1898

सच्चरित्र-रक्षा वेंकटनाथकृत, वेदान्तदेशिक ग्रंथमाला, श्रीनिवास मुद्रणालय, श्रीरंगम्, 1941

वैदिक वाङ्मय

ऋग्वेद (क) सायण भाष्य, वैदिक संशोधन मण्डल, पूना, 1933-35

(ख) हिन्दी भाषान्तर, रामगोविन्द त्रिवेदी, प्रयाग **1954**

(ग) सुबोध भाष्य, दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, पारडी (सूरत), 1950

अथर्ववेद सुबोध भाष्य, दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, पारडी (सूरत), 1950

यजुर्वेद सम्पा०—पं० दामोदर सातवलेकर, वैदिक स्वाध्याय मण्डल, पारडी, (सूरत)

ईशोपनिषद् शांकर भाष्य सहित, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं० 2016

ऐतरेय ब्राह्मण आंग्ल-अनुवाद, यमहाग, बम्बई, 1863

कठोपनिषद् शांकर भाष्य सहित, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं० 2016

कौषीतकि ब्राह्मण ई० बी० कॉवेल, कलकत्ता, 1861

छान्दोग्योपनिषद् हरिनारायण आप्टे, आनन्दाश्रम, पूना, 1913

बृहदारण्यक-उपनिषद् शांकरभाष्य सहित, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं० 2025

महानारायण उपनिषद् द्वारिका दास शास्त्री, प्राच्य भारती प्रकाशन, वाराणसी, 1965

शतपथ ब्राह्मण सायण तथा हरिस्वामी भाष्य सहित, बम्बई, 1950

श्वेताश्वतर उपनिषद् निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, 1939

वृहद्देवता चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, 1963

महाकाव्य, पुराण एवं धर्म शास्त्र

रामायण गीताप्रेस, गोरखपुर, सं० 2017

महाभारत (क) गीताप्रेस, गोरखपुर,
(ख) श्रीपाद बेलवल्कर, भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, 1954

भगवद्गीता गीताप्रेस, गोरखपुर

अग्निपुराण सम्पा०—हरिनारायण आप्टे, आनन्दाश्रम प्रेस, पूना, 1900

गरुड़ पुराण सम्पा०—रामतेज पाण्डेय, पंडित पुस्तकालय, काशी, 1963

पद्म-पुराण सम्पा०—एम० सी० आप्टे, आनन्दाश्रम प्रेस, पूना 1893-94

ब्रह्मवैवर्त पुराण आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रंथावली

भागवत् पुराण गीता प्रेस, गोरखपुर

मार्कण्डेय पुराण सम्पा०—के० एम० बनर्जी, बिब्लिओथिका इंडिका सीरीज, कलकत्ता, 1962

वराह पुराण सम्पा०—पंडित हृषीकेश शास्त्री, कलकत्ता

वायु पुराण सम्पा०—राजेन्द्र लाल मित्र, कलकत्ता, 1888

विष्णु पुराण सम्पा०—मुनिलाल गुप्त, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं० 2014

विष्णु धर्मोत्तर पुराण वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, सं० 1969

शिवपुराण गीताप्रेस गोरखपुर

स्कन्द पुराण क्षेमराज कृष्णदास प्रेस, बम्बई, 1909

नारद-स्मृति सम्पा०—जाली, कलकत्ता, 1885

मनुस्मृति सम्पा०—पी० एच० पाण्ड्या, निर्णय सागर, प्रेस, बम्बई, 1913

याज्ञवल्क्य-स्मृति सम्पा०—वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री, बम्बई, 1926

विष्णु-स्मृति सम्पा०—एम० एन० दत्त, कलकत्ता, 1909

अन्य संस्कृत ग्रन्थ

अभिज्ञान शाकुन्तलम् कालिदास, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी

आगम मीमांसा पं० ब्रजवल्लभ द्विवेदी, श्री लाबहादुर शास्त्री के० सं० वि०, दिल्ली

कादम्बरी बाणभट्ट, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी

न्याय कुसुमांजलि आचार्य उदयन

न्याय मंजरी जयन्त भट्ट, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी

न्याय परिशुद्धि वेंकटनाथ, मद्रास, 1940

ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य

विष्णु सहस्रनाम शांकर भाष्य, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं० 2010

शारीरक भाष्य शंकराचार्य, प्रथम भाग, पं० ढुण्ढिराज शास्त्री, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, 1927

श्रीभाष्य रामानुजाचार्य, रामानुज ग्रंथमाला, कांचीपुरम्, 1956

सर्वदर्शन संग्रह चौखम्भा संस्कृत सीरीज. वाराणसी

सहायक ग्रन्थ

अग्रवाल, वासुदेवशरण **पाणिनि कालीन भारतवर्ष**, बनारस, सं० 2011

अग्रवाल, वासुदेवशरण **मार्कण्डेय पुराण : एक सांस्कृतिक अध्ययन**, हिन्दुस्तानी अकादमी, इलाहाबाद, 1961

अग्निहोत्री, प्रभुदयाल **पतंजलि कालीन भारत**, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, 1963

आयंगर, एम० के० **अर्ली हिष्ट्री आफ वैष्णविज्म इन साउथ इण्डिया**, 1920

उपाध्याय, बलदेव **पुराण विमर्श**, वाराणसी, 1978

उपाध्याय, बलदेव **वैष्णव सम्प्रदायों का साहित्य और सिद्धान्त**, चौखम्भा

कविराज, गोपीनाथ **तान्त्रिक साहित्य**, हिन्दी समिति, लखनऊ, 1992

काणे, पी० वी० **धर्मशास्त्र का इतिहास**, हिन्दी समिति, उ० प्र० लखनऊ, 1973

कालिया, अशोक कुमार **लक्ष्मी तन्त्र : धर्म और दर्शन**, अखिल भारतीय संस्कृत परिषद, लखनऊ, 1977

गोयल, श्रीराम प्राचीन भारतीय अभिलेख संग्रह, जयपुर, 1982

चतुर्वेदी, परशुराम **वैष्णव धर्म**, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली

जोशी० एम० पी० **आइक्नोग्राफी आफ बलराम**, नई दिल्ली, 1993

जायसवाल, सुवीरा **वैष्णव धर्म का उद्भव और विकास**, मैकमिलन नई दिल्ली, 1976

त्रिपाठी, गयाचरण **वैदिक देवता : उद्भव और विकास** (दो भागों में), भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, 1982

मिश्र, सच्चिदानन्द **प्राचीन भारत में ग्राम एवं ग्राम्य जीवन**, पूर्वा प्रकाशन, गोरखपुर, 1984

द्विवेदी, व्रजवल्लभ **आगम और तन्त्र शास्त्र**, परिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ली, 1984

पं० भगवद दत्त **वैदिक वाङ्मय का इतिहास**, वैदिक रिसर्च इन्स्टीट्यूट पंजाब, 1935

मिश्र, विद्यानिवास **हिन्दू धर्म जीवन में सनातन की खोज**, नई दिल्ली

विंटरनित्ज **प्राचीन भारतीय साहित्य**, दिल्ली, 1966

सिंह, हृदय नारायण **महाभारत के शान्ति पर्व में हिन्दू धर्म के प्रमुख धार्मिक एवं दार्शनिक सम्प्रदाय** (अप्रकाशित शोध प्रबन्ध) गोरखपुर, 1980

सिंह, ज्ञानप्रभा **जयाख्य संहिता : एक अध्ययन** (अप्रकाशित शोध प्रबन्ध), गोरखपुर, 1980

सहायक आंग्ल ग्रन्थ

आर्थर आल्वन **प्रिंसिपुल्स आफ तंत्राज**, मद्रास, 1969

उडरफ जान **शक्ति एण्ड शाक्त**

उडरफ जान (आर्थर आल्वन), **इन्ट्रोडक्शन टू तन्त्र शास्त्र**, **मद्रास**, 1952

कालैण्ड, डब्लू० **प्रीफेस आफ वैखानस-श्रौत सूत्रम्**, रायल एशियाटिक सौसायटी, बंगाल, कलकत्ता, 1941

खोंदा, जे० **मेडिकल रैलिजस लिट्रेचर इन संस्कृत**, बी० एस० बडेन, 1977

खोंदा, जे० **विष्णुईज्म एण्ड शिविज्म**

खोंदा, जे० **आस्पेक्ट्स आफ अर्ली वैष्णविज्म**, 1954

गोस्वामी, के० जी० **ए स्टडी आफ वैष्णविज्म**, ओरियंटल बुक एजेन्सी, कलकत्ता, 1956

चक्रवर्ती, चिन्ताहरण — **द तंत्राज : स्टडीज आन देयर रैलिजन एण्ड लिटरेचर** पुँथी पुस्तक, कलकत्ता, 1963

चट्टोपाध्याय, सुधाकर — **इवोल्युशन आफ हिन्दू सेक्ट्स**, मुन्शीराम मनोहरलाल, नई दिल्ली, 1970

दासगुप्त, एस० एन० — **ए हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलासफी**, केम्ब्रीज यूनिवर्सिटी प्रैस, 1952

पाठक, विश्वम्भरशरण — **ऐंशियेन्ट हिस्टोरियंस आफ इण्डिया**, पूर्बा संस्थान, गोरखपुर, 1981

पाठक, विश्वम्भरशरण — **हिस्ट्री आफ शैव कल्ट्स इन नार्दन इण्डिया**, अविनाश प्रकाशन, इलाहाबाद, 1980

पाठक विश्वम्भरशरण — **स्मार्त रैलिजस ट्रेडिशन**, कुसुमांजलि प्रकाशन, मेरठ, 1987

जायसी, पी० सी० — **स्टडीज इन दी तंत्राज**, यूनिवर्सिटी आफ कलकत्ता, 1936

भट्ट एस० आर० — **दि फिलासफी आफ पाञ्चरात्र**, बुटाला एण्ड कम्पनी, दिल्ली, 1980

भट्टाचार्य, हरिदास — **कल्चरल हेरिटेज आफ इण्डिया (वाल्यूशन)**, दी रामकृष्ण मिशन इन्स्टीट्यूट आफ कल्चर, कलकत्ता, स्ट्रासवर्ग, 1913

एम० नरसिंहाचारी — **आगम प्रामाण्य आफ यामुनाचार्य**, ओरियटल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदरा, 1976

श्रेडर, आफ० आफ आट्टो — **इन्ट्रोडक्शन टू दि पाञ्चरात्र एण्ड दि अहिर्बुध्न्य** सेंटर, संहिता, दि आड्यार लाइब्रेरी एण्ड रिसर्च 1916

सिंह, एम० वी० — **वेदान्त देशिक—हिज लाइफ, वर्क्स एण्ड फिलासफी : ए स्टडी**, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, 1958

स्मिथ, एच० डैनियल — **वैष्णव आइक्नोग्राफी**, पाञ्चरात्र परिशोधन परिषद्, मद्रास-5, 1916

स्मिथ, एच० डैनियल — **ए डिस्क्रिप्टिव बिबलियोग्राफी आफ दि प्रिंटेड टैक्सटस् आफ दि पाञ्चरात्रागम** वाल्यूम-1. ओरियण्टल इन्स्टी०, बड़ौदा, 1975

स्मिथ, एच० डैनियल — **ए डिस्क्रिप्टिव बिबलियोग्राफी आफ दि प्रिंटेड टैक्सट्स आफ दि पाञ्चरात्रागम**, वा०-2, ओरियण्टल इंस्टी०, 1980

सील, राजेन्द्र नाथ — **कम्परेटिव स्टीज इन वैष्णविज्म एण्ड क्रिश्च्यानिटी** कलकत्ता, 1904

कोश, व्याकरण एवं सूची-ग्रन्थ

अमर कोश — सम्पा० हरगोविंद शास्त्री, वाराणसी, 1970

उपनिषद् वाक्य महाकोश — गजानन शम्भु साधले, वाराणसी, 1940

ए कन्साइज एटीमोलाजिकल संस्कृत डिक्शनरी — एम० मेरहाफर, हेडैलवर्ग, 1956

ए डिक्शनरी आफ सलेक्ट सिनानिम्स इन दि प्रिंसिपल इण्डो-यूरोपियन लैंग्वेजैज सी० डी० बुक, शिकागो, 1949

एन्साइक्लोपीडिया आफ रेलीजन एण्ड एथिक्स, सम्पा० जैम्स हेस्टिंग्स, न्यूयार्क, 1955

दि ज्योग्राफिकल डिक्शनरी आफ ऐशियेण्ट मेडिवल इण्डिया, नन्दूलाल डे, लन्दन, 1927

धात्वर्थ विज्ञानम्, पं० भगीरथ त्रिपाठी, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

निघण्टु तथा निरुक्त, सम्पा०—लक्ष्मणस्वरूप (हिन्दी), वाराणसी, 1967

निरुक्त, दुर्गाचार्य टीका, सम्पा०—वी० के० राजवाड़े, पूना, 1921

पतंजलि महाभाष्य, सम्पा०—एफ० कीलहार्न, बम्बई, 1892

पाणिनीय पाठ एवं परिशिष्ट तथा शब्दानुक्रमणिका, एस० पाठक तथा एस० चित्राव, पूना, 1935

पाणिनीय धातुपाठ समीक्षा, पं० भगीरथ त्रिपाठी, वाराणसी, 1965

याज्ञवल्क्य शिक्षा, रामलाल कपूर ट्रस्ट, दिल्ली

व्रतकोश, सरस्वती भवन सीरीज, वाराणसी

वाचस्पत्यम्, सम्पा०—तारानाथ भट्टाचार्य, वाराणसी, 1962

वैदिक इण्डेक्स आफ नेम्स एण्ड सब्जेक्ट्स, मैकडानल एवं कीथ वाराणसी, 1958

वैदिक कोश, डा० सूर्यकान्त, वाराणसी, 1963

वैदिक-पदानुक्रम-कोश, सम्पा०—विश्वबन्धु, होशियारपुर, 1915

शब्द कल्पद्रुम, सम्पा०—राजा राधाकान्त देव, दिल्ली, 1961

संस्कृत इंग्लिश डिक्सनरी, सर मोनियर विलियम्स, नई दिल्ली, 1976

संस्कृत हिन्दी शब्द कोश, वामन शिवराम आप्टे, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी 1975

पत्र-पत्रिकायें एवं आवधिक

आरकाइब्ज आफ एशियन आर्ट
आर० के० त्रिवेदी, वाल्यूम-1, आगम कला प्रकाशन, दिल्ली, 1989
इण्डियन एंटीक्वेरी, बम्बई
इंडियन हिस्टारीकल क्वार्टर्ली, कलकत्ता
एपिग्राफिआ इंडिका, कलकत्ता एवं दिल्ली, 1842
ऐनल्स आफ द भण्डारकर रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना
जर्नल आफ इण्डियन म्यूजियम, बम्बई
जर्नल आफ यू० पी० हिस्टारिकल सोसायटी
जर्नल आफ द एशियाटिक सोसायटी आफ बंगाल, कलकत्ता
जर्नल आफ ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट, पूना
जर्नल आफ ओरियण्टल रिसर्च, मद्रास
जर्नल आफ कर्नाटक यूनिवर्सिटी
जर्नल आफ द युनिवर्सिटी आफ बम्बई
जर्नल आफ द रायल एशियाटिक सोसाइटी आफ ग्रेट ब्रिटेन एण्ड आयरलैण्ड, लंदन
जर्नल आफ इण्डियन हिस्ट्री, त्रिवेन्द्रम्
जर्नल आफ द बम्बई ब्रांच आफ रायल एशियाटिक सोसाइटी, बम्बई
जर्नल आफ बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसायटी, पटना
बुलेटिन आफ दकन कालेज रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना
भारतीय विद्या, बम्बई

शोध-पत्र

अग्रवाल, आर० सी०, **सम विष्णु स्कल्पचर्स इन द सरदार म्युजियम**, जर्नल आफ इण्डियन म्यूजियम, बम्बई-9, 1993, पृ० 104 के आगे।

आप्टे, पी० पी०, **पाञ्चरात्र-नेम एण्ड औरिजिन**, सी. ए. एस. स्टीडीज, सं० 2 पृ० 83·111 पूना, 1972

आप्टे, पी० पी०, **प्रकाशन वेद**, सेन्टर आफ ऐडवान्स स्टडीज नं० 1, पृ० 145-155. पूना, 1970-71

आप्टे, पी० पी०, **मण्डलाराधन** (डाइग्राम वर्शिप इन आगम), ज. ओ. आई., वाल्यूम नं. 22, नं. 4, पृ. 501-525, पूना, 1977

आप्टे, पी० पी०, तथा एस० जी० सुपेकर, **वास्तव पुरुष मण्डल इन द पौष्कर संहिता एण्ड बृहत्संहिता-ए कम्परेटिव स्टडी**, पृ० 5-13, दकन कालेज बुलेटिन, 1982

ग्रियर्सन, जी० ए०, **दि नारायणीय एंड द भागवताज**, ई० ए०, 1908, पृ० 251-262, 375-386

चक्रवर्ती, चिंताहरण, **मीनिंग एण्ड इटीमोलोजी आफ पूजा**, इं० ए०, 1982, पृ० 140

चौधरी, ननिमाधव, **सम आस्पेक्ट्स आफ द वर्षिप आफ नारायण**, इं० हि० क्वा०, 20, 1944, पृ. 275-284

दासगुप्त, मृणाल, **अर्ली विष्णुइज्म एण्ड नारायणीय वर्शिप**, खण्ड-7, 1931, पृ० 93-116

दांडेकर, आर० एन० **विष्णू इन दि नेम**, एफ० काने, पृ. 95-111

डे० डी० एल, **पाञ्चरात्र एण्ड दि उपनिषद्**, इं. हि. क्या., 1933, पृ. 645 एवं आगे

डे० एस० के० **ए नोट ऑन पञ्चकाल इन कनेक्शन विद पञ्चरात्र**, ज. रा० ए० सो०, 1931, पृ० 415-418

पाठक, वी० एस०, **अर्ली वैष्णव पैथियान**, ज० यू० पी० हि० सो०, 1952

बनर्जी, जे० एन० **द वर्शिप आफ साम्ब एमंग द अर्ली पञ्चरात्रिन्स**, ई० हि० क्वा०, 7, पृ० 82-90

वाजपेयी, कृष्ण दत्त, **सात्वत वैष्णव धर्म के महान स्रोत—श्रीकृष्ण**, आचार्य बलदेव उपाध्याय अभिनन्दन ग्रन्थ, गंगा नाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, 101-109, इलाहाबाद, 1983

भट्टाचार्य, बी०, **द टेन अवताराज एण्ड देयर वर्थ डेट्स**, एफ० थामस, पृ० 31-33

मिश्र, रामप्यारे, पाञ्चरात्र संहिताएं संक्षिप्त परिचय पृ. 60-64 स्मारिका नवनिर्मित वेंकटेश मन्दिर के प्रवेश द्वार का ऊपरी भाग, श्री वेंकटेश मन्दिर ट्रस्ट छिपैटी इटावा द्वारा प्रकाशित, सम्पादक—पद्म भूषण पं० श्री नारायण चतुर्वेदी, 1990

राघवन्, वी० **द नेम पाञ्चरात्र**, मद्रास

सोवानी, वी० बी०, **पाञ्चरात्र आफ भागवत शास्त्र**, ज० रा० ए० सो०, पृ० 935-961, 1911

स्मिथ, एच, डेनियल, **ए टाइपोलाजिकल सर्वे आफ डिफनिसन्स-द नेम पाञ्च-**

रात्र, जरनल आफ ओरियण्टल रिसर्च, मद्रास, वाल्यूम 34-35, पृ. 102-117, मद्रास, 1973

पाठक, विश्वम्भरशरण, **प्राचीन भारत में ग्राम-स्वराज्य**, आकाशबाणी, नई दिल्ली, 17-8.87 को पहली बार अखिल भारतीय प्रसारण

चतुर्वेदी, शैलनाथ, **ए यूनिक चतुर्व्यूह इमेज**, आर० के० त्रिवेदी फेलिसिहेशन वाल्यूम-1, आगम कला प्रकाशन, दिल्ली, 1989

श्रीनिवासन, डोरिस, **अर्ली वैष्णव इमेजरी : चतुर्व्यूह एण्ड वैरियेन्ट फार्मस**, आरकाइब्ज आफ एशियन आर्ट, 1979

स्मिथ, एच० डैनियल, **फेल्टिवल्स इन दि पाञ्चरात्र लिट्रेचर इज फैस्टिवल्स-परफार्म्स इन स्पेशल टाइम**, एडि० आई जी० आर० वेल्शन एण्ड जी० ई० योकम, नई दिल्ली, मनोहर, 1989

त्रिपाठी, एम० पी० '**भागवत पाञ्चरात्र परम्परा में चतुर्व्यूह उपासना का इतिहास**, के. पी. जायसवाल शोध संस्थान, पटना द्वारा आयोजित प्रो० अल्तेकर-प्रो० दत्त स्मारक व्याख्यान

त्रिपाठी, एम० पी० **रात्रि : व्युत्पत्ति एवं अर्थवत्ता**, (अप्रकाशित शोध-पत्र)

शब्दानुक्रमणिका

अग्रवाल, वासुदेव शरण 36, 141-42

अग्रवाल, आर० सी० 141-42

अग्निपुराण 3, 25, 80

अगस्त्य संहिता 58

अनिरुद्ध संहिता 11, 59, 64, 79, 82, 91, 92, 171-75, 184-85, 194-97, 202-04, 207, 212, 240, 241

अभिनवगुप्त 1

अमलानन्द सरस्वती 106-07

अहिर्बुध्न्य संहिता 10, 37, 58, 60, 61, 68, 73, 75, 83, 91, 105, 116, 117, 126, 144, 150-54, 194

आयंगर, श्रीनिवास 26

ईश्वर संहिता 21, 23, 38, 44, 46, 50, 52, 54-56, 58, 61, 64, 82, 86, 88, 89, 92, 93, 125, 128, 129, 132-34, 136, 153, 162, 165, 170-75, 177, 180-88, 191-92, 197-98, 201-05, 207, 209-12, 252

उदयन (आचार्य) 84

उपाध्याय, बलदेव (आचार्य) 51, 113, 135

कपिंजल संहिता 81, 96, 169, 203

काणे, पाण्डुरंग वामन 157, 158, 159

कृष्णमाचारी, वी० (पं०) 25, 105, 161, 226

कृष्णमाचार्य, ई० 31

गोविन्दानन्द 57

चट्टो उपाध्याय, सुधाकर 3, 42, 113, 154, 140

चतुर्वेदी, शैलनाथ (डॉ०) 143

चौधरी, एस० एन० 142

चौधरी, राघवप्रसाद 51

जयसवाल, के०पी० 142

जायसवाल, सुवीरा 15

जगन्नाथ 128

जयाख्य संहिता 44-47, 53-55, 59, 86-90, 118, 126, 148, 214, 216, 217, 220, 223, 225, 230, 232, 235, 238, 241, 246

जोशी, नीलकण्ठ पुरुषोत्तम 141, 142

त्रिपाठी, आर० के० 139, 142, 143

त्रिपाठी, गयाचरण 34

त्रिपाठी, माताप्रसाद 17, 191

तैत्तिरीय संहिता 81

द्विवेदी, व्रजबल्लभ (पं०) 1, 5, 21, 26, 29, 30, 35, 113, 115

देसाई, कल्पना 142

दासगुप्ता, एस० एन० 112, 113

नरसिंहाचारी, एम० (डॉ०) 107, 108, 110, 112

नाथ, उमानन्द 157

नारदीय संहिता 46, 47, 58, 65, 75, 97, 102, 121, 168, 171, 172, 175, 198, 203, 205, 224, 226, 230, 241, 244-247

पाण्डेय, राजबली (डॉ०) 249, 250

पाणिनि, महर्षि 40

पाञ्चरात्र उपनिषद् 51

पाञ्चरात्र संहिता 48, 51, 75, 83, 90

पाठक, विश्वम्भर शरण (डॉ०) 16, 34, 37, 64, 71-73, 139, 142, 157, 158, 160, 213, 249, 250

पाद्म संहिता 2, 43, 45, 50, 53, 54, 58, 64, 76, 78, 79, 90, 92, 125, 133, 135, 136, 149, 161, 162, 164-166, 168, 169, 172, 174, 176, 177, 180-182, 185, 189, 192, 194, 198, 202, 204, 217, 219, 2-2-231, 243, 245, 248

परम पुरुष संहिता 45, 169, 170, 172, 174, 177, 200

परम संहिता 43, 80, 110, 113

पराशर संहिता 58, 62, 63, 77, 119, 126, 135, 136, 180, 183, 188, 192, 194, 200, 204, 215

पारमेश्वर संहिता 12, 44, 45, 50, 54, 56, 59, 62, 64, 87, 95, 153, 161, 168, 172, 174, 176, 177, 180, 182, 189, 192, 204, 209, 214

पुरुषोत्तम संहिता 63, 77, 162, 164, 165, 168, 169, 176, 179, 180, 183, 188, 192, 194

पौष्कर संहिता 45, 46, 49, 54, 59, 62-65, 73, 76, 87, 88, 95, 108, 118, 125, 127, 156, 169, 170, 205, 238

भगवद्गीता 3, 5, 13, 33, 40, 41, 80, 81, 147, 154, 253

भण्डारकार, आर० जी०, 14, 36

भट्ट, आचार्य अलशिंग 26, 28, 30, 85, 146, 147, 152, 153

भट्टाचार्य, वी० (डॉ०) 30

भट्ट, एस० आर० (डॉ०) 110, 113

भृगु संहिता 6

भागवत पुराण 3, 4, 57, 148, 187

भारद्वाज संहिता 60, 63

महाभारत 3, 13-15, 36, 42, 55, 56, 79, 104, 110, 115, 116, 249

महोपनिषद् 114

मार्कण्डेय संहिता 44, 51, 76, 77, 92, 96, 126, 130, 133, 135, 138, 142, 171, 180, 194

मित्रा, देबाला 142

मिश्र, वाचस्पति 1, 106

मूर्ति, जी० श्रीनिवास 111

मैत्रायणी संहिता 114

यामुनाचार्य 49, 67, 99, 100, 103-05, 107, 113

रंगाचार्य 11

राघवाचार्य 6, 8

रामानुजाचार्य 7, 20, 27, 99, 100, 101, 103, 104, 105, 108-10, 174

वशिष्ठ संहिता 4

वाजपेयी, नरसिंह 8

वामन संहिता 78

वायु पुराण 140

वाराह सहिता 52

विन्तरनीत्ज (डॉ०) 2

विश्वामित्र संहिता 37, 52, 67, 75, 76, 94, 113, 117, 122, 130, 162, 163, 171-72, 176-77, , 180-81, 197, 199, 202, 204, 209, 214, 222, 223, 239

विष्णु तिलक संहिता 45, 165, 192-94, 200, 209

विष्णुपुराण 34, 67

विष्णु संहिता 43, 44, 46, 57, 59, 65, 73, 76, 81, 130, 133-35, 138, 171, 202

विष्वक्सेन संहिता 51, 59, 129, 130, 131, 133, 135, 108, 168, 172, 191, 199

विहगेन्द्र संहिता 60, 77

वोगेल कुमार, स्वामी 142

वृहद् ब्रह्मसंहिता 38, 65, 98, 119, 120, 121, 129, 137, 138, 166, 174, 189, 190

श्रीनिवासन, डोरिस 139, 141, 142

श्रीप्रश्नसंहिता 2, 37, 45, 51, 53, 67, 82, 95, 126, 165, 169, 170-74, 178-83, 186-90, 193-95, 200, 202, 208-14, 217-19, 221-25, 228-29, 231, 232-35, 241-45, 247

शंकराचार्य 16, 40, 66, 73, 84, 85, 100-04, 106-08, 110, 113, 157

शतपथ ब्राह्मण 12-14

शाण्डिल्य संहिता 12, 66, 77, 96-98, 121, 122, 190, 196, 201, 208, 209, 210, 212-13

शास्त्री, के० साम्बशिव 6-8

शास्त्री, शिवनारायण (पं०) 70

सनत्कुमार संहिता 4, 44, 46, 60, 214, 217, 220, 223-25, 241, 245, 247

सात्वत संहिता 59, 63, 68, 74, 85-87, 116-19, 142-47, 150, 152, 154, 156, 160-78, 208, 236, 237

स्मिथ, एच० डैनियल 31, 69, 170, 189, 191, 193, 251

सिंह, हृदयनारायण 249, 256

हयशीर्ष संहिता 39, 82, 126, 131, 134, 135, 138

Pratibha Prakashan
(Oriental Publishers & Booksellers)
29/5, Shakti Nagar,
DELHI-110007